दैवीमीमांसा दर्शन

४८५

श्रीदत्तात्रेय-ग्रन्थमाला पुष्प सं० ४

दैवीमीमांसादर्शन

रसपाद और उत्पत्तिपाद ।

प्रथम संस्करण २०००] [सम्वत् २०१३

पूज्यपाद भगवान् महर्षि-अङ्गिरा-विरचित

दैवीमीमांसादर्शन

रसपाद और उत्पत्तिपाद

आविष्कर्ता और भाष्यकार—

भगवत्पूज्यपाद महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज

प्रकाशक—

श्रीभारतधर्ममहामण्डल

सम्वत् २०१३] [मूल्य ३॥)

मुद्रक—
विश्वनाथ भार्गव
मनोहर प्रेस, जतनबर, वाराणसी।

विषय-सूची

रसपाद

उत्पत्तिपाद

श्रीजगन्मात्रे नमः

प्रस्तावना

जगद्गुरु श्रीभगवान् कृष्णने स्वयं कहा है कि—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योस्ति कुत्रचित् ॥

भागवत ११-२०-६

अर्थात् मनुष्योंके कल्याणके लिये मैंने ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग, ये तीन योग कहे हैं, इनके अतिरिक्त कल्याणका अन्य कोई मार्ग नहीं है। इनके अधिकारीके विषयमेंभी भगवान्ने कहा है कि—

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥

भागवत ११-२०-७-८

तात्पर्य यह है कि, जो सर्वथा सब विषयोंसे विरक्त होकर वासना-जालसे मुक्त हो चुके हैं, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं, ठीक इसके विपरीत जिनको विषय-विराग नहीं हुआ है, ऐसे सकाम व्यक्ति कर्मयोग (सकाम कर्म)-के अधिकारी हैं और जो व्यक्ति न विरक्त, न अत्यन्त विषयासक्त ही हैं तथा पूर्वजन्मार्जित शुभ संस्कारसे जिसको भगवत्कथाआदिमें श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है, ऐसा व्यक्ति भक्तियोगका अधिकारी है। इसी सिद्धान्तके अनुसार वेदकेभी ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड एवं कर्मकाण्ड, ये तीन काण्ड प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः इन तीनों मार्गोंके अतिरिक्त अन्य कोई भी मार्ग नहीं हैं, जो अपने परम प्रेमास्पद चिरसखा भगवान्से बिछुड़कर अनन्त कालसे अनन्त योनियोंमें भटकते हुए और जन्म-जरा-मरणकी अवर्णनीय

यन्त्रणाको भोगते हुए जीवको पुनः अनन्त असीम आनन्दमय करुणा-वरुणालय प्रभुके चरणोंमें पहुँचा दे। विशेषतः इस कलिकालके अल्प-शक्ति, अल्प-प्राण, मन्द-मति, अल्प आयु और अल्पमेधा मनुष्योंके लिये तो भक्ति ही एकमात्र सरल, सुगम एवं सुख-साध्य अवलम्बन है; इसमें वर्ण, आश्रम, अधिकार, अवस्थाआदिकी कोई भी अपेक्षा नहीं है, आबालवृद्ध, स्त्री, पुरुष, अन्त्यज सभीकेलिये यह समानरूपसे सुखावह एवं हितकारी है। ऐसे उपयोगी मानवमात्रका हितकारी भक्ति-योगका मार्ग प्रशस्त करनेवाला वेदके उपासनाकाण्डका दर्शन—दैवी-मीमांसादर्शन सहस्रों वर्षोंसे कालक्रमसे लुप्त हो गया था। यद्यपि सप्त ज्ञानभूमियोंका वर्णन शास्त्रोंमें उपलब्ध होता है, किन्तु दर्शन छ ही उपलब्ध थे, सातवाँ दर्शन—उपासना-मीमांसा अबतक अप्राप्य था। श्रीभारतधर्ममहामण्डल, श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद्, श्रीविश्वेश्वर ट्रस्ट श्रीमहामाया ट्रस्ट आदि अनेक संस्थाओंके संस्थापक हमारे परमाराध्य भगवान् गुरुदेव परमहंस परिव्राजकाचार्य भगवत् पूज्यपाद योगीन्द्र श्री १००८ महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजश्रीका ध्यान इस दार्शनिक महान् अभावकी ओर आकर्षित हुआ। पूज्यपाद श्रीजीने अपने समाधियोगसे भक्तियोगके आचार्य महर्षि अङ्गिरासे इसे पुनः प्राप्त किया, एवं जनसाधारणके कल्याणकेलिये इसके ऊपर उन्होंने स्वयं राष्ट्रभाषा हिन्दीमें सरल प्राञ्जल विशद भाष्यकी भी रचना की, जिससे सभीके लिये यह दर्शन सुबोध हो गया है।

'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' के अनुसार अनेक आसुरी बाधाओंके कारण यह अमूल्य ग्रन्थ अबतक प्रकाशित नहीं हो सका था; महिषासुरमर्दिनी श्रीजगन्माताकी असीम अनुकम्पासे इस ग्रन्थका यह प्रथम खण्ड प्रकाशित हुआ।

यह ग्रन्थ रसपाद, उत्पत्तिपाद, स्थितिपाद, और लयपाद नामक चार पादोंमें विभक्त है। प्रथम दो पादोंका यह प्रथम खण्ड ज्ञानपिपासु भक्तों-

के कल्याणके लिये प्रकाशित किया जाता है। स्थिति एवं लय इन दो पादों-का दूसरा खण्ड भी यन्त्रस्थ है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

इस प्रथम खण्डके दो पादोंमेंसे प्रथमपादमें परमात्माका स्वरूप भक्तिका लक्षण, भक्तिके भेद, रागात्मिका भक्तिके अधिकारी, भाग्यवान् भक्तका लक्षण, सप्तज्ञानभूमि, सप्त अज्ञानभूमियोंका वर्णन, सप्त मुख्य तथा सप्त गौण रसोंका लक्षण, भक्तिकी महिमा, पराभक्तिकी श्रेष्ठता, भक्ति-में सबका समान अधिकार, भक्तिका फलआदि विषयोंका सरल सुन्दर विवेचन है। इसके दूसरे उत्पत्तिपादमें शक्ति एवं शक्तिमान्की अभिन्नता, सृष्टिका स्वरूप, मनुष्येतर योनियोंकी संख्या, मुक्ति एवं बन्धन, ब्रह्म एवं ईश्वरकी अभिन्नता, पिता, काल, महाकाल माता एवं जन्म-भूमिआदि भगवान्की विभूति, इनकी महिमा, सृष्टि एवं लयमें मन एवं बुद्धिका कारणत्व, सृष्टिके भेद, मनुष्यपिण्डकी स्वतन्त्रता, त्रिविध-शुद्धि, परम पुरुषकी निर्लिप्तता, ऐश्वर्यके भेद, समर्पणका फल, प्रसाद-की महिमा, अपराधके भेद, पतनके कारण, भक्तिकी उन्नतिके लक्षण-के विषयमें महर्षियोंके विभिन्नमत, भगवद्भक्तिमें माहात्म्यज्ञानकी अपेक्षा आदि विषयोंका विशद विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थके सम्यक् अध्ययनसे भक्तिके विषयमें कुछ भी ज्ञातव्य अवशेष नहीं रहता है।

भगवान् रसरूप अर्थात् प्रेमरूप हैं, जीव उन्हींका अंश होनेसे इसमें भी वह भगवद्रस विद्यमान है। परन्तु अविवेकके कारण मनुष्य अपने अन्तःकरणके इस प्रेमरसको संसारके क्षणभंगुर एवं सतत विनाशशील अनित्य स्त्री-पुत्र, स्वजनआदिके प्रति नियोजित करता है, और उनके संयोगसे सुखी तथा वियोगसे बार-बार असह्य दुःख-यन्त्रणा-का अनुभव करता रहता है। पूर्वजन्मोंके पुण्य-उदयसे जब संसारके इन आत्मीय स्वजनोंके सम्बन्धको असार एवं दुःखद जानकर अपने

अन्तःकरणके रसरूपी श्रोतस्विनीको अपने परम प्रेष्ठ सदा एक रस, अजर, अमर, जिनके संयोगका कभी वियोग नहीं होता, जिनका मिलन अनन्त है, उन परम प्रेममय भगवान्‌की ओर प्रवाहित करता है, तो वही भक्ति नामसे अभिहित होती है।

भगवत्प्रेममें उन्मज्जन-निमज्जन कराते हुए भक्त एवं भगवान्‌का अनन्त मिलन कराना इस दर्शनका उद्देश्य है। आशा है, भगवद्रसके रसिकगण इससे लाभ उठावेंगे और अपने मनुष्यजीवनको धन्य करेंगे।

काशी-धाम
देवोत्थान एकादशी
सम्वत् २०१३

श्रीगुरुदेव श्रीपादपद्माश्रिता—
विद्यादेवी

इस ग्रन्थके आविष्कर्ता—

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके संस्थापक एवं संचालक—

भगवत्पूज्यपाद श्री ११०८ महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज

आविर्भाव भाद्र कृष्ण ८ सम्वत् १९०२

तिरोभाव माघ कृष्ण ५ सम्वत् २००७

ॐ परमात्मने नमः

दैवीमीमांसादर्शन

भाष्यभूमिका

—०॰०—

यो नित्यो निर्विकारः प्रकृतिरपि पुमान् निर्गुणः सद्गुणश्च ।
भात्येकोऽनेकरूपो विविधतनुतया कारणात् कार्य्यतश्च ॥
आनन्दाब्धौ रसात्मा निरवधिरस्त्रिकान् भक्तियुक्तान् मुमुक्षून् ।
मग्नांकुर्य्यात्तमीशं श्रय इह परमं भक्तिभावैकगम्यम् ॥
सतत्रिकालज्ञगुरोः कृपाकणम्, भक्त्या अवाप्याङ्गिरसः कृतार्थताम् ।
भेजुर्मुहुस्तत्पदपङ्कजं स्मरन्, विधास्यते भाष्यमिदं यथामति ॥

अर्थात् "जो नित्य निर्विकार एक और विभु हैं, जो चेतन और जड़ एवं पुरुष और शक्ति हैं, जो निर्गुण होनेपर भी सगुण हैं, जो एक होकर भी कारणसे कार्य्यब्रह्मपर्य्यन्त बहुभावोंसे प्रतीयमान हैं, जो जगत्‌की कल्याणकामनासे आद्य और अद्वितीय-रूप परित्याग करके नाना शरीर और रूपोंसे वर्त्तमान हैं, उसी रसके सागर सच्चिदानन्दमय परब्रह्म परमात्माको भक्तिभावसे वारम्बार प्रणाम करता हूँ । जो रसरूप होकर रसभाव-परिप्लुत और भक्तियुक्त मुमुक्षुगणको निरन्तर परमानन्दसागरमें उन्मज्जित

और निमज्जित करते करते अन्तमें स्वस्वरूप करदेते हैं, उनको पुनः पुनः अभिवादन करता हूँ"। "त्रिकालदर्शी परमकरुणामय सर्वज्ञ और मानवोंके आदिगुरु महर्षि अङ्गिरा, जिनके करुणा-सिन्धुका विन्दुमात्र प्राप्त होकर ही जीवगण देवदुर्लभ निःश्रेयस लाभ करनेमें समर्थ होते हैं, उन्हींके ही श्रीपदारविन्दका ध्यान करते हुए उनके ही पदचिन्हके अनुसरणपूर्वक यथाशक्ति इस भाष्यके प्रणयनमें प्रवृत्त होता हूँ।"

"आत्मेत्येवोपासीत" "तदात्मानमेवावेत्" "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" अर्थात् आत्माकी ही उपासना करना उचित है, आत्माका ही ज्ञान होना उचित है, क्योंकि आत्माको जानने पर ही मृत्युभय दूर हो जाता है। इन सब श्रुतिवचनसमूहकी चरितार्थता सम्पादनके अर्थ सिद्धान्त किया गया है कि, परस्पर सम्बन्धयुक्त वैदिक सप्तदर्शनविज्ञान अध्यात्मराज्यमें प्रवेश करनेवाले मुमुक्षुओंके लिए दिव्य नेत्रस्वरूप हैं।

इस स्थावर जंगमात्मक विशाल संसारमें प्रथमतः जीव उच्च-निम्न अगणित उद्भिज्ज पिण्डोंमें प्रवेश करके, पीछे स्वेदजोंके अगणित पिण्डोंमें प्रवेश करता है। तदनन्तर प्रकृतिमाताके अनुग्रहसे पुनः क्रमोन्नति लाभ करता हुआ अण्डजोंकी अनेक योनियोंको प्राप्त होता है। इसप्रकार जीव क्रमशः जरायुज योनिको प्राप्त होकर अन्तमें मानवदेहको प्राप्त होता है। किन्तु मनुष्यशरीर लाभ करके भी जीव जन्ममरणरूपी कठोर दुःखके चक्रको अतिक्रमण नहीं कर सकता। अधिकन्तु वासनाजालमें विजडित होकर जन्म-

मरणरूप संसारप्रवाहमें स्थायीरूपसे प्रवाहित होता रहता है। केवल उपासनाद्वारा आत्मसाक्षात्कार लाभ होनेसे ही जीव परमानन्दरूप मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। यही उल्लिखित श्रुतिसमूहकी चरितार्थता है। श्रीभगवत्सान्निध्यप्राप्तिके उपाय-विशेषका नाम ही उपासना है। दैवीमीमांसा अर्थात् उपासनामीमांसाशास्त्रके अनुसार यही सिद्धान्त निश्चित हुआ है कि, योग-साधनके वलसे चित्तवृत्तिनिरोधपूर्वक अन्तःकरणके विघ्नोंसे वचता हुआ साधक भक्तिके अमृतमय प्रभावसे प्रभावित होकर अन्तर्जगत्में प्रवेश करता है और क्रमशः भगवत्सान्निध्य लाभ करता हुआ आत्मज्ञान प्राप्त करके निर्वाणपदको प्राप्त करता है। श्रीगीतोपनिषद्में स्वयं भगवान्ने आज्ञा की है कि—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन !।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवाऽनुत्तमां गतिम् ॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

श्रीगीतोपनिषद्।

अर्थात् "हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन, सुकृति व्यक्तिगण मेरा भजन करते हैं परन्तु सुकृतके तारतम्यके अनुसार वे चार प्रकारके हैं।

यथा :—आर्त्त अर्थात् रोगादिजनित दुःखसे पीड़ित, जिज्ञासु अर्थात् जिनमें भगवान्‌के जाननेकी इच्छा होती है, अर्थार्थी अर्थात् परमार्थरूपी मुक्तिपदका इच्छुक एवं ज्ञानी अर्थात् आत्मज्ञानवान्। ये चार प्रकारके सुकृतशाली व्यक्ति मुझको भजन करते हैं। उक्त चार प्रकारके भक्तोंमें सर्वदा मेरेमें निष्ठावान् और एकमात्र मेरेमें ही भक्तिविशिष्ट ज्ञानी भक्त ही श्रेष्ठ है। क्योंकि मैं ज्ञानी भक्तका अतिशय प्रिय हूँ और वह भी मेरा प्रिय है। (ज्ञानियोंका देहादिमें अहंबुद्धिका अभाव होनेके कारण उनका चित्त-विक्षेप नहीं होता है, इस कारण वे ही नित्ययुक्त और अनन्यभक्त हो सकते हैं। दूसरे नहीं हो सकते।) ये चार प्रकारके भक्त ही महान् हैं, किन्तु ज्ञानी भक्त मेरा ही स्वरूप है। क्योंकि मदेकचित्त उस ज्ञानी भक्तने सर्वोत्कृष्ट गति स्वरूप मेरा ही आश्रय लिया है। भक्तगण बहुत जन्मोंके बाद ज्ञानवान् होकर "वासुदेव ही यह जगत् है" सर्वत्र इस प्रकारकी आत्मदृष्टि द्वारा मुझको परिज्ञात करते हैं। वैसे महात्मा दुर्लभ हैं। कर्म्मकाण्डकी सहायतासे आधिभौतिकशुद्धि लाभ करके उपासनाकाण्डद्वारा आधिदैविकशुद्धि लाभानन्तर ज्ञानीभक्त परमात्माको "ब्रह्म ही जगत् है" इस भावसे दर्शन करके उल्लिखित भगवद्वाक्यकी चरितार्थता सम्पादन किया करते हैं। अपौरुषेय वेदके उपासनाकाण्डकी पुष्टिके अर्थ पूज्यपाद महर्षि अङ्गिरा द्वारा इस दर्शनविज्ञानका प्रकाश हुआ था। उसके अनन्तर महर्षि शाण्डिल्य एवं भगवान् शेष आदि द्वारा भी यह दर्शनविज्ञान प्रकाशित हुआ था।

उन्नत ज्ञानसम्पन्न मनुष्य जब अन्तर्राज्यमें प्रवेश करता है, तब दार्शनिक नेत्रोंकी सहायता बिना कदापि वह गम्य-स्थानपर जानेमें समर्थ नहीं होता। वेद अभ्रान्त हैं इसीकारण वैदिकविज्ञान भी सर्वाङ्गसम्पूर्ण और सुन्दर है, एवं निर्दिष्ट विभागोंमें विभक्त है। सप्तज्ञानभूमिके अनुसार वैदिकदर्शन भी सात हैं। इस सात ज्ञानभूमियोंके नाम और लक्षण पूज्यपाद महर्षिगण द्वारा इस प्रकारसे उक्त हुए हैं—

ज्ञानदा ज्ञानभूमेर्हि प्रथमा भूमिका मता।
संन्यासदा द्वितीया स्यात्तृतीया योगदा भवेत्॥
लीलोन्मुक्तिश्चतुर्थी वै पञ्चमी सत्यदा स्मृता।
षष्ठ्यानन्दप्रदा ज्ञेया सप्तमी च परात्परा॥
यत्किञ्चिदासीज्ज्ञातव्यं ज्ञातं सर्वं मयेति धीः।
प्रथमो भूमिकायाश्चानुभवः परिकीर्तितः॥
त्याज्यं त्यक्तं मयेत्येवं द्वितीयोऽनुभवो मतः।
प्राप्या शक्तिर्मया लब्धाऽनुभवो हि तृतीयकः॥
मायाविलम्भितं चैतद् दृश्यते सर्वमेव हि।
न तत्र मेऽभिलापोऽस्ति चतुर्थोऽनुभवो मतः॥
जगद्ब्रह्मेत्यनुभवः पञ्चमः परिकीर्तितः॥
ब्रह्म एव जगत् षष्ठोऽनुभवः किल कथ्यते।
अद्वितीयं निर्विकारं सच्चिदानन्दरूपकम्॥
ब्रह्माहमस्मीति मतिः सप्तमोऽनुभवो मतः।
इमां भूमिं प्रपद्यैव ब्रह्म सारूप्यमाप्यते॥

ही सचेतना होकर सृष्टि स्थिति और प्रलय कार्य किया करती है।"

"आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज !।
सृजन्रक्षन्हरन्विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम्" ॥

"स्वं देवशक्त्यां गुणकर्मयोनौ
रेतस्त्वजायां कविरादधेऽजः"।

दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्
आधत्त वीर्यं साऽसूत महत्तत्वं हिरण्मयम् ॥

"गुणमयी मायाके भीतर प्रवेश करके ब्रह्म ही सृष्टि-स्थिति-प्रलय कार्य किया करते हैं। जन्मरहित परमात्मा स्वकीय शक्ति-रूपा गुणमयी अजाप्रकृतिमें चेतनसत्ताका सन्निवेश करते हैं"। समष्टि व्यष्टि सम्बन्ध युक्त पूर्वसंस्कारके अनुसार स्पन्दनधर्मिणी प्रकृतिमें जब सृष्टिकी सूचना होती है तब परमात्मा उस प्रकृतिमें अपनी चेतनसत्ताको प्रदान करते हैं जिससे सृष्टिका विकास हुआ करता है। परमात्माको आनन्दरूप कैसे अनुभव कर सकते हैं, इसका विचार ऊपर किया गया है। परन्तु यदि यह शंका हो कि ब्रह्मको सच्चिदानन्दस्वरूप कहा है, अतः इस दर्शनमें एकमात्र आनन्दरूपसे ही आत्माको क्यों लक्षित किया गया है ? इस प्रकार-की शंकाका समाधान यह है कि, इस दर्शनशास्त्रमें सृष्टिके स्वरूप और उसके कारणका अच्छी तरह अन्वेषण किया गया है। जिसके द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि आनन्दानुभवके लिए ही चित्से सत्का और सत्से चित्का अनुभव प्राप्त होकर क्रियाकी उत्पत्ति होती है। यही सृष्टि-विस्तारका मौलिक विज्ञान है। अतः

इस मौलिक सिद्धान्तके अनुसार इस दर्शनशास्त्रमें आनन्दके लक्ष्यसे ही आत्माको लक्षित कराना स्वतः सिद्ध है। दूसरी ओर ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृति 'अहं ममेतिवत्' जब सम्बन्ध युक्त है, तो गायक और उसकी गानशक्तिके उदाहरण पर वह ब्रह्म सच्चिदानन्दमय होकर आनन्दमय और उनकी प्रकृति शक्तिरूपिणी होनेसे उभय स्वरूपके स्वानुभव-प्राप्तिके निमित्त जड़ा कही जा सकती है॥ २॥

रस और जड़का तत्त्व स्पष्टतर करनेके लिये लक्षणका निर्देश किया जाता है—

रस ज्ञानस्वरूप और जड़ अज्ञान स्वरूप है॥ ३॥

रस ज्ञानात्मक है और जड़ अज्ञानात्मक है। आनन्दरूप परमात्माकी आनन्दसत्ता जगत्में सर्वत्र विद्यमान होनेसे उस आनन्दकी प्राप्ति जीवको दो प्रकारसे होती है, एक प्रकृतिपर प्रतिविम्वित आनन्द और एक साक्षात् चिदानन्द। प्रकृतिपर प्रतिविम्वित जो आनन्द है, वह वास्तविक आनन्दकी छायामात्र है इसको सुख कहते हैं। और प्रकृतिके परपारमें स्थित जो शुद्ध आनन्द है उसको आनन्द कहते हैं। श्रुति और स्मृतिमें कहा है—

"एषोऽस्य परमानन्द एतस्यैवानन्दस्याऽन्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।"

"अथात्र विषयानन्दो ब्रह्मानन्दांशरूपभाक्।

रसो ज्ञानरूपो जड़स्त्वज्ञानरूपः॥ ३॥

किसी अंश विशेषपर दोषारोपण करे, यहाँ तक कि, विशेष विशेष सिद्धान्त पर्य्यन्त खण्डित करे, तौ भी उससे कोई क्षति नहीं हो सक्ती। पक्षान्तरसे जिस ज्ञानभूमिकी प्राप्तिके अर्थ विज्ञान कहा जाता है, उस विज्ञानकी दृढ़ता और श्रेष्ठता ही सम्पादित होती है। किन्तु तौ भी इस दर्शनमें इस प्रकार कोई भी खण्डन-मण्डन-प्रणाली अवलम्बित नहीं हुई है। सुतरां इस दर्शनशास्त्रकी सार्व-भौमदृष्टि अवश्य ही सर्वथा महत्त्वपूर्ण है।

सकल शास्त्रोंका ही सर्ववादिसम्मत सिद्धान्त यह है कि, "ब्रह्माद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मारका न तु कारकाः॥" "ब्रह्मा आदिसे आरम्भ करके ऋषि महर्षि पर्य्यन्त सबही शास्त्र-समूहके स्मरणकरने वाले हैं, उनके प्रणेता नहीं हैं"। पूज्यपाद महर्षिगण नित्यस्थित ज्ञानराज्यसे अभ्रान्त वैदिक शास्त्रसमूहका केवल आविष्कार करते रहते हैं। चक्रायमाण कालके तीव्रनिष्पेषणसे किसी-किसी शास्त्रका आविर्भाव और किसी-किसी शास्त्रका तिरोभाव हुआ करता है और किसी शास्त्रीय ग्रन्थका ऋषियोंके द्वारा ही आविष्कार होता है।

महर्षि जैमिनि और महर्षि भरद्वाज प्रभृतिद्वारा आविष्कृत कर्म्ममीमांसादर्शनके आश्रयग्रहण किये विना जिसप्रकार विचित्र विशाल अथच दुरूह कर्म्मरहस्य हृदयङ्गम नहीं किया जा सक्ता, उसी प्रकार भक्तिशास्त्र दैवीमीमांसादर्शनके विज्ञानको हृदयंगम करनेमें असमर्थ होनेपर, चाहे किसी भी सम्प्रदायका उपासक क्यों न हो, वह अपने अधिकारके अनुसार सफलता-लाभ

करनेमें समर्थ नहीं होता; और न सूक्ष्म दैवीराज्यका महत्त्व और न उसकी लोकातीत व्यवस्था ही समझ सकता है। अधिकन्तु स्वाधिकारप्राप्तिके विषयमें भग्नमनोरथ होकर विषाद-ग्रस्त हो पड़ता है। दैवीमीमांसादर्शनके रहस्यको न समझकर साम्प्रदायिक उपासकगण पथभ्रष्ट होनेके कारण कभी तो कर्म-मार्गमें जाकर अधिकारविरुद्ध आचरण करते हैं और कभी ज्ञानमार्गमें जाकर अनधिकारचर्चामें प्रवृत्त होते हैं। पक्षान्तरसे अपनी आध्यात्मिकउन्नतिके मार्गमें अपने हाथसे ही कण्टकरोपण करते हैं। सुतरां ऐसी अवस्थामें उस समय वे "इतो नष्टास्ततो भ्रष्टाः" होते हैं। अतएव कर्म्मसीमांसा जिसप्रकार सकल शाखा एवं सम्प्रदायोंके हो कल्पसूत्र और स्मार्त्तानुशासनकी परम सहाय-भूता है, उसीप्रकार दैवीमीमांसादर्शन भी सकल प्रकारके उपासक-सम्प्रदायोंका परम आश्रय स्वरूप है, यह निःसन्देह है।

वेदके काण्डत्रयके अनुसार मीमांसात्रय भी परस्पर घनिष्ठ सम्बन्धयुक्त है, सुतरां मीमांसात्रयकी ज्ञानभूमियाँ भी परस्पर नैकट्यभावसे सम्बद्ध हैं; किन्तु इन तीनोंके पुरुषार्थमें यथेष्ठ भेद-भाव है। कर्ममीमांसादर्शन कर्म्मको ही मुक्तिका साधन कहता है, दैवीमीमांसादर्शन भक्तिको ही मुक्तिका उपाय कहकर वर्णन करता है और ब्रह्ममीमांसा या वेदान्तदर्शन ज्ञानको ही मुक्तिका एकमात्र कारण कहकर प्रतिपन्न करता है। इसप्रकार नाना ज्ञानभूमियोंके विज्ञानके अनुसार पुरुषार्थकी भिन्नता देखकर मुमुक्षुगणके विचलित होनेका कोई कारण नहीं है। क्योंकि अन्नमयशरीरके पोषण-

विषयमें यदि कोई कहे कि, शारीरिकयन्त्रोंमें शरीरके पोषणके अर्थ मुख ही प्रधान है और कोई यदि कहे कि, पाकस्थली ही प्रधान है एवं फिर कोई तृतीय व्यक्ति कहे कि, हृदययन्त्र ही प्रधान है; ऐसे स्थलमें तीनों मनुष्योंकी बात ही सत्य होगी। क्योंकि अन्न प्रथमतः मुखद्वारा पाकस्थली में जाता है और पीछे रसरूप होकर हृदय-यन्त्रमें प्रवेश करता है एवं वहांसे शरीरमें सर्वत्र सञ्चारित होकर रक्तरूपसे शरीरकी रक्षा और पुष्टिसाधन किया करता है। एक यन्त्रमें अन्नके प्रवेश करनेपर अपने आप ही अन्यान्य यन्त्रोंमें जाकर वह ठीक ठीक कार्य्यसम्पादन करता है। इस कारण तीनों यन्त्रोंकी पृथक्-पृथक् प्रशंसा करनेवालोंकी सत्यतामें सन्देह नहीं हो सकता। उसी प्रकार कर्म्मयोग, भक्ति-योग और ज्ञानयोग, ये तीनों योग परस्पर अन्योन्याश्रयसम्बन्धसे सम्बद्ध हैं, ऐसा जानना होगा। सुतरां इस प्रकार मतभेदसे लक्ष्य-हानिकी सम्भावना नहीं है। ज्ञानीभक्त अवश्य ही कर्म्मयोगी और तत्त्वज्ञानी होगा। उसी प्रकार कर्मयोगी भी भक्तिके अधि-कार और ज्ञानके अधिकार प्राप्त करके कृतकृत्य हो जायगा। और उसी प्रकार उपासनामार्गका अधिकारी भी स्वतः ही कर्मयोगी और ज्ञानयोगी बनकर ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त कर लेगा। अतएव इस प्रकार दर्शनशास्त्रोंमें मतभेद देखकर मुमुक्षुके लिये शंका करनेका कोई अवसर नहीं है।

जैसे एक गृहनिर्माण के लिये ईंटा, चूना और जल तीनोंकी आवश्यकता होती है, एक वस्तुकी कमी होनेसे घर बन नहीं

सकता, उसी प्रकार अभ्युदय और निःश्रेयसप्राप्तिके लिये कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंकी आवश्यकता है। इसी कारण भगवद्वाक्यरूपी वेद भी कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञान-काण्ड इस प्रकार तीन काण्डोंमें विभक्त हैं। जब वेदके तीन काण्ड हैं, तो मीमांसादर्शनका भी तीन होना स्वतःसिद्ध है।

इस दर्शनशास्त्रमें परमात्माको आनन्दस्वरूप सिद्ध करनेसे सद्भावमें और चिद्भावमें आनन्दकी व्यापकता स्वीकार की गई है। इस प्रकार मुक्तिके द्वारको उद्घाटन करके उस निर्वाण परमानन्दपदप्राप्तिके अर्थ पूज्यपाद महर्षि अङ्गिराने इस भक्ति-शास्त्र दैवीमीमांसादर्शनका वर्णन किया है।

इस दर्शनशास्त्रके प्रथमपादमें भगवत्सान्निध्यप्राप्तिरूपी भक्तिका ही विशेषरूपसे प्रतिपादन किया गया है। भगवान् रसरूप हैं और ब्रह्मानन्दरसप्रदायिनी भक्ति द्वारा ही रसरूप भगवान्का सान्निध्य प्राप्त होता है। इस कारण इस दर्शनके प्रथमपादका नाम रस-पाद है। सृष्टि प्रकरणके रहस्यको बिना समझे सृष्टिके पार पहुँचना मुमुक्षुको असम्भव है। उस सृष्टि-प्रकरणका विस्तृतरूपसे द्वितीयपादमें वर्णन किया गया है। इस कारण इस दर्शनके द्वितीयपादका नाम सृष्टिपाद है। स्थितिका रहस्य समझे बिना अधर्म, धर्म, बन्ध, मोक्ष, आसुरीशक्ति, दैवी-शक्ति, अज्ञान और ज्ञानकी पृथक्ता समझमें नहीं आती और न परमपुरुषार्थका द्वार उद्घाटन हो सकता है। इस कारण इस दर्शन-शास्त्रके तीसरे पादमें उक्त विषयोंका वर्णन करके उसका नाम

स्थितिपाद रक्खा गया है। भक्तिविज्ञान, देवलोकरहस्य, उसकी श्रृङ्खला, सृष्टि और स्थितिका विज्ञान जानकर जब भाग्यवान् भक्त योगरूपी साधन शरीर और भक्तिरूपी साधन प्राणको भलीभाँति जानकर भगवत्सान्निध्य प्राप्त करता हुआ ब्रह्म-सायुज्यका अधिकारी होता है, तभी वह यथार्थरूपसे लयक्रियाका अनुसरण कर सकता है। इस कारण इस दर्शनका चतुर्थपाद मुक्तिरूपी लयसहायकारी होनेसे उसका नाम लयपाद रक्खा गया है।

भाष्यकार।

ॐ तत्सत्

दैवीमीमांसादर्शन

रस–पाद ।

सकल शास्त्रके मूलभूत वेदमें तीन काण्ड हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड । उसके अनुसार मीमांसदर्शन भी तीन प्रकारके हैं कर्म-मीमांसादर्शन, उपासना-मीमांसा-दर्शन, और ज्ञानमीमांसा-दर्शन । इसमेंसे कर्ममीमांसादर्शनमें कर्म-काण्डके विज्ञानकी मीमांसा की गई है । इसको पूर्वमीमांसा भी कहते हैं । उपासना मीमांसादर्शनमें उपासनाकाण्डके रहस्योंका वर्णन किया गया है, इसको मध्यमीमांसा या दैवीमीमांसा भी कहते हैं । और ज्ञान-मीमांसा-दर्शनमें ज्ञानकाण्डके तत्त्वोंका निर्णय किया गया है उसको उत्तरमीमांसा या ब्रह्ममीमांसा भी कहते हैं । कर्मकाण्डका जैसा धर्मविज्ञान ही मूल है, वैसेही उपासनाकाण्डकी दैवी-मीमांसा-दर्शन द्वारा प्रतिपादित भक्ति मूल है, इसी लिये दैवी-मीमांसा-दर्शनका आरम्भ करनेमें पहला सूत्र कहा जा रहा है ।

अब भक्तिके विषयमें जिज्ञासा की जाती है ॥ १ ॥

अथाऽतो भक्तिजिज्ञासा ॥ १ ॥

भक्ति उपासनाका मूल है, इसलिये चित्तशुद्धि हो जानेके बाद भक्तिके विषयमें जिज्ञासा होनी चाहिये।

"अथ" शब्दके उच्चारणमात्र हीसे मङ्गल होता है क्योंकि स्मृतिमें लिखा हैं कि--

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ॥

"अथ" शब्दका आनन्तर्य अर्थ है अर्थात् विहित कर्मादिके द्वारा चित्तशुद्धिके अनन्तर ही भक्ति विषयक जिज्ञासा करनेका अधिकार प्राप्त होता है। "शब्द" का हेतु अर्थ है क्योंकि भक्ति ही जब उपासनाका मूल है तो भक्तिके विषयमें जिज्ञासा कर्त्तव्य ही है॥ १॥

भक्ति-जिज्ञासा-विषयमें पहले जानने योग्य कौन पदार्थ है सो कहा जाता है।

परमात्मा रसरूप और माया जड़रूपा है॥ २॥

परमात्मा रसरूप अर्थात् आनन्दरूप है।

श्रुतिमें भी कहा है कि—

"रसो वै सः" "आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्"
"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन"।
"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति"। इत्यादि।

रसरूपः परमात्मा, जडरूपा माया॥ २॥

अर्थात् "परमात्मा रसस्वरूप है" "ब्रह्म आनन्दरूप है," "ब्रह्मके आनन्दरूप जानलेनेसे भयकी निवृत्ति हो जाती है," "आनन्दसे सकल जगत्की उत्पत्ति होती है आनन्दमेंही जगत्की स्थिति और लय होता है," इत्यादि। परमात्माके वाक् और मनसे अतीत होनेपर भी जिज्ञासुओंके जाननेके लिये सद्भाव, चिद्भाव, और आनन्दभावके द्वारा उनका निर्देश किया जाता है। इन तीनों भावोंके प्रतिपाद्य विषय एक होनेपर भी कर्ममीमांसा-दर्शनके द्वारा प्रधानतः सद्भावका प्रतिपादन होता है, ब्रह्म-मीमांसा-दर्शनके द्वारा चिद्भावका प्रतिपादन होता है, और दैवी मीमांसा दर्शनके द्वारा आनन्दका प्रतिपादन होता है।

स्थूल जगत्से लेकर सूक्ष्मतम जगत्पर्य्यन्त आनन्दका ही विस्तार है। इन्द्रिय भोग्य वैषयिक आनंदसे ब्रह्मानन्द पर्य्यन्त सर्व्वत्र इस रूपसे ही आनंद उपभोग्य होता है। जड़ जगत्में कटुतिक्त मधुरादि षड्रस और चेतन जगत्में हास्य करुणादि गौण सप्त रस, सख्य वात्सल्यादि मुख्य सप्त रस, इसी तरह बहुविध रस देख पड़ते हैं। वे सब रस अलग अलग रूपसे उपलब्ध होने पर भी वस्तुतः एक रससे ही समस्त रसोंकी सृष्टि हुई है। रससमूह यदि अलग अलग नहीं होते अर्थात् समस्त रसोंके उपादान कारण एकही रस न होता और तिक्तादि रसके उपादान कारण तिक्तादि रस ही होते तो एक रसके साथ दूसरे रसको मिला देनेसे रसान्तरकी उत्पत्ति नहीं होती। अर्थात् यावद्द्रव्यभावित्व सम्बन्ध बराबरके लिये रह जाता। वस्तुतः ऐसा नहीं होता है।

एक रसके साथ दूसरे रसको मिला देनेसे ही एक नव रसकी उत्पत्ति हो जाती है। यह तो अनुमानसे ही सिद्ध होता है कि जिसका परिणाम या ध्वंस होता है वह अवश्य ही विकाशशील और अनित्य होता है। जो वस्तु विनाशस्वभाव होती है, वह अवश्य ही किसी कारणसे उत्पन्न, कार्य्यात्मक है। इसीलिए रूपान्तर प्राप्त समस्त रसोंके कारणस्वरूप एक रसको स्वीकार करना ही पड़ेगा। उक्त समस्त रसोंके कारणस्वरूप रसमय परमात्मा ही निखिल रसके आधार और उपादान कारण हैं, यह सिद्ध होता है। प्रकृतिके वैचित्र्यके कारण उपाधिके तारतम्यके अनुसार ही रसोंका विभेद होता है। जैसे एक आकाश उपाधिके भेदसे घटाकाश, जलाकाश, गृहाकाश, महाकाशादि बहुरूपोंसे प्रतिभात होता है, वस्तुतः आकाश एक ही है। वैसे ही निखिल रसोंका निदान रसस्वरूप परमपुरुषसे ही समस्त रसोंकी सृष्टि हुई है और वे सब रस उस रसस्वरूप परम पुरुषके ही रस हैं। इसलिए उनको रसस्वरूप कहा गया है।

दूसरी ओर विचारने योग्य विषय यह है कि, रूप, रस, स्पर्श आदि विषयोंमें जो आनन्दकी प्राप्ति होती है. उस आनन्दका आधार विषय समूह नहीं है। यदि ऐसा होता, तो पेट भरे हुए मनुष्यको अथवा रोगी मनुष्यको उत्तम भोजनमें सब समय आनन्द प्राप्त होता। इसी प्रकार सभी विषयोंको समझना उचित है। वस्तुतः विषयोंका सान्निध्य तत्तत् इन्द्रियोंके साथ होते ही अन्तःकरणमें एकतत्त्वकी प्राप्ति होती है। जिससे चित्त समाधिभूमिमें

स्वतः ही पहुँच जाता है तब आनन्दरवि श्रीभगवान्की आनन्दज्योति उस समाहित अन्तःकरणमें स्वतः ही पहुँचनेसे विषयसे आनंदका उदय होता है। अतः आनन्द विषय अथवा इन्द्रियोंमें नहीं है, आनन्दका स्थान आनन्दमय ब्रह्ममें ही है।

इस संसारमें दोनों ही पदार्थ प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं। एक जड़ दूसरा चेतन। चेतनपदार्थ जड़के सञ्चालक और ज्ञानस्वरूप हैं और जड़पदार्थ जब चेतनपदार्थसे सञ्चालित होता है, तब वह ज्ञानमय चेतनका स्वरूप नहीं हो सकता। अतः अनुमानसे यही सिद्ध होता है कि, वह जड़ अज्ञानरूपिणी मायाका ही स्वरूप है। जैसा कि, श्रुति कहती है—

"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।"

"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्"।

"स मां पश्यति विश्वात्मा तस्याऽहं प्रकृतिः शिवा।
तत्सान्निध्यवशादेव चैतन्यं मयि शाश्वतम्॥
जड़ाऽहं तस्य संयोगात्प्रभवामि सचेतना।
अयस्कान्तस्य सान्निध्यादयसश्चेतना यथा"॥

अर्थात् "उन्हींकी ज्योतिसे सब ज्योतिर्मय हैं, सबकी चेतन-सत्ता उन्हींसे सम्पन्न होती है।" "प्रकृति माया है और ब्रह्म मायाका प्रेरक मायी है"। तथा स्मृतिमें भी कहा है—"परमात्मा प्रकृति पर दृष्टिपात करते हैं, उनकी वह शक्ति है और उनके ही सान्निध्यसे प्रकृतिमें चेतनता आती है, जैसे चुम्बकके सान्निध्यसे लोहेमें कार्यकारिता आती है ऐसेही जड़ा प्रकृति पुरुषके सान्निध्यसे

ही सचेतना होकर सृष्टि स्थिति और प्रलय कार्य किया करती है।"

"आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज!।
सृजन्रक्षन्हरन्विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम्" ॥

"स्वं देवशक्त्यां गुणकर्मयोनौ
रेतस्त्वजायां कविरादधेऽजः"।

दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्
आधत्त वीर्यं साऽसूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम् ॥

"गुणमयी मायाके भीतर प्रवेश करके ब्रह्म ही सृष्टि-स्थिति-प्रलय कार्य किया करते हैं। जन्मरहित परमात्मा स्वकीय शक्ति-रूपा गुणमयी अजाप्रकृतिमें चेतनसत्ताका सन्निवेश करते हैं"। समष्टि व्यष्टि सम्बन्ध युक्त पूर्वसंस्कारके अनुसार स्पन्दनधर्मिणी प्रकृतिमें जब सृष्टिकी सूचना होती है तब परमात्मा उस प्रकृतिमें अपनी चेतनसत्ताको प्रदान करते हैं जिससे सृष्टिका विकास हुआ करता है। परमात्माको आनन्दरूप कैसे अनुभव कर सकते हैं, इसका विचार ऊपर किया गया है। परन्तु यदि यह शंका हो कि ब्रह्मको सच्चिदानन्दस्वरूप कहा है, अतः इस दर्शनमें एकमात्र आनन्दरूपसे ही आत्माको क्यों लक्षित किया गया है? इस प्रकार-की शंकाका समाधान यह है कि, इस दर्शनशास्त्रमें सृष्टिके स्वरूप और उसके कारणका अच्छी तरह अन्वेषण किया गया है। जिसके द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि आनन्दानुभवके लिए ही चित्से सत्का और सत्से चित्का अनुभव प्राप्त होकर क्रियाकी उत्पत्ति होती है। यही सृष्टि-विस्तारका मौलिक विज्ञान है। अतः

इस मौलिक सिद्धान्तके अनुसार इस दर्शनशास्त्रमें आनन्दके लक्ष्यसे ही आत्माको लक्षित कराना स्वतः सिद्ध है। दूसरी ओर ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृति 'अहं ममेतिवत्' जब सम्बन्ध युक्त है, तो गायक और उसकी गानशक्तिके उदाहरण पर वह ब्रह्म सच्चिदानन्दमय होकर आनन्दमय और उनकी प्रकृति शक्तिरूपिणी होनेसे उभय स्वरूपके स्वानुभव-प्राप्तिके निमित्त जड़ा कही जा सकती है ॥ २ ॥

रस और जड़का तत्त्व स्पष्टतर करनेके लिये लक्षणका निर्देश किया जाता है—

रस ज्ञानस्वरूप और जड़ अज्ञान स्वरूप है ॥ ३ ॥

रस ज्ञानात्मक है और जड़ अज्ञानात्मक है। आनन्दरूप परमात्माकी आनन्दसत्ता जगत्में सर्वत्र विद्यमान होनेसे उस आनन्दकी प्राप्ति जीवको दो प्रकारसे होती है, एक प्रकृतिपर प्रतिविम्बित आनन्द और एक साक्षात् चिदानन्द। प्रकृतिपर प्रतिविम्बित जो आनन्द है, वह वास्तविक आनन्दकी छायामात्र है इसको सुख कहते हैं। और प्रकृतिके परपारमें स्थित जो शुद्ध आनन्द है उसको आनन्द कहते हैं। श्रुति और स्मृतिमें कहा है—

"एषोऽस्य परमानन्द एतस्यैवानन्दस्याऽन्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।"

"अथात्र विषयानन्दो ब्रह्मानन्दांशरूपभाक्।

रसो ज्ञानरूपो जड़स्त्वज्ञानरूपः ॥ ३ ॥

निरूप्यते द्वारभूतस्तदंशत्वं श्रुतिर्जगौ ॥
एषोऽस्य परमानन्दो योऽखण्डैकरसात्मकः ।
अन्यानि भूतान्येतस्य मात्रामेवोपभुञ्जते ॥

अर्थात् "परमानन्दकी स्थिति ब्रह्ममें ही है, अन्यान्य जीव उस आनन्दकी छायामात्र भोग करते हैं।" वह छाया मायाके द्वारा आती है। माया भ्रमकारिणी है। इसलिये मायासे बद्ध अज्ञानी जीव वैषयिक सुखको ही वास्तविक आनन्द समझकर उसमें लिप्त हो जाते हैं। जैसे कस्तूरीमृग अपने नाभिदेशमें कस्तूरी होनेपर भी उसे नहीं जानकर उसी गन्धसे उन्मत्त हो उसकी खोजमें इधर उधर घूमता रहता है, उसी प्रकार सर्वव्यापक आनन्दरूप भगवान्की आनन्दसत्ता सकल जीवोंमें व्यापक रहनेसे जीवकी समस्त प्रवृत्ति उसी आनन्दसत्ताके लाभके लिये होती है। श्रुतिमें भी ऐसा कहा गया है कि—

"यदा वै करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति, नासुखं लब्ध्वा करोति, सुखमेव लब्ध्वा करोति। सुखं त्वेव विजिज्ञासस्व, नाऽल्पे सुखमस्ति, भूमैव तत्सुखम्" इति श्रुतिः।

"समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
यदेतदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

परन्तु—अविद्याग्रस्त जीव पाषाणमें स्पर्शमणिके भ्रमकी नाईं नाशवान् और अन्तमें दुःख देनेवाले विषय-सुखको ही

वास्तविक सुख समझकर प्रतारित हो जाते हैं। इसलिये जिज्ञासुओंके सन्देह दूर करने और लक्ष्य स्थिर करनेकेलिये कहा जाता है कि स्वरूपमें ज्ञानकी नित्यस्थिति होनेसे रस ज्ञानमय है अर्थात् ज्ञानकी पूर्णतासे ही आनन्दकी पूर्णता होती है और श्रुतिमें भी कहा है कि निर्विकल्प समाधिमें स्थित पूर्णज्ञानी योगीको जो परमानन्दकी प्राप्ति होती है सो शब्दके द्वारा प्रकाशित नहीं की जा सकती है। केवल ज्ञानराज्यमें उसका अनुभव होता है। श्री गीताजीमें भी कहा है कि—

> यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
> यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥
> सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
> वेत्ति यत्र न चैवाऽयं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
> यं लब्ध्वा चाऽपरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
> यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥

अर्थात् चित्तको निरुद्ध करके ज्ञानी योगी जब आत्माका साक्षात्कार करते हैं तो उनको इन्द्रियोंसे अतीत एवं प्रकृतिराज्यसे भी अतीत नित्यानन्दका लाभ होता है। जिस आनन्दके लाभ करनेसे अन्य किसी आनन्दका लाभ उन्हें श्रेष्ठतर नहीं मालूम होता है और जिस आनन्दमें अवस्थित होनेपर प्रारब्ध-जनित कोई प्रबल दुःख होनेपर भी उससे वे ज्ञानी पुरुष अभिभूत नहीं होते। स्मृतिमें भी लिखा है कि—

शब्दो न यत्र पुरुकारकवान्क्रियार्थो
माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना।
तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो
ब्रह्मेति यद्विरजस्त्रसुखं विशोकम् ॥"

शब्द और मायासे परे जो ब्रह्मका ज्ञानस्वरूप परमपद है उसमें शोकरहित पूर्णानन्द विद्यमान है। सृष्टि अज्ञानसे उत्पन्न है, इसलिये जड़ अज्ञानमय है। क्योंकि कार्य और कारण दोनों एक रूपही होता है। नाम और रूपसे रहित अद्वितीय कारण-ब्रह्ममें अनन्त वैचित्र्यपूर्ण नामरूपात्मक कार्य ब्रह्मकी जो प्रतीति होती है, यह केवल अघटन-घटनापटीयसी मायाकी ही लीला है। कार्यके देखनेसे कारणका अनुमान होता है। इसलिये मायाका कार्यरूप यह जगत् अज्ञानसेही इस विचित्रताको प्राप्त हुआ है, इसकी कारणरूपा जड़ा माया भी अज्ञानरूपिणी है। वस्तुतः रस और आत्मामें जब अभेद है, साथ ही जब आत्मा और ज्ञानमें अभेद है, तो रस भी ज्ञानस्वरूप ही है। इसी प्रकार जब चेतन-रूपी आत्माकी प्रकृतिको अपेक्षा है, तो प्रकृतिको जड़ा कह सकते हैं और जब प्रकृतिही सृष्टि करती है तथा अज्ञान ही सृष्टिका मूल कारण है, तो मानना ही पड़ेगा कि जड़ अज्ञान रूप है ॥३॥

आत्मा और मायाके परस्पर विरुद्ध होनेसे उनके एकत्व और अनेकत्वमें जो संशय है, उसका समाधान करते हैं—

ज्ञानरूप होनेसे वह एकही है, और अज्ञानरूप होनेसे माया अनन्त है ॥ ४ ॥

आत्मा अद्वितीय है, क्योंकि वह ज्ञानरूप है * माया अनन्त है क्योंकि वह अज्ञानरूपिणी है † सर्वव्यापक पूर्णविकाररहित सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा एकही है, श्रुतिमें भी कहा है कि–

ज्ञानरूपत्वात्स एक एवाज्ञानरूपत्वात्तु सानन्ता ॥ ४ ॥

* ज्ञान शब्दसे घटज्ञान, पटज्ञान, मठज्ञान इत्यादि रूपसे वस्तु विषयक ज्ञान अनन्त हैं। परन्तु विचारनेसे यही सिद्ध होता है कि वस्तु विषयक ज्ञान अलग अलग प्रतीत होने पर भी वह एकही ज्ञान है। विषयमें पार्थक्य है, परन्तु विषय-ज्ञानमें पार्थक्य नहीं है। विषयज्ञान अलग अलग होते हैं। कालान्तरमें उसका स्मरण नहीं हो सकता है। दस वर्ष पहले जो वस्तु दृष्ट हुई थी आज उसका स्मरण होता है, जाग्रदवस्थामें जो कुछ पदार्थ उपलब्ध होते हैं स्वप्नावस्थामें उसीका दर्शन होता है। परन्तु वह विषय इस समय वर्तमान नहीं है। इसलिये विषय न रहने पर भी विषयज्ञान वर्त्तमान रहता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान अलग अलग नहीं है। विषय अलग अलग है। परमात्माका स्वरूपज्ञान एकही है।

† एक अद्वितीय ज्ञानमय पुरुषको अनन्तरूपमें दर्शन करना ही अज्ञानका कार्य है। समुद्रके तरंगकी तरह ज्ञानके समुद्र परमपुरुषमें अनन्त तरंग उत्थित हो रहा है। ये तरंग परिणामशील होनेके कारणही ज्ञानस्वरूप नहीं होसकते क्योंकि ज्ञान नित्य परिणाम-रहित है। परन्तु अज्ञान प्राप्त होनेसे यह अज्ञानका स्वरूप और अनन्त है।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। वह परमदेव एक है, सब भूतोंमें स्थित है, सर्वव्यापक है और सकल प्राणियोंकी अन्तरात्मा है ‡; ऐसे आत्माके इस अद्वितीय रूपका तभी ज्ञान हो सकता है जब कि साधक निर्विकल्प समाधि-भूमिमें भली भांति आरूढ़ हो जाय और सम्यक् ज्ञान लाभ करले। क्योंकि ज्ञान ही अद्वितीय आत्माके स्वरूपोपलब्धिका कारण है।* जैसा कि श्रुतिमें लिखा है कि—

"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं साङ्ख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।"

---

‡ ज्ञानकी पूर्णतासे जब आनन्दकी पूर्णता होती है और आनन्दकी पूर्णतासे जब ज्ञानकी पूर्णता होती है, और रसरूप परमात्मा जब आनन्द-मय है तब वह ज्ञानस्वरूप भी है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

* अर्थात् अज्ञानके विनाश हो जानेसे पुरुष जब अपनी ज्ञानमयी स्थितिमें पहुँच जाते हैं तभी स्वरूपोपलब्धि होजाती है। घटके प्रति दण्डादि जैसे निमित्त कारण हैं—वैसे स्वरूपोपलब्धिके प्रति ज्ञान निमित्त-कारण नहीं है। स्वरूपोपलब्धिरूप मोक्ष किसीका कार्य्य नहीं है। मोक्ष भी नित्य सत्य सनातन और स्वतः प्रकाश है। जो कार्य्य पदार्थ होता है, उसी का कोई कारण रहता है। यहाँ ज्ञानमयी स्थिति और स्वरूपोपलब्धि दोनों एकही अवस्थाके परिचायक हैं। ज्ञानसे स्थिति हो जानेमें स्वरूपो-पलब्धि हो जाती है, यही यहाँका तात्पर्य्य है।

जो नित्यका भी नित्य है, जो चेतनका भी चेतन है और जो एक होकर सबकी कामनाको पूर्ण करता है। उस अद्वितीय परमात्माको साधक ज्ञानद्वारा जानकर सकल पाशोंसे मुक्त हो जाता है। स्मृतिमें भी कहा है कि—

"वक्तव्यं किमु विद्यतेऽत्र बहुधा ब्रह्मैव जीवः स्वयं
ब्रह्मैतज्जगदापराणु सकलं ब्रह्माद्वितीयश्रुतेः।
ब्रह्मैवाऽहमिति प्रबुद्धमतयः संत्यक्तबाह्याः स्फुट
ब्रह्मीभूय वसन्ति सन्ततचिदानन्दात्मनैव ध्रुवम् ॥"

अद्वितीय ब्रह्म जगत्में सर्वत्र व्याप्त है, जीव ब्रह्म ही है, इसलिये जीव ज्ञानके द्वारा अपने स्वरूपको जानकर अद्वितीय चिदानन्दमें निमग्न हो जाता है। प्रकृतिका वैभवरूप सृष्टि अज्ञानका विलासमात्र है, इसलिये सृष्टिका विकास अनंतरूप युक्त है, सृष्टिकी विचित्रतामें अज्ञान ही कारण है और माया अज्ञानरूपिणी है इसलिये वह अनन्त है। शक्तिमान् और शक्ति में कुछ भी भेद न होनेपर भी—जब कि शक्तिरूपिणी माया अपने वैभव द्वारा शक्तिमान्से अपनेको अलग दिखाकर एकसे द्वैतको दिखाती है और पुनः वही मायारूपिणी ब्रह्मशक्ति अपने त्रिगुणके विकारसे जगत्रूपी दृश्यको अनन्त रूपमय बना देती है, तो मानना ही पड़ेगा कि अज्ञानके कारण वह अनन्त रूपमय दृश्य दिखाती है 'एव' शब्द निश्चयात्मक समझना उचित है। जैसे वेदमें 'एकमेवाद्वितीयम्' देखा जाता है उसी प्रकार यह प्रयोग है। वे परमात्मा एक और अद्वितीय भी हैं। यही तात्पर्य

है। आत्माका स्वरूप ज्ञानमय है। स्वरूप-ज्ञान एकरस पूर्ण और एक प्रकारसे आत्माका स्वभाव होने के कारण वह आत्माके तुल्य विभु और नित्य है। वस्तुतः ज्ञानकी पूर्णता तभी होती है, जब ज्ञान एक और अद्वितीय भावको धारण करे, जैसा कि सात्त्विक ज्ञानका लक्षण वेद और शास्त्रोंमें पाया जाता है। सुतरां एक अद्वितीयभावको धारण करनेवाला स्वरूप-ज्ञान जिसका रूप है, वह आत्मा अवश्य एक और अद्वितीय होगा ॥ ४ ॥

वह परमात्मा किस प्रकार लभ्य है, सो कहा जाता है—

सृष्टिसे अतीत और बुद्धिसे परे, वह परमात्मा भक्तिसे प्राप्त किया जाता है ॥ ५ ॥

सृष्टि त्रिगुणमयी है, क्योंकि वह प्रकृतिका परिणाम है। परमात्मा निर्गुण है इसलिये सृष्टिसे अतीत है। बुद्धिका भी महत्तत्व से सम्बन्ध है, इसलिये बुद्धि भी प्राकृतिकी है इस कारण बुद्धिसे भी परमात्मा लभ्य नहीं है। जैसा कि श्रुतिमें कहा है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थां अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥
अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथाऽरसं नियमगन्धवच्च यत् ।

सृष्टेरतीतो बुद्धेश्च परः स भक्तिलभ्यः ॥ ५ ॥

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

अर्थात् इन्द्रियोंसे परे इन्द्रियोंके विषय हैं, विषयोंसे अतीत मन है, मनसे परे बुद्धि, बुद्धिसे महत्तत्त्व परे है और महत्तत्त्वसे अव्यक्त परे है और अव्यक्तसे आत्मा परे हैं, आत्मासे परे कोई नहीं है, आत्मा अन्तिम गति है। आत्मा, शब्द स्पर्श आदिसे रहित, अनादि, अनन्त और महत्तत्त्वसे परे है, इस आत्माके ज्ञानसे जन्म मृत्यु नहीं होती। और स्मृतिमें भी कहा है कि—

शब्दो न यत्र पुरुकारकवान्क्रियार्थो
माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना।
तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो
ब्रह्मेतियद्विदुरजस्रसुखं विशोकम् ॥

अर्थात् आनन्दरूप परमात्मा शब्दराज्यसे परे है और माया भी उनको स्पर्श नहीं कर सकती। इस प्रकारसे परमात्मा समस्त प्राकृतिक सम्बन्धसे अतीत होनेपर भी केवल भक्ति हीके द्वारा प्राप्य है। जैसा कि श्रुतिमें कहा है—

"भक्तिरेवैनं नयति भक्तिरेवैनं दर्शयति भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी"।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासा निशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भागवतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाऽक्षरं सौम्य विद्धि ॥

अर्थात् भक्तीहीके द्वारा परमात्मा प्राप्य है, भक्तिहीसे परमात्माका साक्षात्कार होता है, भगवान् भक्तिहीके वशमें है, इसलिये भक्तिही श्रेष्ठ है। उपनिषद्रूप धनुषको लेकर उपासना रूप तीक्ष्ण शरसन्धान करके भक्तियुक्त चित्तसे जब उस शरका प्रयोग किया जाय, तभी परमात्मारूप लक्ष्यका भेद हो सकता है। स्मृतिमें भी कहा है कि—

त्वं भक्तियोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतीक्षितपथो ननु नाथ! पुंसाम्।
असेवया यं प्रकृतेर्गुणानां-
ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन ॥
योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या
मां प्रत्यगात्मानमिहावरुधे ॥

अर्थात् श्रुतिके द्वारा लभ्य परमात्मा साधकके भक्तियुक्त हृदय-कमलरूप आसनपर आसीन होते हैं। साधक प्रकृतिके गुणोंका परित्याग करके ज्ञान और वैराग्यसे युक्त होकर भक्तिके द्वारा भगवान्को प्राप्त करता है। और श्रीगीताजीमें भी लिखा है कि-मैं वेद, तपस्या, दान, यज्ञ, किसीके द्वारा प्राप्य नहीं हूं। केवल अनन्यभक्तिके द्वाराही मेरे इस रूपका साक्षात्कार हो सकता है। इस सूक्तकी दोनों बातें विरुद्धसी प्रतीत होती हैं। जोकि प्रकृतिसे अतीत और बुद्धिसे भी परे है, वह परमात्मा भक्तिसे कैसे लभ्य हो सकता है? क्योंकि भक्तिके लक्षणमें कहा गया है कि सानुरागरूपा, अर्थात् वही भक्ति अनुरागका

स्वरूप है। और चित्तकी वृत्तिविशेषको ही अनुराग कहते हैं। अतः जो चित्तसे बुद्धिसे अतीत है वह कैसे चित्तवृत्ति विशेषसे लभ्य हो सकते हैं? इस तरहकी आशङ्का नहीं कर सकते। क्योंकि यदि भक्तिको अनुरागरूपसे कहा गया है, परन्तु वह अनुराग चित्तवृत्ति विशेष नहीं, वह अलौकिक ईश्वरानुराग है। भक्तिमें भी दो भेद हैं, यथा गौणी और परा। गौणी भक्तिका साधन करते करते जब चित्त निर्मल हो जाता है तभी आनन्दमय परम पुरुषकी आनन्दसत्ता उस चित्तमें प्रतिफलित हो जाती है। आनन्द-रससे भरपूर होकर चित्त बिलकुल ही आनन्दमय हो हो जाता है उसके प्रत्येक अणु परमाणुमें भी चैतन्यकी ही झलक उछल उठती है। उसे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'वासुदेवमयं जगत्' इत्यादि भावोंका स्मरण होता रहता है। इस अवस्थाका वर्णन शास्त्रमें है कि—

भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र-
मानन्दवाष्पकलया मुहुरर्घमानः।
विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो,
नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः॥

इस प्रकार भक्तिभावके उदय होनेसे साधकका चित्त पुलकित होकर गद्गद् हो जाता है, और उसकी आखोंसे अविच्छिन्न धारारूपसे आनन्दाश्रुप्रवाह बहने लगता है, वह अपनेको भूल जाता है।

इसीलिये परवर्ती सूत्रमें भक्तिके लक्षणप्रसङ्गमें यही प्रमाणित

होगा कि, सर्वघटमें विराजित भगवान्में निरवच्छिन्ना चिन्ताकी जो गति है उसको भक्ति कहते हैं। निरवच्छिन्न शब्दका अर्थ यह है कि भगवान्से कभी विच्छिन्न नहीं होता है। निरवच्छिन्ना तैल-धाराकी तरह सर्वदा भगवान्में ही लवलीन रहता है। अतः वह अनुराग चित्तकी वृत्ति नहीं, है परन्तु रसस्वरूप भगवान्की जो आनन्दसत्ता है, उसीका प्रकारमात्र है। इसीकारण श्रीभगवद्गीतामें—

नाऽहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवम्विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

अर्थात् वेदके अध्ययनसे तपसे दानसे यज्ञादिके कर्म्मोंसे मुझको लाभ नहीं कर सकते हैं। 'अहन्तु भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' अनन्यभक्तिसे ही मुझको लाभ कर सकते हैं। और मेरी कृपासे ही उस उस भक्तिको लाभ कर सकते हैं। अर्थात् चित्तमें आनन्द-सत्ताका प्रकाश होनेसे, जो अवस्था होती है वही भक्तिकी अवस्था है। अतः यह सिद्ध हुआ कि ईश्वरकी कृपासे लब्ध अलौकिक अपार्थिव अनुरागको ही भक्ति कहते हैं। और इसी प्रकार भक्तिसे ही वे बुद्धिसे प्रकृतिसे अतीत होने पर भी, भगवान्को लाभ कर सकते हैं। वेदान्तसिद्धान्तके अनुसार भी इस प्रश्नका समा-धान कर सकते हैं। इस मतमें अज्ञानका कार्यरूप होनेसे बुद्धि भी मिथ्या और असत् है, सुतरां बुद्धिसे बोद्धव्य विषय समूह भी मिथ्या और असत् हैं, अतः ध्यान धारणादि ईश्वरका चिन्तन जो कुछ करते हैं, सब असत् होने पर भी निद्रितावस्थामें जैसे

व्याघ्रादिके स्वप्न होनेसे स्वप्नद्रष्टा पुरुष निद्रासे जाग जाते हैं, उनकी निद्रा टूट जाती है, वह अपनी अवस्थामें स्थित हो जाते हैं, उसी प्रकार ईश्वर बुद्धिसे अतीत होने पर भी उनको बुद्धिगम्य करके गौणी भक्तिके द्वारा साधन करते करते साधकका चित्त स्थिर हो जाता है और उसमें आनन्दसत्ताका प्रकाश हो जाता है और साधक भी आनन्दमय होकर आनन्दस्वरूप परमात्माको लाभ कर सकते हैं। इसी तरह वे बुद्धिसे अतीत होने पर भी भक्तिसे ही उनको लाभ कर सकते हैं, यह सिद्धान्त हुआ।

भगवान्के साक्षात्कारके द्वारा जो मुक्तिकी प्राप्ति है सो भी भक्तिहीके द्वारा भाग्यवान् साधकको होती है, इसलिये भक्तिही मुक्तिका कारण है। जैसा कि स्मृतिमें लिखा है कि—

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः
तच्चापि चित्तवडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते॥
मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथाऽर्चिः।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-
मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः॥
सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या
तस्मिन्महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये।
हेतुत्वमप्यसति कर्त्तरि दुःखयोर्यत्—

स्वात्मन्त्रिधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः ॥

नाऽहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन ! ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ! ॥

भगवान्में भक्तियुक्त चित्त होकर आनन्द-चित्त साधक उस ध्येय वस्तुमें अपने चित्तको लगाता हुआ अन्तमें गुणातीत भक्त आत्मसाक्षात्कार होनेसे निःश्रेयस पदको प्राप्त करता है । योग-दर्शनका यह सिद्धान्त है कि, एकतत्त्वकी प्राप्ति द्वारा योगीका अन्तःकरण समाधिस्थ होता है, उसीको योगावस्था कहते हैं । इसी अवस्थामें द्रष्टा अर्थात् परमात्मा अपने स्वरूपमें प्रकट हो जाते हैं । योगके इस विज्ञानके अनुसार यही सिद्ध होता है कि, भक्तिकी अनन्यवृत्तिद्वारा भक्तका अन्तःकरण एकतत्त्वमय हो जाता है, तब वह भक्त स्वतः ही समाधिस्थ हो जाता है और उसके भक्तिमय समाधिस्थ अन्तःकरणमें परमात्मा स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं ॥ ५ ॥

इस भक्तिका लक्षण क्या है; सो कहते हैं—

वह अनुरागरूपा है ॥ ६ ॥

ऊपर कही हुई भक्ति अनुरागात्मिका है । चित्तकी जितनी वृत्तियां हैं उन सबोंमें प्रधान दो वृत्तियां कारणरूप हैं, । यथा—

सानुरागरूपा ॥ ६ ॥

राग और द्वेष। उनमेंसे द्वेषवृत्ति तमःप्रधान होनेसे दुःखका कारण है और रागवृत्ति सत्त्वोन्मुख रजः-प्रधान होनेसे सुखका कारण है। योगदर्शनमें भी लिखा है कि "सुखानुशयी रागः" "दुःखा-नुशयी द्वेषः" इन सूत्रोंका तात्पर्य यह है कि, सुखके अनुस्मरण पूर्वक जो उसमें प्रवृत्ति होती है, उसका नाम राग है। और दुःखके अनुस्मरण पूर्वक जो उसमें विरुद्धभावना उत्पन्न होती है, उसको द्वेष कहते हैं। भक्ति, द्वेषके विरुद्ध और रागके अनुरूप एक अलौकिक वृत्ति है। यद्यपि साधारणतः द्वेष तमोगुणमूलक और राग रजोगुणमूलक है, परन्तु सुख-इच्छारूपी सत्त्वगुणसे उसका सम्बन्ध होनेसे उसको सत्त्वोन्मुख रजःप्रधाना वृत्ति कह सकते हैं। अलौकिक भक्तिवृत्तिको सात्त्विक वृत्ति इस कारण कहते हैं कि, उसके साथ भगवान्के अनुरागका सम्बन्ध है। फलतः अधोगति देनेवाली द्वेषवृत्तिसे विपरीत, उन्नतिका कारण और अनुरागवृत्तिकी समभूमिमें स्थित, अनुरागरूपिणी भक्ति है। स्मृतिमें भी कहा है कि—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥

इस स्मृतिका तात्पर्य यह है कि, गङ्गाकी अविरलधाराकी तरह सकल भूतमें स्थित भगवान्में जो अहैतुक अविच्छिन्न अनुराग है उसे भक्ति कहते हैं। वहिर्जगत्में जैसी आकर्षण और विकर्षण

ये दो शक्तियां हैं, वैसे ही अन्तर्जगत्में राग और द्वेषरूपी दो वृत्तियां हैं। आकर्षण रजोगुणमूलक और विकर्षण तमोगुणमूलक है। इसी तरह राग रजः-सत्त्व प्रधान और द्वेष तमःप्रधान है। आकर्षण और विकर्षण दोनोंका जहां समन्वय होता है, वहीं जगत्की स्थितिका सत्त्वप्रधान कार्य हुआ करता है। अर्थात् आकर्षण और विकर्षणके समन्वयसे ही यह जगत् स्थित है। इसी तरह द्वेषसे परे और रागके अनुरूप ईश्वरके प्रति चलनेवाली जो एक सत्त्वगुणमयी विशेष तथा अलौकिक अनुरागवृत्ति है, उसको भक्ति कहते हैं॥ ६॥

अब उसका विशेष लक्षण कह रहे हैं—

भक्ति, स्नेह, प्रेम और श्रद्धासे अतिरिक्त अलौकिक ईश्वरानुरागरूपा है॥ ७॥

परमात्मामें परम अनुरागरूपिणी भक्ति लौकिक स्नेह, प्रेम और श्रद्धासे भिन्न है। लौकिक प्रीति तीन तरहकी होती है। यथा—स्नेह, प्रेम और श्रद्धा। पुत्र कन्या आदिमें जो प्रीति होती है, उसे स्नेह कहते हैं, यह प्रीति निम्नगामिनी है। स्त्री, मित्र आदिमें जो प्रीति होती है उसे प्रेम कहते हैं। यह बराबर वालोंमें उत्पन्न होनेवाली है। और पिता माता आदि गुरुजनोंमें जो प्रीति होती है उसे श्रद्धा कहते हैं, वह श्रद्धा उच्चगामिनी है। अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् दोनोंमें समानरूपसे रहनेवाली और दोनोंको

स्नेहप्रेमश्रद्धातिरेकादलौकिकेश्वरानुरागरूपा॥ ७॥

धारण करनेवाली आकर्षण और विकर्षणरूपिणी जो द्वन्द्वशक्ति नित्य विराजमान है, उसीके दो भेद राग और द्वेष हैं। इन दोनोंमेंसे रागका ही एक पुण्यमय विशेषरूप है, जो दर्शनशास्त्रोंमें अनुराग नामसे अभिहित होता है। वही अनुराग दो श्रेणीका होता है, एक काममूलक और दूसरा प्रेममूलक। काममूलक अनुरागसे आसक्ति प्रकट होती है प्रेममूलक अनुरागसे भाव प्रगट होता है। कामका लक्ष्य अनात्मा इन्द्रिय और उसका मूल स्वार्थ है। और प्रेमका लक्ष्य आत्मा और उसका मूल परार्थ है। इसी कारण कामी जितनी स्वार्थपरता छोड़ता जाता है, और उसमें जितनी परार्थपरता आती जाती है, वह उतना ही प्रेमिक बन जाता है। वस्तुतः श्रीगीतोपनिषदुक्थित निष्काम कर्मयोगविज्ञानका अधिकारी कामी नहीं हो सक्ता, प्रमिक ही हो सकता है। कहीं कहीं देखनेमें आता है, कि कामी भी अन्तमें प्रेमिक हो जाता है। पुराणमें बिल्वमङ्गलका इतिहास इसका ज्वलन्त दृष्टान्त है। बिल्वमङ्गल वेश्यामें प्रथम कामासक्त ही थे, परन्तु अपनी सात्त्विकवृत्तिके अनुसार उनमें परार्थ-वृत्ति अधिक थी। अतः पुण्यवान् बिल्वमङ्गलमें पूर्वजन्मार्जित सत्त्व-गुणकी अधिकता रहनेके कारण उनमें परार्थपरता और निष्काम-परायणता रूपी शुभ वृत्तियाँ एकाएक स्फुरित होगयीं और तब वह कामसम्बन्धसे युक्त वेश्याको भूल गये। और उनके अन्तः-करणकी अनुराग-तरङ्गिणी कामभूमिको छोड़कर प्रेमभूमिमें बहने लगी। तब उनको स्वतःही प्रेममय भगवान्के दर्शन हुये। वस्तुतः

प्रेमिकमें प्रेमवृद्धिके साथ ही साथ उसकी स्वार्थवृत्ति क्षीण होती जाती है, और अन्तमें पूर्ण प्रेमिकमें स्वार्थ-वृत्ति रहती ही नहीं। वही यथार्थ प्रेमिकका स्थान है। जिस प्रकार पूर्णभक्त और पूर्णज्ञानी ही पराभक्तिका अधिकारी हो सक्ता है, उसी सिद्धान्तके अनुसार मानना पड़ेगा कि ज्ञानी ही यथार्थ प्रेमिक हो सक्ता है। क्योंकि ज्ञानविरोधी अहंतत्त्वके रहते जैसे मनुष्य आत्मज्ञानी नहीं हो सकता, उसी प्रकार अहंतत्त्वयुक्त स्वार्थ रहते कोई भी सच्चा प्रेमिक नहीं हो सकता। स्वार्थ अज्ञानमूलक है, इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि स्वार्थ और अज्ञान रहते न तो शुद्ध प्रेमका उदय हो सकता है और न वह व्यक्ति पराभक्तिका अधिकारी हो सकता है। इस विषयमें श्रीभगवान्‌के निज मुखके ये वचन भी विचारने योग्य हैं।

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।
न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा॥
भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदञ्च सुमध्यमाः॥
भजतोऽपि न वै केचिद्भजन्त्यभजतः कुतः।
आत्मारामाश्चाप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः॥
नाहन्तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथाऽधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयाऽन्यन्निभृतो न वेद॥
एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं माऽसूयितुं माऽर्हथ तत्प्रियं प्रियाः॥

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधाऽऽयुपापिवः।
यामाऽभजन्दुर्ज्जरगेहश्रृङ्खला संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥

अर्थात् जो प्रेम करनेपर प्रेम करते हैं, वे प्रेमके दुकानदार हैं। ऐसा प्रेम स्वार्थमूलक होनेसे धर्म नहीं है। जो प्रेम न करनेपर भी प्रेम करते हैं, जैसा कि पिता पुत्रके प्रति, यह धर्म और मध्यम प्रेम है। और प्रेम न करनेकी तो बात ही क्या, कोई कोई प्रेम करनेपरभी कुछ नहीं करते, ऐसे चार प्रकारके मनुष्य होते हैं। यथा—आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ और गुरुद्रोही। और हे सखीगण! मैं जो कभी कभी प्रेम करनेवालेपर भी अप्रेमी सा प्रतीत होता हूँ, यह प्रेमको बढ़ानेके लिये है। जिस प्रकार किसी दरिद्रको धन मिलनेपर वह धन भी नष्ट हो जाय, तो उसका चित्त उसी ओर लगा रहता है, इसी प्रकार आपलोगोंने मेरे ऊपर प्रेम करके अपने सर्वस्वका त्याग कर दिया है। इसलिये जिससे आपलोगोंका प्रेम पूर्ण होकर सफलता लाभ हो इस तात्पर्यसे प्रेमको बढ़ानेके लिये परोक्षमें रहकर सब कुछ देख रहा था। जब मेरे लिये कठिन संसार-बन्धन भी आपलोगोंने तोड़ दिया है, तो उसका ऋण मैं शोध नहीं कर सकता हूँ। अतः अपने साधुभावसे मुझे ऋणमुक्त करें।

पूर्वकथित स्नेह आदि तीन प्रकारकी प्रीतियाँ लौकिक और नश्वर हैं, क्योंकि जगत नश्वर होनेके कारण इनका आश्रय नश्वर है—परन्तु भक्ति इन सबोंसे विलक्षण ही है। क्योंकि भक्ति अविनश्वर परमात्मामें अलौकिक प्रीतिरूप है। वस्तुतः द्वेष

तमोगुण मूलक और राग रजोगुण मूलक है। परन्तु आत्म-सुखेच्छासे सम्बन्धयुक्त होनेके कारण मोहसे मिश्रित जो लौकिक अनुरागरूप स्नेह, प्रेम और श्रद्धा है, वह सब अनुराग सत्वोन्मुख रजःप्रधान है। और भगवदनुराग-रूपिणी भक्ति अलौकिक और मोहराज्यसे अतीत होनेके कारण उसको शुद्ध सत्वगुणमयी कह सकते हैं। भागवतजन-हृदयविहारिणी साक्षान्मुक्तिप्रदायिनी भक्ति लोकातीत है, इसमें सन्देह नहीं। इस विषयमें इस तरहकी आशङ्का हो सकती है कि, भगवान्को जो पुत्रभावसे स्नेह करते हैं, पतिभावसे प्रेम करते हैं और प्रभु, पिता, माता इत्यादि भावसे श्रद्धा करते हैं, क्या इन्हीं वृत्तियोंको भक्ति नहीं कह सकते? इसीके समाधानके लिये सूत्रमें 'अलौकिक' शब्दका प्रयोग किया गया है। लौकिक व्यवहारसे पिता पुत्रादिके साथ जो स्नेह प्रेमादिका बर्त्ताव होता है वही बन्धनका कारण है और नश्वर है। क्योंकि जिसके साथ प्रेम करते हैं, वह अनित्य है। उसके पीड़ित होनेसे, वियोग हो जानेसे, दुःखही भोगना पड़ता है। लौकिक स्नेहप्रेमादि वृत्तियोंसे भी जीवको आनन्द मिलता है। इसका कारण यह है कि पुत्रादि विषयोंसे जब स्नेहमयी वृत्तिका उदय होता है, तब चित्त उन्हीं विषयोंमें शान्त हो जाता है और चित्तके शान्त होनेसे आनन्दमय परमात्माका आभास चित्तको पड़ता है, उसीसे जीवको आनन्द भी मिलता है। परन्तु चित्तके अवलम्बनीय विषय पार्थिव और नश्वर होनेके कारण, और उसके मूलमें मोहमयकाममूलकममत्व बुद्धि रहनेके

कारण उससे जीवको बन्धन ही होता है, मुक्ति नहीं मिलती है। अलौकिक ईश्वर विषयक अनुरागमें यह भाव नहीं रहता है। ईश्वर नित्य, सत्य, सनातन, निखिल कामनाओंके आश्रय और मायाके अधीश्वर हैं। ईश्वरमें कामना या मोह-मूलक भाव अर्पित होनेपर भी भक्त निष्काम और शान्तिमय हो जाता है। इसलिये ईश्वरके विषयमें जो स्नेहादिका व्यवहार होता है, वह अवश्य ही भक्तिपद वाच्य है। अतः यही सिद्धान्त हुआ है कि, उक्त तीन प्रकारकी प्रीतियाँ लौकिक और नश्वर हैं, क्योंकि जगत् नश्वर होनेके कारण इनका आश्रय नश्वर है। परन्तु भक्ति इन सबोंसे विलक्षण है, क्योंकि भक्ति अविनश्वर परमात्मामें अलौकिक प्रीतिरूपा है।

ऊपर लिखित लौकिक और अलौकिक प्रेमके भेद जो श्रीभगवान्ने व्रजगोपिकाओंके प्रश्नके उत्तरमें कहे थे, वह सब वर्णन इस प्रकृत विज्ञानका अनुमोदक है। जो प्रेम करनेसे प्रेम करता है, उसको प्रेमराज्यका आस्वादन मिलनेपर भी उसकी प्रेमकी गति स्वार्थमूलक है। प्रेम न करनेपर जो प्रेम करते हैं, उनका प्रेमाधिकार अपेक्षाकृत उन्नत है। क्योंकि इस अधिकारमें स्वार्थ विलयोन्मुख है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि पिता माताका जो पुत्रके प्रति स्नेह है, उसमें प्रत्यक्ष स्वार्थकी न्यूनता होनेसे वह अनुराग उन्नत अवश्य है, परन्तु उस अनुरागके मूलमें अज्ञान और आसक्ति रहनेके कारण वह प्रेम विशुद्धताको कभी नहीं प्राप्त कर सकता है। और जो व्यक्ति प्रेम करनेपर भी प्रेम नहीं करते हैं, उनकी चतुर्विध श्रेणी अतिविचित्रतासे पूर्ण है।

श्रीभगवान्‌ने अत्यद्भुत विज्ञानका प्रकाश इन उदाहरणोंमें किया है। वस्तुतः उन चारों श्रेणियोंमें तीन तो प्रेमराज्यके बाहरकी कोटिमें हैं और चतुर्थमें प्रेमका द्वार रुद्ध है।

सात्विकौ दम्पती नूनं स्यातां ज्ञानरतौ वरौ।

परस्परार्थिनौ तौ हि जायेते पितरौ सदा॥

अर्थात् श्रेष्ठ सात्विक नरनारी ही ज्ञाननिरत और सदा परस्परार्थी होते हैं।

साधकमें वैराग्य और अभ्यासकी सहायतासे जितना-जितना अज्ञान दूर होगा, उतनीही ज्ञानकी वृद्धि होगी। और उतना ही प्रेमजलको गंदला करनेवाला स्वार्थ उसके अन्तःकरणसे घटता जायगा। ऊपर कथित चार अवस्थायें जो श्रीभगवान्‌ने कही हैं, वे चारों अवस्थाएं वस्तुतः स्वार्थसम्बन्धसे रहित नहीं हैं। आप्तकामी, गुरुद्रोही और कृतघ्न ये तीनों तो घृणित स्वार्थकी प्रतिमूर्ति हैं, और चतुर्थ आत्माराम अपने शुद्ध सात्विक स्वार्थकी पराकाष्ठाको प्राप्त करके उसीमें मग्न रहता है। इस कारण चारोंही प्रकारान्तरसे स्वार्थी हैं, इसमें सन्देह नहीं। इसी कारण श्रीभगवान्‌ने अपनेको लक्ष्य करके कामनाजालसे रहित, स्वार्थपङ्कसे विमुक्त, ज्ञानस्वरूपको लक्ष्य कराकरही प्रेमका लक्ष्य स्थिर कराया है। जब तक प्रेमिकमें अज्ञानका लेश भी रहेगा, तबतक अलक्षितरूपसे स्वार्थ आकर प्रेमधाराकी शुद्धताको अशुद्ध कर सकता है। इसी विज्ञानके अनुसार श्रीभगवान्‌ने अपने वचनोंके द्वारा अपने आपकोही यथार्थ और सर्वोत्तम प्रेमिक सिद्ध किया

है। किसी उन्नत अधिकारमें पहुँचनेपर प्रेम सब अवस्थाओंमें ही निर्मल रह सकता है और प्रेमिकमें स्वार्थका लेश भी न रहनेसे वह केवल परार्थवृत्तिको धारण करके अपने प्रियजनको प्रेमका फल पहुँचा सकता है उस उन्नत अधिकारको श्रीभगवान्ने अपने उन्मत्त आचरणका दिग्दर्शन कराकर सिद्ध किया है।

इसी विज्ञानको दूसरे प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, स्नेह, प्रेम, श्रद्धा, भक्तिरूपी नामोंको धारण करनेवाली अनुरागधारा भावरूपी पर्वतराजसे निकलकर परमानन्दमय भगवत्समुद्रमें अग्रसर होती है। जिस प्रकार हिमालयप्रदेशमें बहते समय,-अतिप्रवल तरङ्गोंसे अतिचञ्चलताके साथ बहते समय,-कोई धारा अलकनन्दा कहाती है, कोई धारा भागीरथी कहाती है और कोई धारा मन्दाकिनी कहाती है, और पीछे वे तीनों मिलकर समतल भूमिमें प्रवाहित होती है, तब वही पुष्ट और शान्त धारा गंगा नामसे अभिहित होती है। उसी प्रकार अनुरागमयी धारा जब स्नेह, प्रेम और श्रद्धामें होकर बहती है, तब वह चञ्चल अर्थात् अपवित्र रहती है, और जब तीनों अपने नामरूप और स्वभावको बदलकर भगवद्भावमय स्वार्थरहित समतल प्रदेशमें एक शान्तधारारूपसे आ बहती है, तब वही धारा भक्ति कहाती है।

अनुरागकी उत्पत्ति वस्तुतः प्रथम अवस्थामें मनुष्यके अन्तःकरणमें स्नेह, प्रेम और श्रद्धारूपसे ही होती है। उसी अनुरागको श्रीभगवान्ने एक साधारण प्रेम नामसे अभिहित किया है। उस नानारूपधारिणी अनुराग वृत्तिमें जितना-जितना अज्ञान,

स्वार्थ और इन्द्रियमूलक आसक्ति घटती जाती है, उतना ही वह अनुराग पवित्रताको धारण करता हुआ भगवत्भावको प्राप्त हो जाता है, यही भक्तिके क्रमविकासका रहस्य है।

श्रीभगवान्के वचनोंमें प्रकाशित जितने अधिकार कहे गये हैं उनकी विशेषरूपसे पर्य्यालोचना करनेसे यह प्रेम-विज्ञान और भी स्पष्ट हो जायगा। उक्त सब अधिकारोंको सप्तश्रेणीमें विभक्त करनेसे यह त्रिलोकपवित्रकर विज्ञान और भी स्पष्ट हो जायगा। भगवत्चरणारविन्दनिःसृत पतितपावनी प्रेमधाराके अवगाहनसे वञ्चित और पापमें निरत गुरुद्रोहीका अधिकार निकृष्टसे निकृष्ट है। क्योंकि ज्ञानदाता गुरुका द्रोही, ज्ञानका शत्रु वह तिर्यक् योनिका अधिकारी होता है। दूसरा अधिकार कृतघ्नका है। कृतघ्नका लोकान्तर में घोर नरक होनेके अनन्तर पुनः उसकी उन्नतिका मार्ग मिल सकता है। ये दोनों अधिकार ही इन्द्रियासक्तिकी पूर्णताके उदाहरण हैं। जिनसे प्रेमराज्य सुदूर है। इन पूर्वकथित व्यक्तियोंमेंसे तीसरा अधिकार आप्त-कामका है। काम, अर्थ, धर्म और मोक्षरूपी चतुवर्गमेंसे इन्द्रियसेवामूलक कामका अधिकार सबसे निकृष्ट और तदनन्तर तीनों यथाक्रम उन्नत अधिकार हैं। अतः काम जब प्रेमराज्यका शत्रु है, तो आप्तकाम व्यक्ति इन्द्रियेच्छा मूलक वासनाओंकी शारीरिक तृप्तिसे आत्मविमुख हो ही जाता है। चतुर्थ अधिकार उनका है कि जो प्रेम करनेसे प्रेम करते हैं; यह वैश्यधर्मियोंके समान अधिकार है। क्योंकि एक हाथमें लेना और दूसरे हाथमें देना रहता है। ऐसा होने

परभी यहींसे प्रेमकी शिक्षा प्रारम्भ होती है। पञ्चम अधिकार उनका है कि जो प्रेम न करनेपरभी प्रेम करते हैं। जैसे माता, पिता आदि। यह अधिकार अति उत्तम है। क्योंकि यह धर्म-सम्बन्धसे युक्त है इस अधिकारमें साधकमें निष्कामभावकी स्फूर्ति होती रहती है। सब प्रकारके प्रेमिकोंमें जब यह पञ्चम अधिकार मिलता है, तब उनके चित्तका प्रेमप्रवाह पुनः शुष्क नहीं होने पाता और क्रमशः वह प्रेमिक जन्म-जन्मान्तरमें अपने चित्त की प्रेमधाराको बढ़ाता हुआ भक्तिकी सहायतासे आनन्दमय ब्रह्म-महासागरकी ओर अग्रसर होताही रहता है। गृहस्थाश्रम इस पवित्र शिक्षाकी भूमि है। षष्ठ अधिकार आत्मारामका है। मिष्टान्नकी इच्छा करनेवाले व्यक्तिके मुखमें जब मिष्टान्न पहुँच जाता है, तब उसको स्वतः ही मूक होना पड़ता है। उसी प्रकार निवृत्तिमार्गके पथिक जब इन्द्रियभूमिको छोड़ परमानन्दमय भगवत्भूमिमें पहुँच जाते हैं, तब बहिःचेष्टाशून्य हो जानेसे यह अवस्था होती है। वस्तुतः यह प्रेमराज्यमें स्वार्थसे अतीत अवस्था नहीं है। और सप्तम अन्तिम अवस्था प्रेमसरोरुहके मूल, प्रेममय भगवान्की कही हुई है। उन्नत भागवत मुक्तात्माओं तथा भगवदवतारोंमें ही इस सर्वोत्तम अवस्थाका शुभदर्शन होता है ॥७॥

ईश्वरानुरागरूपिणी भक्ति कितने प्रकार की है, वह कहा जाता है—

भक्ति दो प्रकार की है, गौणी और परा ॥८॥

सा द्विधा गौणी परा च ॥ ८ ॥

भक्ति दो प्रकारकी है, एकको गौणी और दूसरीको परा कहते हैं। साधनदशाकी भक्ति गौणी है, और सिद्धदशाकी भक्ति परा है ॥ ८ ॥

पराका लक्षण नीचे वर्णन किया जाता है—

स्वरूप प्रकाश करनेके कारण पूर्ण आनन्ददेनेवाली भक्तिको परा कहते हैं ॥ ९ ॥

गौणीभक्ति जिसका वर्णन आगेके सूत्रोंमें आवेगा, उसके अंगोंके साधन द्वारा साधक भक्त क्रमशः अभ्यासवृद्धि करता हुआ भक्तिराज्यमें क्रमशः उन्नतसे उन्नततर अधिकारको प्राप्त करता है और अन्तमें भक्तिकी समाधिदशाको प्राप्त कर लेता है। गौणीभक्तिकी दशामें भक्त अपनेको, अपने प्रियतम भगवान्को और जगतको अलग-अलग देखता है, और अन्तमें जब अभ्यासकी पूर्णतासे भक्तिसागरमें वह एकबारही निमग्न हो जाता है, तो चित्तके एकतत्त्वकी पूर्णतासे वह द्वैतभावरहित होकर अपनेमें और जगत्में सब ओर अपने प्रियतम भगवान्को ही देखता है। यही भक्तिकी अद्वैतदशा पराभक्ति कहाती है। भक्तिकी परा दशामें भक्तको आत्मस्वरूपका साक्षात्कार हो जाता है। परमात्मा आनन्दरूप हैं, इसीलिये पराभक्ति-दशामें भक्तको जब सर्वव्यापी पूर्णस्वरूप आनन्दमय परमात्माका दर्शन होता है, तो पूर्णज्ञानी भक्त परमानन्दसागरमें निमग्न होता है। जैसा

स्वरूपद्योतकत्वात्पूर्णानन्ददा परा ॥ ९ ॥

कि, श्रुतिमें लिखा है कि, 'रसो ह्येवाऽयं यं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'। आनन्दरूप परमात्माको लाभ करके भक्त आनन्दरूप हो जाता है। जीवने अपने स्वरूपको भूलकर प्रकृतिके साथ सम्बन्ध होनेके कारण प्रकृतिगत इच्छा, सुख-दुःख आदि धर्मको अपनेमें आरोपकर लिया है, इसलियेही जीवको जन्म-मृत्युके चक्रमें घटीयन्त्रकी तरह भ्रमण करके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीन प्रकारके दुःखोंको भोगना पड़ता है; क्योंकि आत्माने जब अपनेको अभिमानके कारण प्रकृतिवत् मान लिया है, तो प्रकृतिसे उत्पन्न स्थूल-शरीर, सूक्ष्म-शरीर और कारण-शरीरके साथ आत्माका अवश्यही सम्बन्ध हो जायगा और इसी सम्बन्धके कारण शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सुख-दुःखसमूह उसको अवश्य भोगने पड़ेंगे। परन्तु ज़ब भगवान्की कृपासे पराभक्तिके द्वारा साधकको यह ज्ञान हो जायगा कि, मैं स्थूल-शरीर, सूक्ष्म-शरीर और कारण-शरीरके द्वारा अवच्छिन्न जीव नहीं हूँ, शरीरगत सुखदुःखके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं सर्वतोव्याप्त पूर्ण आनन्दकन्द सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ, तभी उस ज्ञानी भक्तको स्वरूपकी प्राप्ति होती है और वह प्रकृतिके परपारमें स्थित पूर्णसच्चिदानन्द-सागरमें निमग्न होता है। जैसा कि श्रुति-स्मृतिमें लिखा है कि,—

तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव !
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावतः ॥
ज्ञानविज्ञानयज्ञेन मामिष्ट्वात्मानमात्मनि ।

सर्वयज्ञपतिं मां वै संसिद्धिं मुनयोऽगमन् ॥

भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दाऽनुभवात्मनि ॥

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा,
स्वयं यदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

तदा पुमान्मुक्तसमस्तबन्धनः,
तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः ।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा,
भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम् ॥

अधोक्षजालम्भमिहाऽशुभात्मनः,
शरीरिणः संसृतिचक्रसाधनम् ।
तद्ब्रह्मनिर्वाणसुखं विदुर्बुधाः,
ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम् ॥

विनिर्धूताऽशेषमनोमलः पुमान्,
असङ्गविज्ञानविशेषवीर्यवान् ।
यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुन-
र्न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते ॥

यदा रतिर्ब्रह्मणि नैष्ठिकी पुमान्,
आचार्यवान् ज्ञानविरागरंहसा ।
दहत्यवीर्यं हृदयं जीवकोशं,

पञ्चात्मकं योनिमिवोत्थितोऽग्निः ॥
दग्धाशयो मुक्तसमस्ततद्गुणो,
नैवान्तर्बहिरात्मना विचष्टे ।
परात्मनोर्यद्व्यवधानं पुरस्तात्-
स्वप्ने यथा पुरुषस्तद्विनाशे ॥
एवं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त-
आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या-
ग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढम् ॥

ज्ञानी भक्त आत्माका साक्षात्कार करके परमपदको प्राप्त करते हैं। आनन्दरूप सर्वाधार परमात्मामें पराभक्तिके लाभ करनेसे साधकको और कुछ भी प्राप्त करनेको अवशेष नहीं रहता है। निर्विकल्प समाधि-प्राप्त ज्ञानीभक्तको जो असीम आनन्दकी प्राप्ति होती है, उसका वाक्के द्वारा वर्णन नहीं किया जासकता है। इस रीतिसे सच्चिदानन्द-सागरमें निमग्न होनेसे भक्तका समस्त संसारबन्धन छिन्न हो जाता है। पञ्चकोशके साथ आत्माके सम्बन्ध होनेसे जो जीवभावकी उत्पत्ति हुई थी, वह भाव नष्ट होजाता है और पराभक्तिको प्राप्त योगी भगवान्की आनन्द-सत्ताको प्राप्तकरके संसारचक्रके जन्ममृत्युभयसे मुक्त हो जाता है ॥ ६ ॥

अब गौणी भक्तिके भेद और लक्षण कहते हैं—

साधनके द्वारा लाभ करनेके योग्य वैधी और रागात्मिका, इन दोनों भेदोंसे युक्त भक्ति गौणी है ॥ १० ॥

साधनके द्वारा गौणी भक्तिकी प्राप्ति होती है। उसके दो भेद हैं, यथा—वैधी और रागात्मिका। वास्तवमें पराभक्ति ही दोनोंकी लक्ष्यरूप है। भक्तिविज्ञानके अनुसार भक्तका अधिकार चाहे कुछ ही हो, उसको पराभक्तिके राज्यमें पहुँचना होगा। क्योंकि पराभक्ति सिद्धावस्थाका परिणाम है। इस पराभक्तिकी प्राप्तिके लिये साधनकी जो अवस्था है, वह गौणी अवस्था होनेसे उस प्रयत्नकी अवस्थाका नाम गौणी भक्ति है। वह गौणीभक्ति भी पुनः अवस्थाभेदसे दो भागोंमें विभक्त है। उसीकी पहिली अवस्थाका नाम गौणी और उत्तम अवस्थाका नाम रागात्मिका है। साधनके द्वारा गौणी भक्तिकी पुष्टि हुआ करती है। जब विधि और निषेधको मानकर साधक श्रवण, कीर्त्तन, जप, ध्यान, बहिर्याग, अन्तर्याग आदि भगवान्‌के प्रति भक्तिभावके उत्पन्नकारी कार्योंको करता हुआ भक्तिभूमिमें अग्रसर होता है, तभी उस दशाकी भक्ति वैधी कहाती है। क्योंकि भक्तिकी इस दशामें कर्तव्याकर्तव्यका नियम रहता है। इसलिये इसका नाम वैधी है। परन्तु जब इस प्रकारसे वैधी भक्तिका अनुष्ठान करते-करते साधकके चित्तमें भगवान्‌के प्रति एक अलौकिक राग उत्पन्न हो जाता है, जिससे वह भक्त दिन-रात भक्तिभावमें मग्न होकर

साधनलभ्या गौणी वैधी रागात्मिका च ॥ १० ॥

अपूर्व आनन्दका लाभ करता है, तभी साधकके चित्तमें आनन्दामृतसिञ्चनकारी तैलधाराकी नाईं सदा अनवच्छिन्न उस भक्तिप्रवाहको रागात्मिका कहते हैं ॥ १० ॥

अब गौणी भक्तिकी अन्तर्गता वैधी भक्तिका स्वरूपवर्णन किया जाता है—

विधिके द्वारा जिसका साधन होता है ऐसी वैधी भक्ति सोपानरूपिणी है ॥११॥

गुरु और शास्त्रके उपदेशानुसार निषिद्ध साधनोंका त्याग और विहित साधनोंके अभ्याससे की जानेके कारण प्रथम दशाकी भक्तिको वैधी भक्ति कहते हैं। भक्तिकी उन्नत भूमिपर पहुँचनेके लिये यह सोपानरूप है। जैसे सीढ़ीके द्वारा प्रासाद (छत) के ऊपर मनुष्य चढ़ सकता है, वैसेही गुरुके उपदेशानुसार वैधी भक्तिके नव प्रकारके अङ्गोंका साधन करते-करते साधक धीरे-धीरे योगसम्बन्धी प्रत्याहारभूमिको अतिक्रम करके भक्तिके अन्तरराज्यमें प्रवेश करता है। वैधी भक्तिके नव अङ्ग हैं, यथा—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। इन सब अङ्गोंके अनुसार साधक अपनी जीवनचर्य्या जब भगवान्की सेवामें ही लगा देता है; तब

विधिसाध्यमाना वैधी सोपानरूपा ॥ ११ ॥

उसका चित्त सकलकलुष (पाप) से विमुक्त होकर श्रीभगवान्‌की कृपासे उस हृदयमन्दिरविहारी उपास्यदेवका अपूर्व आसनरूप बन जाता है। स्मृतिमें लिखा है कि,—

यथाग्निः सुसमृद्धाऽर्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा तद्विषया भक्तिः करोत्येनांसि कृत्स्नशः॥
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्॥

जैसी प्रज्वलित अग्नि काष्ठसमूहको भस्म कर देती है, ऐसी ही भगवद्विषयिणी भक्ति साधकके चित्तसे पापराशिको समूल निर्मूल कर देती है। भगवान्‌का मधुर नाम कर्णकुहरमें प्रविष्ट होते ही हृदयका समस्त पाप दूर होता है। श्रीभगवान्‌ने निजमुखसे कहा है कि,—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

मैं वैकुण्ठमें नहीं रहता, योगियोंके हृदयमें भी नहीं रहता। परन्तु मेरे भक्तलोग जहाँ मेरा गुणगान किया करते हैं, वहीं मेरा चिरनिवासस्थान है। श्रीगीता आदि में भी कहा है कि,—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ! नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना-
मशेषजन्मोपचितं मलं धियः॥

सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती

यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ।

जो लोग अनन्यचित्त होकर भगवान्‌का स्मरण करते हैं उनकेलिये भगवान् सुलभ हैं। पुण्यसलिला भागीरथी जिस चरणसे निकलकर समस्त संसारको पवित्र करती है उस चरण-पङ्कजकी सेवा करनेसे अनन्त जन्मोंसे सञ्चित चित्तकी मलिनता शीघ्र नष्ट हो जाती है। इस प्रकार वैधी भक्तिका साधक श्रवण-कीर्तनादि अङ्गोंका विधिपूर्वक साधन करता हुआ पवित्रचित्त होकर दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन नामक वैधी भक्तिके अन्तिम तीन अङ्गोंका अभ्यास करता है। इन तीनों अङ्गोंकी परिसमाप्ति रागात्मिका भक्तिमें जाकर होती है। क्योंकि इन तीनों अङ्गोंका सम्बन्ध वैधीसे भी है और रागात्मिकासे भी है।

परन्तु अभ्यासकी रीतिपर भक्तिकी वैधी दशामें भी इन तीनोंका साधन होता है। भगवान्‌को प्रभु समझकर दासभावसे उनकी सेवामें चित्त लगानेका अभ्यास करना दास्यरूप अङ्गका लक्षण है। भगवान्‌को प्रिय मित्र बनाकर उनके साथ मैत्रीभाव स्थापन करनेके लिये यत्न करना सख्यरूप अङ्गका लक्षण है, और ऐसा अभ्यास करते-करते साधककी सकल इन्द्रियोंका व्यापार जब भगवान्‌की विविधप्रकारकी सेवामें ही अभ्यस्त हो जाय तब वैधी भक्तिके अन्तिम साधनरूप आत्मनिवेदनभावकी प्राप्ति होती है। जैसा कि स्मृतियोंमें कहा है—

स वै मनस्तस्य पदारविन्दयो-
वंचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं कुरुष्वाच्युतसत्कथोदये ॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेङ्गसङ्गम् ।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्यां रसनां तदर्पिते ॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥

तात्पर्य यह है कि, उस समय मन भगवान्के चरणकमलोंमें, वचन उनके गुणगानमें, हस्त उनके मन्दिरादिके मार्जनमें, कर्ण उनकी सत्कथाश्रवणमें, नेत्र उनकी मूर्तिके देखनेमें, अङ्ग उनके भक्तोंके गात्र स्पर्श करनेमें, घ्राणेन्द्रिय उनके चरणसरोजके सुगन्धाघ्राणमें, जिह्वा उनको समर्पित प्रसादके रसास्वादनमें, चरण उनके द्वारा अधिष्ठित तीर्थसमूहमें विचरण करनेमें, मस्तक उनके चरणोंमें प्रणाम करनेमें और सकल कामना उनके ही दासत्वमें समर्पित होती हैं। इस रीतिसे जब भक्त वैधी भक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त होता है तभी भगवान्की कृपासे उसके चित्तमें भगवान्के प्रति एक अपूर्व प्रीति उत्पन्न होजाती है जिससे भक्तके

हृदयमें दिन-रात अविरल धारावान् भक्तिस्रोत प्रवाहित होता रहता है। जैसा स्मृतिमें कहा है कि—

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरौष्ठ-
भासारुणायिततनुर्द्विजकुन्दपंक्तिः ।
ध्यायेत्स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णो-
र्भक्त्यार्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत् ॥
सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥
मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाश्रये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥

भगवान्‌की मधुर गुण-कथाका श्रवण और भगवद्रूपका ध्यान करते-करते भक्तका चित्त जब एकाग्र हो जाता है तभी भगवान्‌में श्रद्धा रति और गंगाकी पवित्र धाराकी नाईं अविच्छिन्ना मनोगतिकी प्राप्ति होती है। इसी दशामें रागात्मिका भक्तिका उदय होता है।

गुणभेदसे भक्तिके भेद शास्त्रोंमें अनेक प्रकारके कहे गये हैं। यथा—बृहन्नारदीय स्मृतिमें —

भक्तिर्दशगुणा नृणां पापारण्यदवानलः ।
तामसै राजसैश्चैव सात्त्विकैश्च नृपोत्तम ॥
यश्चान्यस्य विनाशार्थं भजते श्रद्धया हरिम् ।
शृणुष्व पृथिवीपाल सा भक्तिस्तामसाधमा ॥
योऽर्च्चयेत्कैतवधिया स्वैरिणी स्वपतिं यथा ।
नारायणं जगन्नाथं सा वै तामसमध्यमा ॥
देवपूजापरं दृष्ट्वा मत्सरी योऽर्च्चयेद्धरिम् ।
शृणुष्व पृथिवीपाल ! सा भक्तिस्तामसोत्तमा ॥
धनधान्यादिकं यस्तु प्रार्थयन्नर्च्चयेद्धरिम् ।
श्रद्धया परया विष्टः सा भक्ती राजसाधमा ॥
यः सर्वलोकविख्यातं कीर्तिमुद्दिश्य माधवम् ।
अर्च्चयेत्परया भक्त्या सा वै राजसमध्यमा ॥
सालोक्यादिपदं यस्तु प्रार्थयन्नर्च्चयेद्धरिम् ।
विज्ञेया पृथिवीपाल ! सा भक्ति राजसोत्तमा ॥
यस्तु स्वकृतपापानां क्षयार्थं पूजयेद्धरिम् ।
श्रद्धया परया राजन् ! सा भक्तिः सात्त्विकाधमा ॥
हरेरिदं प्रियमिति कृत्वा मनसि यो नरः ।
कर्म्माणि कुरुते भूयो भक्तिः सात्त्विकमध्यमा ॥
विधिबुद्ध्यार्च्चयेद्यस्तु दासवच्चक्रपाणिनम् ।
भक्तीनां प्रवरा ज्ञेया सा भक्तिः सात्त्विकोत्तमा ॥
नारायणस्य महिमां कांचिच्छ्रुत्वाऽपि यो नरः ।
तन्मयत्वेन सन्तुष्टः सा भक्तिः सात्त्विकोत्तमा ॥

अहमेव परो विष्णुर्मयि सर्वमिदं जगत्।
इति यः सततं पश्येत् तं विद्यादुत्तमोत्तमम् ॥
एवं दशविधा भक्तिः संसारच्छेदकारिणी।
तत्रापि सात्त्विकी भक्तिः सर्वकामफलप्रदा ॥

विष्णुमें सब प्रकारकी भक्ति ही मनुष्यके पाप-काननके विनाशके लिये दावानल स्वरूप है। वही भक्ति त्रिगुण अर्थात् सत्व रज तमके अनुसार दशधा विभक्त होती है। हे भूपते! सुनो, दूसरेके विनाशके लिये जो श्रद्धासहित हरिभक्ति की जाती है, वह अधम तामस है। व्यभिचारिणी स्त्री जिस प्रकार अपने पतिका स्मरण करती है, उसी प्रकार जो मनुष्य कुटिलतासे परमात्माका भजन करता है, उस भक्तिको मध्यम तामस कहते हैं। दूसरेको देवपूजापरायण देखकर मात्सर्यपूर्वक जो भक्ति की जाती है, वह उत्तम तामस है। धनरत्नादिकी प्रार्थनापूर्वक परम श्रद्धाके साथ जो हरिभक्ति की जाती है, वह भक्ति अधम राजस है। जो व्यक्ति परमभक्तिके साथ जगद्विख्यात कीर्तिके लिये भगवान्की पूजा करता है, वह उसकी भक्ति मध्यम राजस कहाती है। मनुष्य सालोक्यादि मुक्तिकी इच्छासे भगवान्की अर्चना करता है, उसकी भक्ति उत्तम राजस है। जो व्यक्ति अपने पापक्षयके लिये परम श्रद्धाके साथ विष्णुकी भक्ति करता है, वह भक्ति अधम सात्विक है। हे राजन्! जो मनुष्य 'यह कार्य विष्णुको प्रिय है' इस विचारसे जो कर्मका अनुष्ठान करता है, उसकी भक्ति मध्यम सात्विक है। जो मानव कर्तव्य-

ज्ञानपूर्वक चक्रपाणि श्रीभगवान्‌की दासवत् पूजा करता है, उसकी भक्ति उत्तम सात्विक है और यही भक्ति श्रेष्ठ है। जो व्यक्ति नारायणकी किसी प्रकारकी महिमाके श्रवणमें तन्मय-भावसे प्रसन्नता प्राप्त करता है, उसकी भक्ति उत्तम सात्विक है। 'मैं ही विष्णु हूँ, मुझमें ही सारा जगत् प्रतिष्ठित है, जो इस प्रकारकी नित्य उपलब्धि करता है, उसकी भक्ति ही उत्तमोत्तमा अथवा सर्वश्रेष्ठा है। इन दश प्रकारकी भक्तियोंसे ही संसाररूपी बन्धनका नाश होता है। तथापि सात्विक भक्ति सब काम-नाओंको देनेवाली है ॥ ११ ॥

अब रागात्मिका नामिका भक्तिका वर्णन करते हैं—

रसका अनुभव करनेवाली आनन्द और शांतिदायिनी भक्ति रागात्मिका है ॥ १२ ॥

गौणीभक्तिकी अङ्गभूता रागात्मिका भक्तिके उदय होनेसे साधकमें प्रीतिकी विशुद्धता हो जानेके कारण वह अलौकिक रसके अनुभव करनेमें समर्थ होता है। धारणा-भूमिकी दृढता होनेसे साधकका चित्त जब रात-दिन भगवच्चरणचिन्तनमें ही निमग्न रहता है, तब वह भागवतप्रधान एक अपूर्व प्रीतिरसके अनुभव करनेमें समर्थ होता है, जिसके लिये स्मृतिमें कहा गया है कि—

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षात्
हरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।

रसानुभाविकानन्दशान्तिदा रागात्मिका ॥ १२ ॥

प्रणयरसनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥
त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्द्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥
एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्यार्द्रवद्हृदय उत्पुलकः प्रमोदात् ।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
स्तच्चापि चित्तवडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते ॥
भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो
भूयादनन्तमहताममलाशयानाम् ।
येनाञ्जसोल्वणमुरुव्यसनं भवाब्धिं
नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः ॥

भक्ताग्रगण्य साधक भक्तिरसमें द्रवीभूत होकर उसी रसपानमें उन्मत्त होते हुए क्षणकालके लिये भी अपने चित्तको उस चरण-कमलसे वियुक्त नहीं करते हैं। भक्तका चित्त जब इस प्रकारसे भगवान्‌में निविष्ट हो जाता है, तब भगवद्रसके आस्वादनसे भक्तके हृदयमें परमानन्दज्योति और शान्तिका उदय होता है यही रागात्मिका भक्तिकी भिन्न-भिन्न दशाओंमें प्राप्तसाधकके चित्तका अपूर्व और अलौकिक भाव है। स्मृतिमें भी लिखा है कि—

भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र-
मानन्दवाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः ।
विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो
नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः ॥

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजन् !
ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥

भगवान्में इस प्रकारकी रागात्मिका भक्तिके उदय होनेसे साधकोंका चित्त पुलकित होकर गद्गद् हो जाता है और उनकी आंखोंसे अविछिन्न धारारूपसे आदन्दाश्रु-प्रवाह वहने लगता है और सकल साधनोंकी फलरूप पवित्र शान्ति उस भक्तशिरोमणिको प्राप्त हो जाती है। पूर्वावस्था अर्थात् वैधी भक्तिकी अवस्थामें भक्त विधिनिषेध मानता हुआ बाहरकी ओर जैसा लक्ष्य रखता था, उस प्रकार बहिर्लक्ष्य इस रागात्मिका भक्तिकी दशामें नष्ट हो जाता है। इस दशामें वह भाग्यवान् भक्त अपने अन्तर्जगत्में ही रहकर रागात्मिका भक्तिके विशेष-विशेष रागोंमें उन्मज्जन निमज्जन करता है। उन्हीं विशेष विशेष भक्ति रागोंको "आसक्ति" भी कहते हैं। यह रागात्मिका भक्ति बड़े भाग्यसे उदित होती है ॥१२॥

इस भावके उदय होनेसे भक्तकी कैसी दशा होती है, सो कहते हैं—

मत्तता, स्तब्धता और आत्मारामता होजाती है ॥१३॥

रागात्मिका भक्तिमें निमग्न साधक कभी मत्त, कभी स्तब्ध और कभी आत्माराम हो जाते हैं। योगकी धारणा भूमिमें पहुँचे हुए भक्त जब रससमुद्रके भिन्न भिन्न भावमें निमग्न होकर अपूर्व आनन्द और शान्तिको प्राप्त करते हैं, तब उनके चित्तसे विषयवासना उसी क्षणमें नष्ट हो जाती है और उस समय आनन्दसागरमें उन्मज्जन और निमज्जनकारी भक्तके रसानुभवके तारतम्यानुसार उनके बहिर्लक्षण भी भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। रागात्मिका भक्तिमें निमग्न साधक कभी तो रागामृत पान करके उन्मत्त होजाते हैं, कभी हृदयके अन्तःस्थलमें रागरूप अमृतको पूर्णरूपसे भरकर पूर्णकुम्भकी तरह स्तब्ध और निर्वाक् रहते हैं और कभी हृदयकमलमें विराजमान आत्मामें अपूर्व आसक्तिको प्राप्त होकर आनन्दकी पवित्र धारामें अवगाहन करते हुए आत्माराम होजाते हैं, यही रागात्मिका भक्तिका चरमफल है। जैसा कि स्मृतिमें लिखा है कि—

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनानन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद्भक्त्या विनाशयः॥
यथाग्निना हेममलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय

मत्तस्तब्धात्मारामत्वम् ॥ १३ ॥

मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥

एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय—
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचित्
हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्यनिर्वृताः ॥

क्वचिद्रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः ।
क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित् ॥
नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित् ।
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह ॥
क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृतः ।
अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः ॥

निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्
वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि ।

यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्‌गदं

प्रोत्कण्ठ उद्‌गायति रौति नृत्यति ॥

यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धस-

त्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम् ।

मुहुः श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते

नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः ॥

भगवान्‌में रागात्मिका भक्तिके लाभ करनेसे भक्तके चित्तसे कोटि कोटि जन्मसञ्चित समस्त पाप विनष्ट होजाते हैं और उनके चित्तकी विषयवासना भगवदनुरागकी पवित्र अग्निमें शुष्क काष्ठकी तरह दग्ध होजाती है, तब उस भक्तको लोकलज्जा लोक-भय इत्यादि किसी वस्तुका विचार नहीं रहता है। वे निर्लज्ज होकर कभी उच्चहास्य करते हैं, कभी आनन्दभावसे विगलित होकर नृत्य करते हैं और कभी भगवान्‌की मधुर गुणकथाओंको उच्चस्वरसे गाते हुए निर्लज्ज होकर सर्वत्र भ्रमण करते हैं। मधु-पानलोलुप भ्रमर जैसे पुष्प-मधुके लाभ करते ही निस्तब्ध होकर उसको पान करता रहता है, ऐसेही वे भक्त कभी-कभी भगवान्‌के आनन्दामृतको पान करते हुए निस्तब्ध रहते हैं, कभी भगवान्‌के विषयमें अलौकिक वर्णन करते-करते आनन्दाश्रुधारासे निज वक्षःस्थलको प्लावित करते हैं और कभी आत्मामें ही एकान्त रति प्राप्तकर जगत्‌को भूल जाया करते हैं।

यही रागात्मिका भक्तिकी अपूर्व महिमा है। यद्यपि स्वरूप-ज्ञानकी प्राप्तिसे आत्मारामदशाको सर्वश्रेष्ठ भक्त पराभक्तिमें प्राप्त

करता है; परन्तु इस रागात्मिका भक्तिमें भी भगवद्भावमें विभोर भक्त भावकी सहायतासे आत्माराम हो सकता है। भगवद्भावके किसी भावको लेकर भावरससागरमें उन्मज्जन निमज्जन करना ही रागात्मिका भक्तिका यथार्थ स्वरूप है ॥ १३ ॥

रागात्मिका भक्तियुक्त भक्तका भाव वर्णन करके भाव-पदार्थके साथ ईश्वर तथा कार्यब्रह्मका क्या सम्बन्ध है सो दिखाया जाता है—

ईश्वर भावगम्य है, भाव शब्दके द्वारा प्रकाशित होता है इसलिये कार्यब्रह्म नामरूपात्मक है ॥ १४ ॥

भगवान् भावके द्वारा जाने जाते हैं। भाव शब्दके द्वारा प्रकाशित होता है। इसलिये जगत् नामरूपात्मक है। जहां भाव है, वहां रूप है और जहां भाव है, वहां शब्द होना निश्चित है। दूसरी ओर भावसे रूप और शब्दसे नाम कार्य-कारणरूपसे प्रकट होते हैं। अन्ततः भाव और शब्दात्मक जगत्का नामरूपात्मक होना भी स्वतः सिद्ध है। मन, वाणी और बुद्धिसे अतीत होनेपर भी भावुक साधक केवल भावके द्वाराही भगवान्का साक्षात्कार करते हैं। श्रुतिमें भी कहा है, कि—

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥

भावके द्वारा गम्य, भाव और अभाव दोनों ही के कर्ता,

भावगम्य ईश्वरः शब्दद्योत्यश्च भावस्तस्मान्नामरूपात्मकं कार्यब्रह्म ॥१४॥

सृष्टि स्थिति और प्रलयके अधीश्वर, शिवरूप भगवान्‌को जो भक्त जानते हैं उनको विदेहमुक्ति लाभ होती है। तटस्थज्ञानसे स्वरूप-ज्ञानमें पहुँचते समय भावही प्रधान अवलम्बन है। तटस्थज्ञान वह है कि जहाँ ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय इस त्रिपुटीके रहते हुए आत्माके साथ सम्बन्ध स्थापित हो और स्वरूपज्ञान वह है कि जहाँ त्रिपुटीके विलय होनेसे अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूपका साक्षात्कार हो। इन दोनों ज्ञानोंकी सन्धिमें भावकी आवश्यकता है, क्योंकि तटस्थ ज्ञानभूमिसे स्वरूप ज्ञानभूमिमें पहुँचते समय कुछ स्थूल अवलम्बन न रहनेसे साधकको भावका आश्रय लेना पड़ता है। उस समय मैं सत्‌रूप हूँ, मैं चित्‌रूप हूँ, मैं आनन्दरूप हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार उच्चभावोंके अवलम्बनसे साधक परमात्माका स्वानुभव प्राप्त करके कृतकृत्य हो सकता है। इसीलिए स्मृतियोंमें भावकी ऐसी महिमा वर्णित की गई है। यथा—

भावेन लभ्यते सर्वं भावेन देवदर्शनम्।
भावेन परमं ज्ञानं तस्माद्भावावलम्बनम्॥

भावात्परतरं नास्ति त्रैलोक्ये सिद्धिमिच्छताम्।
भावो हि परमं ज्ञानं ब्रह्मज्ञानमनुत्तमम्॥

भावात्परतरं नास्ति येनानुग्रहवान्भवेत्।
भावादनुग्रहप्राप्तिरनुग्रहान्महासुखी॥

भावेन लभ्यते सर्वं भावाधीनमिदं जगत।
भावं विना महाकाल! न सिद्धिर्जायते क्वचित्॥

भावात्परतरं नास्ति भावाधीनमिदं जगत्।
भावेन लभ्यते योगस्तस्माद्भावं समाश्रयेत्॥

इन स्मृतियोंका तात्पर्य यह है कि—भावके द्वारा सकल वस्तुओंका लाभ होता है, भावके द्वारा भगवान्का साक्षात्कार होता है, भावके द्वारा परमज्ञानकी प्राप्ति होती है इसलिये भावका अवलम्बन करना चाहिये। सिद्धि-प्राप्तिकेलिये भावसे श्रेष्ठ कोई वस्तु नहीं है, भावके द्वारा ब्रह्मज्ञानका लाभ होता है, भावका आश्रय करनेसे भगवान्की कृपा होती है जिससे परम सुख लाभ होता है। समस्त जगत् भाव ही के अधीन है—इसलिये भावके विना कदापि सिद्धि नहीं होती है। यद्यपि आन्तरिक भावोंके प्रकाश करनेमें बहिरङ्गोंकी चेष्टा सहायक होती है तथापि शब्द ही इसमें प्रधान सहायक है। अधिकन्तु शब्दके द्वारा ही बहिर्जगत्में आन्तरिक भावोंके बने रहनेमें साक्षात् सहायता होती है। जैसा कि क्षणभा (विद्युत्) एक क्षणकेलिये प्रभादानके द्वारा जगत्को आलोकित करके दूसरे क्षणमें ही मेघगर्भमें विलीन होकर जगत्को द्विगुण अन्धकारसे परिपूर्ण कर देती है; ऐसेही अन्तर्जगत्में प्रकाशित होनेपर भी यदि बहिर्जगत्में शब्दके द्वारा प्रतिष्ठित न हो तो भावके अप्रकाशके कारण बहिर्जगत् भाव-शून्यतारूप अन्धकारसे भर जाता है। कारणब्रह्मके साथ भावका सम्बन्ध है और भाव शब्दद्वारा प्रकाशित होता है। इस विषयमें इस प्रकारकी आशङ्का की जा सकती है कि, योगदर्शनमें "तस्य-वाचकः प्रणवः" प्रणव ईश्वरका वाचक है, ऐसा कहा गया है,

परन्तु इस सूत्रमें "शब्दद्योत्यश्च भावः" अर्थात् शब्द भावका द्योतक है, ऐसा कह रहे हैं तो इस विरुद्ध भावका सामञ्जस्य क्या है ? क्योंकि वाचक और द्योतक एकही अर्थके प्रकाशक हैं। इसका समाधान यह है कि यदि शास्त्रमें वाचक और द्योतक दोनों ही एक अर्थको प्रकाश करते हैं परन्तु उसमें कुछ पार्थक्य भी है। जो बिना किसीकी सहायतासे स्वयं ही अर्थको प्रकाशित करते हैं, उनको वाचक कहते हैं और जो किसीके अवलम्बनसे अर्थको प्रकाश करते हैं उसका नाम द्योतक है। प्रणवरूप शब्द ईश्वरका वाचक है, क्योंकि सृष्ट्युन्मुख प्रकृति-पुरुषके प्रथम सम्मेलनसे ही प्रणवकी उत्पत्ति हुई है, इसलिये साक्षात् सम्बन्धसे प्रणव ही ईश्वरका वाचक हो सकता है। इस प्रकारसे प्रणवरूप शब्दके साथ ईश्वरका साक्षात् सम्बन्ध होने पर भी प्रणवके द्वारा ईश्वरको अवगत होकर ईश्वरके अवलम्बनसे शब्द ईश्वरके भाव-समूहको प्रकट करता है इसलिये "भावः शब्दद्योत्यः" कहा गया है शब्दवाचकः नहीं कहा, अतः अविरुद्ध हुआ। वही भाव और शब्द रूपान्तरसे रूप और नाममें परिणत होते हैं। जगदुत्पत्ति-कारी भाव जगत्में रूप और शब्दके द्वारा प्रकाशित होता है। नाम शब्दका परिणाममात्र है इसलिये दृश्यमान जगत् अर्थात् कार्यब्रह्म नामरूपात्मक है क्योंकि कारणका गुण ही कार्यरूपसे परिणत होता है। कारणमें जब भावका सम्बन्ध है और कार्य-कारण ही का विवर्तमात्र है और कारणसे सम्बन्धयुक्त भाव नाम और रूपके द्वारा कार्यमें प्रकाशित होता है तो कार्यब्रह्म

नामरूपात्मक है यह विज्ञान सुप्रसिद्ध हुआ। इसलिये ही श्रुतिमें लिखा है कि :—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्तो ह्यस्य हरयः शतादश ॥

"नामरूपे व्याकरवाणि"

"सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते"

"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता"।

जब कारणब्रह्म मायाके आश्रयसे बहुरूप होकर कार्यब्रह्मरूपसे विवर्तित होते हैं तो नाम और रूपहीके अवलम्बनसे होते हैं। कारणब्रह्मका कार्य, कार्यब्रह्मरूपी जगत् है। भाव जब अन्तिम अवलम्बन रहकर लयोन्मुख होता हुआ स्वरूपज्ञानमें पहुँच जाता है वह और बात है; परन्तु जब लयोन्मुख न हो, तो भावसे रूप और शब्दसे नाम कारणकार्यरूपसे उत्पन्न हो जाता है। इस कारण मानना ही पड़ेगा कि, कार्यब्रह्मरूपी जगत् नामरूपात्मक है ॥ १४ ॥

भावके प्रसङ्गसे ज्ञान और अज्ञानभूमिका निर्देश किया जाता है—

भावमय दृश्य चतुर्दश प्रकारके होनेसे सप्त ज्ञानभूमि और सप्त अज्ञानभूमि है ॥ १५ ॥

भावमयदृश्यस्य चतुर्दशविधतया सप्त ज्ञानभूमयः सप्ताऽज्ञानभूमयः ॥१५॥

भावमय दृश्य चतुर्दश प्रकारसे विभक्त है। श्रुतिमें भी लिखा है कि—

ॐ ये ते पाशाः सप्त सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति ।

समस्त दृश्य वस्तुओंके सात-सात विभाग हैं। इसलिये सात ज्ञानभूमि और सात अज्ञानभूमि हैं। परमात्माका आधिभौतिक स्वरूप कार्यब्रह्म विराट् है उसकी भी वेदमें चतुर्दश भुवनरूपसे व्याख्या की गई है। सत्त्व और तम, पुण्य और पाप, प्रकाश और अन्धकारके अनुसार विराट् पुरुषकी नाभिके ऊपर सप्तलोक और नीचे सप्तलोक, इस तरहसे चतुर्दशलोक विद्यमान हैं। और स्मृतिमें भी लिखा है कि—

स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः ।
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान् ॥
यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः ।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः ॥

उस सहस्रऊरु, सहस्रपाद, सहस्रचक्षु, सहस्रमुख और सहस्रशीर्ष पुरुषके शरीरमें समस्त लोककी कल्पना होती है। उनकी कटि (कमर) के ऊपर सात लोक और कटिके नीचे सात लोक रहते हैं। कार्य और कारणके सम्बन्धके अनुसार व्यष्टि-सृष्टिमें भी इसीलिये सब पदार्थ सात प्रकारके होते हैं। यथा—सप्त व्याहृति. सप्तदर्शन, सप्त धातु इत्यादि।

जैसा कि, वेदमें कहा है—

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः ।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥

सप्त प्राण सप्त अग्निकी ज्वालाएँ, सप्त समिधाएँ, सप्त होम और सप्त लोक, जिनमें ये सब विद्यमान हैं और प्राण भी विचरण करते हैं। स्मृतिमें भी लिखा है:—

अन्ये भेदाश्च भो देवाः श्रूयन्तां सप्तधा मम ।
स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चेषु व्याप्तोस्मि सप्तरूपतः ॥
अज्ञानज्ञानयोरस्मि भूमयः सप्त सप्त च ।
ऊर्ध्वलोकाश्च ये सप्त ह्यधोलोकाश्च सप्त ये ॥
अहमेवास्मि ते सर्वे सप्त प्राणास्तथैव च ।
सप्त व्याहृतयः सप्त समिधः सप्त दीप्तयः ॥
अहमेवास्मि भो देवाः ! सप्त होमा न संशयः ।
वारा वै सप्त भूत्वाऽथ कालं हि विभजाम्यहम् ॥
सप्त भूम्यनुसारेण ज्ञानस्य त्रिदिवौकसः ।
सप्तज्ञानाधिकाराश्चोपासनायास्तथैव ते ॥
सप्तकर्माधिकाराश्च सर्वे तेऽस्म्यहमेव भोः ।
सप्त चक्रविभेदेषु प्राणावर्तात्मकेष्वहम् ॥
पीठानां स्थापनं कार्यमाविर्भूय करोमि च ।
कृष्णरक्तादिका वर्णा भूत्वा च सप्त संख्यकाः ॥
अहमेव जगत्सर्वं नितरां सम्प्रकाशये ।
सप्तच्छायास्वरूपेण पुनश्चाहमिदं जगत् ॥

गभीरध्वान्तपुञ्जेन सर्वमाच्छादयामि च ।
लौकिकं भावराज्यञ्च सप्त गौणरसैरहम् ॥
व्यनज्मि साधकान्भूयः सुदिव्येऽलौकिके रसे ।
सप्त मुख्यरसैरेवोन्मज्जये च निमज्जये ॥
जीवानां स्थूलदेहेषु व्याप्तास्मि सप्त धातुभिः ।
जीवाधारक्षितावस्यां व्याप्तास्मि च तथैव तैः ॥
मद्वाचकस्य भो देवाः ! प्रणवस्य निरन्तरम् ।
सप्ताङ्गानि स्वराः सप्त सम्भूयोत्पादयन्ति च ॥
सृष्टिं शब्दमयीं सर्वां वैदिकीं लौकिकीं तथा ।
तीर्थानां सप्त भेदा वै पीठानाञ्च दिवौकसः ॥
अनार्यमानवानाञ्च सप्त भेदा यथोचिताः ।
सप्ताधिकारा ये देवाः आर्यजातेः प्रकीर्तिताः ॥
सप्त स्थूलप्रपञ्चस्य शक्तयश्चाहमेव ताः ।
सप्त सागररूपेण सदा पर्यावृतास्ति हि ॥
निवासभूमिर्जीवानां मयैव सुरसत्तमाः ।
उपासकगणान् सप्त-मातृकारूपमाश्रिताः ॥
अहन्तूपासनामार्गे विधायाग्रेसरान् हि तान् ।
उपासनानदीस्नातान्स्वसमीपं नयामि च ॥
भूमिर्दार्शनिकीः सप्त निर्माय ताभिरेव च ।
आरोप्य ज्ञानसोपानं साधकास्तत्त्ववेदिनः ॥
न यस्मात् पुनरावृत्तिस्तत्कैवल्यपदं नये ।

हे देवगण ! मेरे सात प्रकारके भेद और सुनिये । मैं सप्त-

रूपसे स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्चमें परिव्याप्त हूँ। सप्तज्ञानभूमि मैं हूँ और सप्त-अज्ञानभूमि भी मैं ही हूँ। जो सप्त ऊर्द्ध्वलोक और सप्त अधोलोक हैं, वे सब मैं ही हूँ और उसी प्रकार हे देवगण ! सप्त प्राण, सप्त दीप्ति, सप्त समिधा, सप्त होम और सप्त व्याहृति निश्चय मैं ही हूँ। सप्त दिन (वार) होकर मैं ही कालको विभक्त करती हूँ। हे देवगण ! ज्ञानकी सप्त भूमिकाओंके अनुसार सप्त ज्ञानाधिकार, सप्त उपासनाधिकार और सप्त कर्माधिकार मैं ही हूँ। प्राणावर्तरूपी सप्त चक्रोंमें मैं आविर्भूत होकर पीठ स्थापन करती हूँ। कृष्ण रक्त आदि सप्त रङ्ग होकर मैं ही सम्पूर्ण जगतको प्रकाशित करती हूँ। पुनः मैं सप्त छाया रूपसे सम्पूर्ण जगत्को निबिड़ तमसमूहसे आच्छन्न कर देती हूँ। सप्त गौण रस रूपसे मैं लौकिक भावराज्यको प्रकट करती हूँ और पुनः सप्त मुख्य रसोंके द्वारा ही मैं अलौकिक सुदिव्य रसोंमें साधकोंको उन्मज्जन निमज्जन कराती हूँ, सप्त धातुओं द्वारा मैं जीवोंके स्थूल देहोंमें व्याप्त हूँ और इसी प्रकार सप्त धातुओं द्वारा मैं जीवाधार इस पृथिवीमें परिव्याप्त हूँ। हे देवगण ! मेरे वाचक प्रणवके सप्त अङ्ग सप्त स्वर होकर सकल वैदिक और लौकिक शब्दमयी सृष्टिको निरन्तर उत्पन्न करते हैं। हे देवतागण ! तीर्थोंके सप्त भेद, पीठोंके सप्त भेद, अनार्य मनुष्योंके सप्त भेद, आर्यजातिके सप्त अधिकार और स्थूल प्रपञ्चकी सप्त शक्तियाँ ये सब मैं ही हूँ। हे देवतागण ! सर्वदा सप्त सागर रूपसे मैंने ही जीवोंकी निवासभूमिको आवृत कर रक्खा है। सप्त मातृका रूपको आश्रय करके मैं ही

उपासकोंको उपासनामार्गमें अग्रसर करके उपासनामें प्रवीण उनउन उपासकोंको अपने निकटस्थ कर देती हूं और सप्त दार्शनिक भूमिको बना कर उन्हींसे मैं तत्त्वज्ञानी साधकोंको ज्ञानसोपानमें आरूढ़ करा कर जिससे पुनरावृत्ति नहीं होती, उस कैवल्यपदमें पहुँचा देती हूँ।

इन सब विचारोंके अनुसार ज्ञानभूमि और अज्ञानभूमिके भी सात सात करके चतुर्दश विभाग किये गये हैं॥ १५॥

इसी तरहसे रसका विभाग किया जाता है:—

रसज्ञान भी चतुर्दश प्रकारका है उसमें सात मुख्य और सात गौण हैं॥ १६॥

रसके ज्ञानमें भी चौदह प्रकारके भेद हैं, उनमें सात रस प्रधान और सात अप्रधान हैं। गौण सात रस निम्नभूमिके हैं इसलिये वे साक्षात् उन्नतिकर नहीं हैं परन्तु मुख्य सात रस साक्षात् उन्नतिके देनेवाले हैं जिनका विवरण आगे किया जाता है। जैसे एक ब्रह्माण्डके उत्तम और मध्यम भेदसे सात और सात इस प्रकार चौदह भेद हैं, उसी प्रकार भावरस सागरके भी चौदह भेद हैं। वस्तुतः दृश्यरूपी जगत्के सब विभागोंके सात सात भेद होते हैं, जैसे पूर्वसूत्रमें कहा गया है। वे ही सात भेद पुनः प्रकृतिके स्वभावसिद्ध द्वन्द्वरूप होनेसे चौदह बन जाते हैं। जैसे एक ब्रह्माण्डमें सत्त्वमय लोक भू, भुव, स्व आदि सात हैं और

रसानुभवश्चतुर्दशविधस्तत्र सप्त गौणाः सप्त मुख्याः॥ १६॥

दूसरी ओर तमोमय अतल, वितल, सुतल आदि सात लोक अलग हैं। इसी द्वन्द्वविज्ञानके अनुसार भगवद्भाव-प्रकाशक रस भी मुख्य और गौणरूपसे चौदह हैं और इस प्रकार चौदह प्रकारके रसोंका होना भी दार्शनिक विज्ञानसे सिद्ध ही है॥ १६॥

अब रसोंका वर्णन किया जाता है—

हास्य आदि रस गौण हैं और दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति गुणकीर्त्तनासक्ति और तन्मयासक्ति ये सात मुख्य रस हैं॥ १७॥

हास्य आदि सात प्रकारकी आसक्तियाँ गौण और दास्य आदि सात प्रकारकी आसक्तियाँ मुख्य हैं। रसके भावोंको जाननेवाले पूर्वाचार्य्योंकी यह सम्मति है कि यह सृष्टि शृङ्गारप्रचुरा है; अर्थात् प्रकृति और पुरुषके शृंगारके द्वारा ही समस्त जगत्की उत्पत्ति हुई है। श्रुतिमें लिखा है कि—

"तमसासीत् तमसा गूढमग्रे प्रकेतं सलिलम्।
नाऽसदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमपरो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राज्या अह्न आसीत्प्रकेतः।

हास्यादयो गौणा दास्यासक्ति-सख्यासक्ति—वात्सल्यासक्ति-कान्तासक्त्यात्मनिवेदनासक्ति—गुणकीर्तनासक्ति—तन्मयासक्तयश्च मुख्याः॥ १७॥

आसीदवातं स्वधया तदेकं तस्मादन्यान्न परः किञ्चनास ॥
कामस्तदग्रे समवर्त्तताधिमनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो वन्धुरसतो निरविन्दन् हृदि प्रतिष्या कवयो मनीषा" ॥
"आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे
स्यादथ प्रजायेय" "स तपस्तप्त्वा मिथुनमैच्छत्"
तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥
यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नञ्च जायते ॥

ब्रह्माण्डकी प्रलयदशामें सत् असत् आकाश आदि कोई भी नहीं थे, केवल सर्वत्र व्याप्त गंभीर अन्धकार था, मृत्यु नहीं थी इसलिये अमृत भी नहीं था, दिन नहीं था इसलिये रात्रि भी नहीं थी, केवल एकमात्र परमात्मा ही विद्यमान थे। तदनन्तर प्रलयके गर्भमें लयप्राप्त जीवोंके समष्टि-संस्कारमें जब अङ्कुर उत्पन्न होनेका समय आया तब परमात्माने तप करके मैथुनकी इच्छा की। उनका यह तप मनुष्योंके ऐसा साधारण तप नहीं है, परन्तु पूर्व कल्पके अनुसार सृष्टिके विषयमें ज्ञानमात्र है। इस ज्ञानके द्वारा प्रेरित होकर जब उन्होंने एकसे बहुत होनेकी इच्छा की, तब उन्हींके शरीरसे प्रकृतिरूपिणी जायाकी उत्पत्ति हुई, जिनके साथ मिथुनी-भावका फलरूप ही शृङ्गारप्रचुरा यह सृष्टि है। स्मृतिमें भी लिखा है कि—

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥

परमात्मा अपनी देहको दो भागोंमें विभक्त करके आधेमें पुरुष और आधेमें नारी बने और उसी नारीके गर्भमें विराट्की उत्पत्ति की। और ऐसा भी किसी-किसी स्मृतिमें लिखा है कि—

योगेनात्मा सृष्टिविधौ द्विधारूपो बभूव सः ।
पुमांश्च दक्षिणार्धाङ्गो वामार्धा प्रकृतिः स्मृता ॥
तां ददर्श महाकामी कामधारां सनातनः ।
अतीव कमनीयाञ्च चारुपङ्कजसन्निभाम् ॥
दृष्ट्वा तां तु तया सार्धं रासेशो रासमण्डले ।
रासोल्लासेषु रसिको रासक्रीडां चकार ह ॥
नानाप्रकारशृङ्गारं शृङ्गारो मूर्तिमानिव ।
चकार सुखसम्भोगं यावद्वै ब्रह्मणो दिनम् ॥
ततः स च परिश्रान्तस्तस्या योनौ जगत्पिता ।
चकार वीर्याधानञ्च नित्यानन्दे शुभक्षणे ॥
गात्रतो योषितस्तस्य सुरतान्ते च सुव्रत ! ।
निःससार श्रमजलं श्रान्तायास्तेजसा हरेः ॥
महाक्रमणक्लिष्टाया निःश्वासश्च बभूव ह ।
तदा वव्रे श्रमजलं तत्सर्वं विश्वगोलकम् ॥
स च निःश्वासवायुश्च सर्वाधारो बभूव ह ।
निःश्वासवायुः सर्वेषां जीवानाञ्च भवेषु च ॥

घर्मतोयाधिदेवश्च बभूव वरुणो महान् ।
तद्वामाङ्गाच्च तत्पत्नी वरुणानी बभूव सा ॥
अथ सा कृष्णचिच्छक्तिः कृष्णगर्भं दधार ह ।
शतमन्वन्तरं यावज्ज्वलन्ती ब्रह्मतेजसा ॥
शतं मन्वन्तरान्ते च कालेऽतीतेऽपि सुन्दरी ।
सुषाव डिम्बं स्वर्णाभं विश्वाधारालयं परम् ॥

भगवान्के चित्तमें जब सृष्टि रचनेकी इच्छा हुई तब योगके द्वारा उन्होंने अपने शरीरको दो भागोंमें विभक्त कर लिया। उन दो भागोंमेंसे दक्षिणभाग पुरुषरूप और वामभाग प्रकृतिरूप होगया। तदनन्तर श्रीभगवान्ने कोमलपद्मकी ऐसी अत्यन्त सुन्दरी उस स्त्रीको कामातुर देखकर उसके साथ शृङ्गारसम्बन्धी बहुत लीला की और शुभकालमें जगत्पिता परमेश्वरने उसके गर्भमें वीर्याधान कर दिया। इस रतिक्रीड़ाके अन्तमें प्रकृतिके अङ्गसे श्रमजल निकलने लगा और अति आक्रमणके क्लेशसे दीर्घश्वास बहने लगा। प्रकृतिके अङ्गसे निकले हुए श्रमजलसे समस्त विश्वगोलक आवृत हुआ और निःश्वासके द्वारा समस्त जीवोंके प्राणरूप सर्व्वाधार वायुकी उत्पत्ति हुई। रतिश्रमरूप कारणसे उत्पन्न पसीनेके बिन्दुओंकी अधिदैव शक्तिरूपसे वरुणदेव उत्पन्न हुए एवं वरुणदेवके वाम अङ्गसे उनकी स्त्री वरुणानीकी उत्पत्ति हुई। तदनन्तर श्रीभगवान्की शक्तिरूपिणी प्रकृति माताने ब्रह्मतेजसे तेजस्विनी होकर शतमन्वन्तर कालपर्य्यन्त गर्भ धारण करके पश्चात् सुवर्ण सदृश उज्वल एक अण्डका प्रसव किया।

यही समस्त जीवोंका आधार स्वरूप ब्रह्माण्ड कहा जाता है। भक्तिके चतुर्दश रस इसी सृष्टिके आदिभूत शृङ्गाररसके ही परिणाममात्र हैं। केवल निमित्तके भेदसे ही समस्त जगत्के मूलकारण उसी प्रकृति और पुरुषके संयोगरूप शृङ्गाररसने ही बहुभेदको प्राप्त होकर समस्तजीवोंके हृदयराज्यमें अधिकार विस्तार कर रक्खा है। इन चतुर्दश-रसोंमेंसे सात रस मलिन-शृङ्गारके और सात रस शुद्ध शृङ्गारके हैं। हास्य, वीर, करुणा, अद्भुत, भयानक, बीभत्स और रौद्र ये सात रस गौण अर्थात् मलिन शृङ्गारके हैं। इन सब रसोंके विषयमें यद्यपि कहीं-कहीं भक्तिरसके आचार्योंकी ऐसी सम्मति मिलती है कि सब रस आनन्दके परिणामरूप होनेसे इनके द्वारा भी उन्नति हो सकती है, तथापि इन सब रसोंके आश्रयोंके मलिन होनेसे वे सब गौण ही हैं। हास्य आदि गौण रसोंके द्वारा उन्नतिके विषयमें स्मृतिमें कहा है कि—

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
भैष्मीराधादिरूपेषु शृङ्गारः परमोज्ज्वलः।
भीष्मो वीरे दशरथः करुणे स्थितिमाप्तवान्॥
वल्यर्जुनयशोदानां विश्वरूपस्य दर्शने॥
अत्यद्भुतरसास्वादः कृष्णानुग्रहतो भवेत्।

गोपालबाला हासस्य श्रीदामोद्वहनादिषु ।
एवमन्यत्र भीत्यादित्रितयेऽपि विचिन्त्यताम् ॥
गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहात्पार्थो भक्त्या मुनीश्वराः ॥
श्रृङ्गारी राधिकायां सखिषु सकरुणः क्ष्वेडदग्धेष्वगाहे-
र्बीभत्सी तस्य गर्भे व्रजकुलतनयाचैलचौर्ये प्रहासी ।
वीरो दैत्येषु रौद्री कुपितवति तुरासाहि हैय्यङ्गवीन-
स्तेये भीमान्विचित्री निजमहसि शमीदामबन्धे स जीयात् ।

जैसे द्वेष प्रदर्शन करने पर भी भगवान्में द्वेष होनेके कारण शिशुपालादिकोंको सिद्धि प्राप्त हुई थी; इस तरहसे काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य अथवा सौहृद्य इनमेंसे किसी एक भावके आश्रयसे भगवान्में तन्मयता प्राप्त हो तो उसीसेही साधकको उन्नति होती है । यथा-भीष्मपितामहको वीर रसके द्वारा, दशरथ-को करुणा रसके द्वारा, बलि, अर्जुन और यशोदाको विराट्रूपके देखनेसे अद्भुत रसके द्वारा, गोपाल बालकोंको हास्यरसके द्वारा, कंसको भयानक रसके द्वारा, अघासुरको बीभत्स रसके द्वारा और इन्द्रको रौद्र रसके द्वारा सिद्धि प्राप्त हुई थी । परन्तु सात मुख्य रसोंका विषय ऐसा नहीं है । क्योंकि दास्यादि मुख्य आसक्तियों-में मलिनताका नाममात्र भी न रहनेसे इन सबोंके द्वारा साक्षात्-रूपसे भक्तका कल्याण हुआ करता है । रागके उदय होनेसे भक्तका चित्त निशि दिन उसी आनन्दसागरमें निमग्न रहता है और प्रकृतिके वैचित्र्य होनेसे कल्पतरु श्रीभगवान्के प्रति कोई

भक्त दासभावका आश्रय करके, कोई भक्त वात्सल्यभावका आश्रय करके, कोई भक्त कान्ताभावका आश्रय करके, कोई भक्त आत्मनिवेदन भावका आश्रय करके, कोई भक्त गुणकीर्त्तन भावका आश्रय करके और कोई भक्त तन्मयतासक्तिका आश्रय करके भगवत् राज्यमें अग्रसर होता हुआ अन्तमें उसी परमानन्दपदको प्राप्त करता है। भगवान् भक्तके आधीन हैं, इसलिये उनमें आसक्त भक्तोंके प्रति असीम कृपा वितरण करके उनकी सदैव रक्षा करते हैं और अन्तमें परमानन्दरूप मुक्तिपदको प्रदान करते हैं। क्योंकि उन्होंने निजमुखसे कहा है कि—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियञ्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन्! येषां गतिरहं परा॥
ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

मैं कदापि स्वतन्त्र नहीं हूँ भक्तके ही अधीन हूँ क्योंकि मेरा हृदय अपना नहीं है परन्तु साधु भक्तोंका ही है। जिन भक्तोंने मेरे ऊपर अनन्यशरण होकर स्त्री, पुत्र, घर, द्वार और समस्त

ऐश्वर्यको छोड़ दिया है उनको मैं कैसे छोड़ सकता हूँ। सर्वत्र समदृष्टिसम्पन्न साधुगण मुझमें मन, प्राण समर्पण करके अनन्य-भक्तिके द्वारा सती स्त्री जैसे अपने पतिको वशीभूत करती है इसी तरहसे मुझे भी वशीभूत करते हैं। साधु लोग मेरे हृदय हैं, मैं साधुओंका हृदय हूँ, वे मेरे विना त्रिभुवनमें और किसीको भी नहीं जानते हैं, मैं भी उनके सिवाय त्रिभुवनमें और किसीको नहीं जानता हूँ। भगवान्‌के अतिप्रिय इन सब भक्तोंकी दास्य सख्य आदि आसक्तियोंके विषयमें भक्तिशास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। पवननन्दन हनुमान्‌की भगवान् रामचन्द्रके ऊपर जो अपूर्व दास्यासक्ति थी सो प्रसिद्ध ही है। इस दास्यासक्तिके उदय होनेसे सेवकभावसे भक्त अपनेको भगवान्‌की और उनके भक्तों-की सेवामें समर्पण करता है क्योंकि श्रीभगवान्‌ने कहा है कि—

मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमाः स्मृताः।
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः॥
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

मेरे भक्तोंका जो भक्त है वह मेरा प्रियतम भक्त है, जगत्‌में कोई मेरा प्रिय या अप्रिय नहीं है परन्तु जो भक्तिपूर्वक मेरी भजना करता है मैं उसीका ही हूँ। सख्यभावके दृष्टान्तमें अर्जुन-का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने सख्यताके समान भावमें आकर श्रीकृष्ण भगवान्‌से कुछ भेदबुद्धि नहीं रक्खी थी। परन्तु जब विश्वरूपके दर्शनसे श्रीकृष्णका यथार्थ स्वरूप उनको मालूम हुआ तब उन्होंने हाथ जोड़कर कहा कि—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखेति
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत ! तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥

हे विश्वरूप ! मैंने आपके स्वरूपको न जानकर मित्र समझ करके जो उपहास और सामान्य सम्बोधन आदि रूप अपराधोंको किया सो आप क्षमा कीजिये। वात्सल्यासक्तिके दृष्टान्तमें यशोदा और नन्द गोपादिकोंको आदर्शरूपमें लिया जा सकता है, जिन्होंने श्रीकृष्ण भगवान्‌का विश्वरूप धारण और कालीय-नागदमन आदि अलौकिक कार्यसमूहको देखनेपर भी उनके साथ पुत्रभावसे ही प्रीति की थी। इसी वात्सल्य भावसे ही भावित होकर किसी भक्तने कहा है कि—

एह्येहि वत्स ! नवनीरदकोमलाङ्ग !
चुम्बामि मूर्धनि चिराय परिष्वजे त्वाम् ।
आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयन्ते ॥

हे वत्स ! नूतन मेघसदृश कोमलाङ्ग ! तुम मेरे पास आओ, मैं तुम्हें हृदयमें रखकर पुत्र स्नेहकी चरितार्थता करूं अथवा

तुम्हारे चरणकमलोंमें प्रणाम करूं। कान्तासक्तिका अपूर्व दृष्टान्त व्रजगोपिकाओंमें मिलता है जिन्होंने समस्त लोक-लज्जा कुल-मर्यादा और गार्हस्थ्य-धर्मको परित्याग करके श्रीकृष्णको साक्षात् भगवान् जानकर वृन्दावनविलासी मोहनमुरलीधारी हृदयराज आनन्दकन्द सच्चिदानन्दरूप श्रीकृष्ण भगवान्के पवित्र प्रेमसिन्धुके गंभीर जलमें अपनी अपनी जीवनतरणियोंको निर्भयहृदय होकर बहा दिया था, जिनकेलिये भगवान्को भी कहना पड़ा कि—

न पारयेऽहं निरवद्य संयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषाऽपि वः।
या माऽभजन्दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥

हे व्रजगोपिनीगण! आप लोगोंका मेरे ऊपर प्रेम परम पवित्र है जिसका मैं इस जन्ममें बदला नहीं दे सकता हूँ। क्योंकि आप लोगोंने कठिन संसारपाश छिन्न करके मेरेमें प्राण मन समर्पण किया है। इसलिये आप लोगोंका यह साधुकार्य ही मेरे प्रति प्रेम-का प्रतिपादन स्वरूप हो और जिस समय उद्धवको श्रीकृष्णजीने वृन्दावनमें भेजा था उस समय भी कहा कि—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः॥
ये त्यक्तलोकधर्मांश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम्।
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः॥
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः।

धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन ॥
प्रत्यागमनसन्देशैर्वल्लव्यो मे मदात्मिकाः ।

मेरी प्रियतम गोपियोंका प्राण, मन मेरे ऊपर ही समर्पित है, क्योंकि उन्होंने मेरे ही लिये समस्त लौकिक धर्म्मोंको त्याग किया है, अब मेरे विरहमें अत्यन्त विह्वलचित्त होकर वे सब बहुत ही कष्टके साथ जीवनका भार उठा रही होंगी। इसलिये उन लोगोंको वृन्दावन लौटनेका मेरा शुभ संवाद देकर उनके संतप्त प्राणको शीतल करो। आत्मनिवेदनासक्तिके विषयमें देवर्षि नारदादिकोंका दृष्टान्त उत्तम है जिन्होंने भगवान् श्रीहरिमें देह, मन और प्राण समस्त समर्पण करके इस आसक्तिका अपूर्व परिचय दिया है। आत्मनिवेदन भावके उदय होनेसे भक्तके चित्तसे अहंभावका नाश होता है और उनका जीवन और समस्त चेष्टाएँ श्रीभगवान्के प्रीत्यर्थ ही होती हैं। जैसा स्मृतिमें कहा है कि—

सा वाग्यया तस्य गुणान् गृणीते
करौ च तत्कर्म्मकरौ मनश्च ।
स्मरेद्वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु
शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ॥
शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमे-
त्तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः ।
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां
पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम् ॥

वाणी गुणाऽनुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥

वाक्य यथार्थमें वे ही हैं जिनसे भगवान्‌का गुणगान हो, हाथ यथार्थमें वे ही हैं जिनसे भगवत्कार्य किया जाय, मन यथार्थमें वही है जिससे सर्वव्यापक परमात्माका स्मरण किया जाय, कर्ण यथार्थमें वे ही हैं जिनसे भगवान्‌की सत्कथा सुनी जाय, शिर यथार्थमें वही है जिससे भगवान्‌की चरण-वन्दना की जाय, चक्षु यथार्थमें वे ही हैं जिनसे भगवान्‌का दर्शन हुआ करे और शरीर-का अवयव यथार्थमें वही है जिससे भगवान् और भगवद्भक्तोंकी सेवा की जाय। ये सब आत्मनिवेदनासक्तिके भाव हैं। गुण-कीर्तनासक्तिके दृष्टान्तमें महर्षि वेदव्यासजीका नाम लिया जा सकता है, जिन्होंने अखिलशास्त्रोंकी रचना करने पर भी चित्तमें जब शान्तिस्थापन न कर सके तब भगवान्‌के गुणगानके द्वारा चित्तमें परम शान्ति लाभ की। स्मृतिमें भी कहा है:—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्पुमान्विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥
तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र-
पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति ।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप ! गाढकर्णै-
स्तान्नस्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः ॥

भगवान्‌की मधुरगुण-कथा जिसका मुक्तलोग उच्चैःस्वरसे गान किया करते हैं और जो भवरोगकी एकमात्र औषधि तथा श्रवण और मनमें अमृत सिञ्चनकारिणी, है ऐसी मधुरगुण कथा-का जो लोग गान नहीं करते हैं वे आत्मघाती हैं, भगवान्‌कें भक्त साधुजनोंके मुखसे अमृतधाराकी नाईं उनकी मधुरगुणकथा जब बहने लगती है तब भक्तलोग कर्णेन्द्रियके द्वारा उसको पान करके क्षुधा, तृषा, भय,शोक, मोह आदि समस्त दुःखोंसे छूटकर मुक्तिलाभ करते हैं। रागात्मिका भक्तिकी अन्तिम दशा तन्मयासक्ति है, जिसके मिलनेपर अपनेको भगवान्‌का रूप समझ करके उनके प्रति अपूर्व प्रीतिप्रवाहमें निशिदिन निमग्न रहते हैं। इसी तन्मया-सक्तिके अपूर्व वर्णन-प्रसङ्गमें स्मृतिमें लिखा है कि—

नमस्तुभ्यं परेशाय नमो मह्यं शिवाय च।
प्रत्यक् चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमोनमः॥
मह्यन्तुभ्यमनन्ताय मह्यन्तुभ्यं शिवात्मने।
नमो देवाऽधिदेवाय पराय परमात्मने॥

इस भावके उदय होनेसे भक्त तन्मय होकर कभी भगवान्‌को प्रणाम करते हैं और कभी भगवद्रूप होकर प्रणाम करते हैं। श्रीहरि और हरमें जो पारस्परिक अपूर्व आसक्ति है वह तन्मयासक्ति है। जैसा कि श्रीहरिने निजमुखसे लक्ष्मीजीसे कहा है कि—

शृणु कान्ते प्रवक्ष्यामि यं ध्यायामि सुरोत्तमम्।
आशुतोषं महेशानं गिरिजावल्लभं हृदि॥

कदाचिद्देवदेवो मां ध्यायत्यमितविक्रमः ।
ध्यायाम्यहं च देवेशं शङ्करं त्रिपुरान्तकम् ॥
शिवस्याहं प्रियः प्राणः शङ्करस्तु तथा मम ।
उभयोरन्तरन्नास्ति मिथः संसक्तचेतसोः ॥

मैं दिवानिशि आशुतोषके ध्यानमें तन्मय रहता हूं और वे भी मेरे ध्यानमें तन्मय रहते हैं, शंकर मेरे प्राण हैं और मैं भी शंकरका प्राण हूं, परस्पर तन्मयभावापन्न हम दोनोंके मध्यमें कुछ भी भेद नहीं है। तन्मयासक्तिके इस अपूर्व भावका विकाश श्रीकृष्णजीके साथ एकप्राण गोपियोंमें हुआ था, कि जब श्रीकृष्ण-चन्द्र गोपियोंको अभिमानिनी जानकर उनके अभिमानको दमन करनेके लिये रासलीलाके बीचमेंसे ही उनको छोड़कर अन्तर्धान हो गये, जिसके विषयमें स्मृतिमें वर्णन है कि—

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः,
लीलाभगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ।
कस्याश्चित्पूतनायन्त्या कृष्णायन्त्यपिवत्स्तनम्,
तोकायित्वा रुदन्त्यन्या पदाहन् शकटायतीम् ॥
दैत्यायित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम्,
रिङ्गयामास काप्यङ्घ्री कर्षन्ती घोषनिस्वनैः ।
मा भैष्ट वर्षवाताभ्यां तत्त्राणं विहितं मया,
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम् ॥
आरुह्यैका पदाक्रम्य शिरस्याहाऽपरां नृप,
दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक् ॥ 'इत्यादि'

गोपियाँ श्रीकृष्णके विरहमें अत्यन्त व्याकुल होकर उन्हींकी चिन्ता करते करते तन्मय हो गयीं और उसी तन्मयदशामें वे अब श्रीकृष्णकी यावतीय बाललीलाओंको परस्पर करने लगीं। कोई गोपी पूतना बनी व किसी गोपीने कृष्ण बनकर स्तन्यपानके व्याज (छल) से उसका प्राणवायु पी लिया। कोई गोपाल बनकर शकटरूपी प्रच्छन्न शकटासुरभावको धारण करती हुई अन्य एक गोपीको पदप्रहार करने लगी। कोई गोपी अन्य गोपीके स्कन्धपर चढ़कर कालीयदमनकी लीला दिखाने लगी और किसीने अपने उत्तरीय वस्त्र (दुपट्टा) को अंगुलीसे उठाकर गोवर्धन धारणरूप लीला की। यही अब तन्मयासक्तिका भाव है। इस तरहसे हास्यादि गौण आसक्तियों और दास्य आदि मुख्य आसक्तियोंके द्वारा रागात्मिका भक्तिके साधक भगवद्राज्यमें अग्रसर होते हैं॥ १७॥

रसभावमें निमग्न होनेसे साधककी क्या दशा होती है—

भावमें निमग्न होनेसे साधक रसरूप ही हो जाते हैं॥१८॥

भगवद्भावके समुद्रमें निमग्न होकर भक्त भगवद्रूप हो जाते हैं। समस्त रस आनन्दमय हैं, इसलिये आनन्दरूप भगवान्के चरणकमलोंमें चित्तको एकाग्र करके ध्याता, ध्यान और ध्येयरूपी त्रिपुटीके अवलम्बनसे भगवान्के चरणोंका ध्यान करते हुए जैसे जैसे उस परमानन्दका लाभ करते जाते हैं वैसे ही त्रिपुटीका नाश

रसरूप एवायं भवति भावनिमग्ने॥ १८॥

होकर भगवान्के साथ भेदबुद्धि नष्ट होती जाती है। तात्पर्य्य यह है कि इस रागात्मिका भक्तिकी दशामें रसरूप आसक्तियोंमेंसे किसी आसक्ति विशेषकी सहायतासे जब भक्त रससागरमें डूब जाता है तब उस आसक्तिविशेषके भावमें वह भक्त लवलीन होकर उस आसक्तिका स्वरूप ही बन जाता है। सुतरां उस भक्त-की उन्नतदशामें सविकल्प समाधिके उदय होनेसे ध्याता साधक ध्येय आनन्दमय भगवान्के रूपको प्राप्त हो जाते हैं। जैसा कि श्रुतिमें लिखा है कि:—

"तव वयं स्मः" "तं यथा यथोपासते तदेव भवति"

भगवच्चरणोंमें लवलीन भगवद्रूपताको प्राप्त होते हैं और स्मृतिमें भी लिखा है:—

सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया।
कीटको भ्रमरं ध्यायन् भ्रमरत्वाय कल्पते।
क्रियान्तरासक्तिमपास्य कीटको
ध्यायन् यथाऽलिं ह्यलिभावमृच्छति।
तथैव योगी परमात्मतत्त्वं
ध्यात्वा समायाति तदेकनिष्ठया।

जैसे तैलपायी कीट-भ्रमर कीटकी चिन्ता करते करते भ्रमर-कीट बन जाता है वैसे ही भगवान्का ध्यान करते करते भक्त भगवद्रूप हो जाते हैं। इस सूत्रमें "एव" शब्दका प्रयोग बहुत ही विज्ञानसे युक्त है। इसका तात्पर्य्य यह है कि भगवद्भक्तिमें एक वार ही

डूब कर भगवद्भक्त अपनी स्वतंत्र जीवसत्ताको भूल जाता है इसी कारण वह रसरूप हीं हो जाता है ऐसा कहा गया है ॥१८॥

मुख्य रसकी विशेषता वर्णन की जाती है:—

मुख्य रसोंके द्वारा पराभक्ति लाभ होती है परन्तु उन्नति सकल प्रकारके रसोंसे ही होती है ॥ १६ ॥

हास्य आदि गौण रस अथवा दास्य आदि मुख्य रस दोनों प्रकारके रसोंके द्वारा ही साधक उन्नति लाभ कर सकते हैं। गौण-रसके द्वारा किस तरहसे उन्नति हो सकती है इस प्रश्नके समा-धानमें महामुनि शुकदेवजीने राजा परिक्षितसे कहा भी है :—

"श्रीभगवान्‌के प्रति द्वेषबुद्धि सम्पन्न होनेपर भी चेदिराज शिशुपालने जिस प्रकारसे सिद्धिलाभ किया था सो आपसे मैंने पहिले ही कहा था, भगवान्‌से शत्रुता करने पर भी यदि सिद्धि मिल जाय तो गोपियांकी उन्नति क्यों न होगी। काम, क्रोध, भय, स्नेह, एकता, मित्रतादि भावोंमेंसे जिस किसी भावसे भगवान्‌की अर्च्चना की जाय उसीसे उन्नति हो सकती है। इसमें विस्मयका क्या कारण है। क्योंकि भगवान् योगेश्वरेश्वर हैं। अपनी अचिन्तनीय शक्तिके प्रभावसे जीवको उन्नताधिकार प्रदान किया करते हैं।" गौणरसके साधनसे सालोक्यादि मुक्तिपर्य्यन्त मिल सकती है। निर्वाणमुक्ति केवलमात्र पराभक्तिसे ही हो सकती है। गौणरससे तन्मयताकी प्राप्ति होती है तन्मयता द्वारा

परा मुख्यरससन्निकर्षादुन्नतिस्तु सर्वरसाश्रया ॥ १६ ॥

पराभक्तिका उदय होता है। इसलिये पराभक्तिके प्रति गौण रसोंकी परम्परासम्बन्धसे कारणता और मुख्य रसोंकी साक्षात् सम्बन्धसे कारणता है यह सिद्ध हुआ।

भगवान्‌के परमपदका सम्बन्ध आनन्दरूपसे है और सकल प्रकारके रसोंमें ही स्वाभाविकरूपसे आनन्दकी सत्ता विद्यमान है इसलिये मुख्य और गौण इन दोनों प्रकारके रसोंके द्वारा ही साधकको उन्नति अवश्य लाभ होती है। यद्यपि रौद्र बीभत्स आदि सब गौण रसोंमें आनन्दके विरोधी दुःखजनक भावोंका सम्बन्ध विद्यमान है परन्तु उस गौणरसजनित-क्रियाकी परिसमाप्तिमें भगवत्सम्बन्ध बना रहनेसे भगवतकी पात्रता उसमें रूपान्तरसे आजाती है इसकारण गौणरस भी उन्नतिप्रद अवश्य हो सकते हैं। केवल गौणरस और मुख्यरस इन दोनोंमें भेद इतना ही है कि गौणरसके साथ बहिर्विषयका सम्बन्ध रहनेसे गौणरस सर्वथा निर्दोष नहीं होते हैं इसलिये उनके द्वारा उन्नति होनेपर भी पराभक्तिका लाभ नहीं होता।

गौणरसोंमें वैषयिक सम्बन्ध होनेसे साधकका चित्त न उदारभावको धारण कर सकता है और न एक वार ही अपने चित्तके निम्न प्रवाहको रोक सकता है। इसकारण गौण रसमें मग्न साधक अभ्युदयका अधिकारी होनेपर भी साक्षात् मुक्तिरूप पराभक्तिका अधिकारी नहीं हो सकता है, परन्तु दास्यादि मुख्य रसोंमें बहिर्विषयोंका लेशमात्र भी न सम्बन्ध रहनेसे उनके द्वारा भाग्यवान् भक्तको साक्षात्‌रूपसे पराभक्तिका लाभ हुआ करता है।

दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि यदि कोई राजा अपने राज्यके ही उद्धारके लिये वीरता प्रकट करे तो वह भाव वीररसका होने पर भी उसमें स्वार्थका सम्बन्ध होनेके कारण सर्वथा निर्मल न होगा। परन्तु यदि उसी वीरभावका प्रयोग निष्काम होकर किया जाय तो उसमें मलिनताका गन्धमात्र नहीं रहेगा और वह उसकी आध्यात्मिक उन्नतिका कारण होगा। इसलिये गौणरसके द्वारा यदि कदाचित् पराभक्तिके लाभके विषयमें भी उपकार हो तो वह उपकार परोक्षरूपसे होगा; परन्तु मुख्यरसोंके निर्मल और एकमात्र भगवद्भावयुक्त होनेके कारण उनके द्वारा भक्तको साक्षात् रूपसे पराभक्तिकी प्राप्ति हुआ करती है, क्योंकि मुख्य-रसोंका पूर्ण रूपसे उदय होने पर साधकके अन्तःकरणमें समाधि-भावके उदय होनेमें कोई बाधा नहीं होती है ॥ १९ ॥

पराभक्तिका लाभ कैसे होता है सो कहते हैं—

अद्वैतभावप्रद तन्मयासक्तिरूप भावसागरमें उन्मज्जन निमज्जनके द्वारा पराभक्तिका उदय होता है ॥ २० ॥

भक्त जब भगवान्में तन्मय होकर भावके समुद्रमें डूबते उठते रहते हैं तभी अद्वैतभावप्रद उस भावके द्वारा पराभक्तिका उदय होता है। शुद्धरसोंकी धारणा दृढ़ होजानेसे साधक क्रमशः श्रेष्ठ समाधिभूमिको प्राप्त करते हैं। तदनन्तर उसी भावके महासमुद्रमें अवगाहन करते करते भावुक भक्त शीघ्र सविकल्प-

---

परालाभो ब्रह्मसद्भाविकातन्मयासक्त्युन्मज्जननिमज्जनात् ॥ २० ॥

समाधिकी वितर्क विचार आनन्द और अस्मिता नामक चारों दशाओंको अतिक्रम करके निर्विकल्प समाधिको प्राप्त किया करते हैं। यहां ज्ञान और भक्ति दोनोंकी भूमि एक होजाती है और पराभक्तिप्राप्त कृतकृत्य योगी समस्त जगत्को ब्रह्ममय देखते हैं। यही अद्वैतभावप्रदानकारिणी परमानन्ददायिनी पराभक्ति है। इसी परमानन्दके विषयमें स्मृतियोंमें कहा है कि—

तदा पुमान्मुक्तसमस्तबन्धनस्तद्भावभावाऽनुकृताऽऽशयाऽऽकृतिः।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम्॥
अधोक्षजालम्बमिहाऽशुभात्मनः शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम्।
तद्ब्रह्मनिर्वाणसुखं विदुर्बुधास्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम्॥

त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त
आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या-
ग्रन्थिं बिभेत्स्यसि ममाऽहमिति प्ररूढम्॥
मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथाऽर्चिः।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-
मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः॥
सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या
तस्मिन् महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्

स्वात्मन् विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः ॥

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥
यदाऽस्य चित्तथर्मेषु समेष्विन्द्रियवृत्तिभिः ।
न विगृह्णाति वैषम्यं प्रियमप्रियमित्युत ॥
स तदैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं निःसङ्गं समदर्शनम् ।
हेयोपादेयरहितमारूढं पदमीक्षते ॥
ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवन्नेक ईयते ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।
पश्यति योगयुक्ताऽऽत्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
परानुरक्तया मामेव चिन्तयेद्यो ह्यतन्द्रितः ।
स्वाभेदेनैव मां नित्यं जानाति न विभेदतः ॥

मयि प्रेमाकुलवति रोमाञ्चिततनुः सदा ।
प्रेमाश्रुजलपूर्णाक्षः कण्ठगद्गदनिस्वनः ॥
उच्चैर्गायंश्च नामानि ममैव खलु नृत्यति ।
अहंकारादिरहितो देहतादात्म्यवादतः ॥

इति भक्तिस्तु या प्रोक्ता पराभक्तिस्तु सा स्मृता ।
यस्यां देवाऽतिरिक्तन्तु न किञ्चिदपि भाव्यते ॥
इत्थं जाता पराभक्तिर्यस्य भूधर ! तत्त्वतः ।
तदैव तस्य चिन्मात्रे मद्रूपे विलयो भवेत् ॥

भक्तेस्तु या पराकाष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्त्तितम् ।
वैराग्यस्य च सीमा सा ज्ञाने तदुभयं यतः ॥

इन सब स्मृतियोंका तात्पर्य्य यह है कि, भगवान्‌के अपूर्व भावमें तन्मय होकर जब भक्त समस्त विश्वमें अपने अतिरिक्त और किसी वस्तुको नहीं देखते हैं तभी उनको पराभक्तिकी प्राप्ति होती है। उस समय मैं और मेरा, यह द्वैतभाव नष्ट हो जाता है और सर्वत्र आनन्दमय परमात्माका साक्षात्कार होनेसे भक्त आनन्दरूप हो जाते हैं। उस समय उनका समस्त प्राकृतिक बन्धन और जीवभाव विनष्ट हो जाता है और वे ब्रह्मरूप होकर सच्चिदानन्दके आनन्दसागरमें विलीन हो जाते हैं। उस समय उनके लिये प्रिय अप्रिय, हेय, उपादेय, दृश्य द्रष्टा, कुछ भी भेदभाव नहीं रहता है। वे शुद्ध आनन्दरूप होकर अविद्याके आवरणसे विमुक्त हो जाते हैं। यही भक्तिकी पराकाष्ठा, वैराग्यकी पराकाष्ठा और ज्ञानकी पराकाष्ठा है ॥ २० ॥

रससमूहके प्रवाहकी सीमा कहां है—

सकल रसोंकी परिसमाप्ति एकही स्थान पर है ॥२१॥

रससमूहके प्रवाहमें बाधा न हो तो सभी रस उसी परमपदमें जाकर परिसमाप्त होते हैं। जैसा कि देश, काल और पात्रके अनुकूल होनेपर एक सामान्य अग्निकण भी समस्त संसारको दग्ध करनेमें समर्थ होता है, ऐसे ही सामान्यसे सामान्य भी कोई रस

सर्वेषामेकत्रैव पर्य्यवसानम् ॥ २१ ॥

हो, परन्तु उसके विकाशमें कोई बाधा न हो तो वह रस भी समुन्नत होता हुआ भक्तके चित्तमें भगवान्‌के प्रति अनुरागको उत्पन्न करके उसको भक्तिकी उन्नत भूमिमें पहुँचाकर अन्तमें उसी परमानन्दपदको प्राप्त करा सकता है।

सब रसोंकी परिसमाप्ति उन्हीं रससागर श्रीभगवान्‌में ही होती है। उन्हींसे सब रसोंकी उत्पत्ति होकर उन्हींसे सम्बन्धयुक्त रहते हुए सब रस उन्हींमें पहुँच जाते हैं। एक विषयभोगसे रत व्यक्ति जब विषयानन्दका अनुभव करता है तब उस समय वह आनन्द उसको विषयसे नहीं मिलता है; किन्तु विषय प्रयोगसे मन समाधिस्थ होनेपर उस अन्तःकरणके स्वाभाविक शान्त हो जानेपर उस शान्त अन्तःकरणमें ब्रह्मानन्द स्वतः ही प्रतिबिम्बित होनेसे वह विषयरत व्यक्ति आनन्द अनुभव करता है। उसी प्रकार भगवान्‌के भक्ति-भावमें मग्न भाग्यवान् भक्तके हृदयमें जो शुद्ध ब्रह्मानन्दका उदय होता है वह भी उसी शैलीपर होता है; क्योंकि भक्तका पवित्र हृदय भक्तिसे पूर्ण होते ही समाधिस्थ होकर ब्रह्मानन्दका भोगी हो जाता है। भेद इतना ही होगा कि विषयानन्दका भोक्ता जीव ज्ञानरहित होकर और भगवान्‌को भूलकर विषयानन्द भोगता हुआ आवागमनचक्रमें भटकता रहता है। परन्तु ज्ञानवान् ब्रह्मानन्दका भोक्ता भाग्यवान् भक्त भगवान्‌के भावमें भावित होनेके कारण आवागमनचक्रको भेद करके सीधा भगवान्‌के चरणोंमें लवलीन हो जाता है। विषयानन्दभोगी जीव विषय-सुखमें गुप्त-परोक्ष ब्रह्मानन्दकेलिये ही

पुरुषार्थ करता हुआ क्रमशः अग्रसर हो सकता है और कालान्तरमें सात्त्विक सुखका अधिकारी भी बन सकता है। क्रमशः सत्त्वगुणमें पहुंचकर वह भक्तिरस सागरमें भी उन्मज्जन निमज्जन करनेका अधिकारी बन जाता है। फलतः रस ही जीवको क्रमोन्नति मार्गमें अभ्युदयका अधिकारी बनाता है। विषयानन्दभोगी जीव जब तक अपने अन्तःकरणको विषयवत् करके विषय सुखको आस्वादन करता है तभी तक उसका वह विषय-सुख आवागमनचक्रको चलाकर उसमें फँसा रखता है; परन्तु यदि वह जीव साधन-राज्यका पथिक हो और विषयसंग करता हुआ अपने चित्तको भगवत्‌चरणारविन्दमें लगा सके तो उस समय उसका वह विषय-रसास्वाद ही उसके भगवत्‌सान्निध्यका कारण बन जाता है। मिष्टान्नभोगी विषयी अवश्य ही आत्मविमुख है; परन्तु उसी मिष्टान्नको जब भक्त भगवत्प्रसादरूपसे सच्ची भक्तिसे ग्रहण करता है तब उस भाग्यवान् भक्तके चित्ततरङ्गकी परिसमाप्ति भगवत्‌रससागरमें ही होती है। दूसरी ओर भक्तिरससागरमें अवगाहनकरनेवाला भाग्यवान् भक्त चाहे पूर्वकथित सात आसक्तियोंमेंसे किसी आसक्तिके द्वारा अपने आपको भगवत्-चरण कमलके मकरन्दके रसास्वादनका भृङ्ग बनाता है परन्तु अन्तमें उसकी सारी चेष्टाकी परिसमाप्ति भगवत्‌चरणकमलमें पहुंचते ही हो जाती है। अतः सब रसोंकी परिसमाप्ति उसी सच्चिदानन्द परमेश्वरमें होती है।

जैसे कि तरल-तरङ्गिणी जाह्नवी भिन्न भिन्न जनपदोंमें प्रवाहित

होती हुई अपनी अमृतमयी धारासे उन सब देशोंको पवित्र करती हुई महासमुद्रमें जा मिलती है, इसी तरहसे भगवद्भाव-मूलक समस्त रसोंके प्रवाह भक्त-हृदयके भिन्न भिन्न देशोंमें प्रवाहित होते हुए अपने अमृतमय भावसमूहके द्वारा भक्त हृदयको पवित्र और उन्नत करके अन्तमें ब्रह्मानन्दसागरमें जा मिलते हैं ॥ २१ ॥

वह रसप्रवाह भगवान्के प्रति होनेसे क्या फल है सो कहते हैं:–

भगवान्की भक्ति निःश्रेयसप्रदानकारिणी है ॥२२॥

परमात्माके प्रति भक्ति करनेसे भक्तको मुक्तिपदकी प्राप्ति होती है। कर्म, उपासना, ज्ञान, तप और दान आदि धर्म्माङ्ग-समूहके अनुष्ठानके द्वारा साधकको अभ्युदय और मुक्तिलाभ होता है; परन्तु भगवद्भक्तिके द्वारा भक्तको परमानन्दमय कैवल्य-पदकी प्राप्ति होती है, यही भगवद्भक्तिकी श्रेष्ठतम महिमा है। दैवीजगत् चाहे कितना ही उन्नत हो त्रिगुणसे अतीत नहीं है; परन्तु परमात्मा भगवान् त्रिगुणसे अतीत हैं। जब भक्त भगवद्-भक्ति द्वारा उस त्रिगुणातीत पदमें पहुँच जाता है तब ही मुक्ति सम्भव है। इस कारण यह विज्ञानसे सिद्ध हुआ कि, श्रीभगवान् के चरणोंमें भक्तिके सिवाय और जितनी श्रेणीकी भक्ति हैं वे सब भक्ति मुक्ति-प्रदायिनी नहीं हो सकती; केवल भगवत्-भक्ति ही मुक्ति प्रदायिनी है। त्रिगुणमय आश्रयसे त्रिगुणातीत पदकी प्राप्ति नहीं हो सकती, केवल त्रिगुणातीत नित्यस्थित अद्वैत

भक्तिर्निःश्रेयसकरी ॥ २२ ॥

पदके अवलम्बनसे ही निःश्रेयसरूपी मुक्तिकी प्राप्ति होती है, जैसा स्मृतिमें कहा है कि—

> विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेव विश्वतोमुखम् ।
> भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरतिपारये ॥
> समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः ।
> भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद्विपदां न येषाम् ॥
> इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
> भवन्ति वै भागवतस्य राजन् ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥
> यस्मिन्मनो लब्धपदं यदेतच्छनैः शनैर्मुञ्चति कर्मरेणून् ।
> सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम् ॥

जो लोग भगवान्‌को सर्वव्यापी जानकर अन्य देवताओंकी उपासनाको छोड़कर एकमात्र भगवान्‌में ही अनन्यभक्ति और आसक्तियुक्त होते हैं उनको भगवान् मृत्युभय संसारसे उद्धार करते हैं। भगवान्‌के चरणकमलोंका जो भक्त आश्रय करते हैं, उनको कोई विपत्ति नहीं रहती है और अपार भवसमुद्रको गोष्पदके समान वे अतिक्रम करते हैं। अच्युतके चरणारविन्दमें एकान्त अनुरक्त भक्त संसारसे विरक्त होकर भगवान्‌को लाभकर परम शान्तिको प्राप्त करते हैं।

श्रीभगवान् सच्चिदानन्दरूप परमात्मामें जिस भक्तका अन्तःकरण एकाग्र होता है, उसके चित्तमें सत्त्वगुणके उदय होनेसे रजोगुण और तमोगुणका मल नष्ट हो जाता है, तदनन्तर निर्विकल्प समाधिके द्वारा सत्त्वगुणका भी लय होनेसे उसको

परम निर्वाणपदकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकारसे भगवद्भक्तिके-द्वारा मुक्तिकी प्राप्ति होती है ॥ २२ ॥

अन्यकी भक्ति अर्थात् भगवत्शक्तियोंके प्रति रसप्रवाहका फल क्या है सो कहा जाता है :—

ऋषि, देव और पितृगणकेप्रति भक्ति अभ्युदय-कारिणी है ॥ २३ ॥

भगवान्के साक्षात् शक्तिस्वरूप नित्य ऋषिगण, देवतागण और पितृगणके प्रति भक्तिके द्वारा साधकको उन्नतिलाभ हुआ करता है।

श्रीभगवान्की भक्तिके अतिरिक्त उनकी विभिन्न शक्तियोंके अवलम्बनसे जो भक्ति की जाती है, वह साक्षात्रूपसे मुक्ति-प्रदायिनी नहीं हो सकती; किन्तु वह अभ्युदयकारिणी अवश्य होती है। सच्चिदानन्दरूप रससागररूप अद्वैत उस परमपदके अतिरिक्त दैवीराज्यके सब पद त्रिगुणमय हैं; सुतरां त्रिगुणमय पदके अवलम्बनसे जो भक्ति की जायगी वह भक्ति त्रिगुणातीत पदमें भक्तको नहीं पहुंचा सकती है। इस प्रकारकी भक्तिके द्वारा भक्तको सब प्रकारका अभ्युदय अवश्य प्राप्त होता है इसमें सन्देह नहीं है। उन्नति दो प्रकारकी है, यथा—ऐहलौकिक उन्नति और पारलौकिक उन्नति। संसारमें धन, जन, सुख, सम्पत्तिके लाभको ऐहलौकिक उन्नति कहते हैं और स्वर्गादि उन्नतलोकोंमें जाकर

ऋषिदेवपितॄणां भक्तिरभ्युदयप्रदा ॥ २३ ॥

दिव्य सुख भोग करनेको पारलौकिक उन्नति कहते हैं। ये दोनों प्रकारकी उन्नतियाँ ऋषि, देवता और पितृगणके प्रति भक्तिके द्वारा होती हैं। जैसा कि श्रीगीतामें लिखा है कि—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥

देवयज्ञकारिगण देवलोकमें और पितृयज्ञकारिगण पितृलोकमें जाते हैं। ऐसे साधकगण प्रायः सकाम हुआ करते हैं अर्थात् सकाम-कर्मसम्बन्धी सिद्धिका लक्ष्य करके ही देवता आदिकी उपासना की जाती है, इससे उनको इहलोकमें सुख और मरणानन्तर स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है। क्योंकि मनुष्यलोकमें कर्मजनित सिद्धि अतिशीघ्र हुआ करती है, जैसा श्रुतिमें कहा है कि—

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः॥
एह्येहीति तमाहुतयःसुवर्चसःसूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः॥

जो लोग देवयज्ञका अनुष्ठान करते हुए अग्निमें आहुति प्रदान करते हैं उनको दीप्तिमती आहुतिगण प्रियवचन बोलकर सूर्यरश्मिके द्वारा दिव्यलोकमें ले जाया करती हैं॥ २३॥

अब निकृष्ट विभूतियोंके प्रति रसप्रवाहका फल कहा जाता है—

अन्योंके प्रति भक्ति निकृष्ट है ॥ २४ ॥

भूत, प्रेत, पिशाचादिकों और आसुरीशक्तियोंके प्रति भक्ति पूर्वोक्त भक्तियोंसे निकृष्ट है। दैवीराज्य वहुत विस्तृत है। प्रत्येक ब्रह्माण्डके चौदह भुवन हैं उनके चौदहें हिस्सेका एक चौथा हिस्सा हमारा यह मृत्युलोक है। मृत्युलोकके अतिरिक्त सब दैवलोक हैं। नीचेके लोकमें वसनेवाले असुर भी एक श्रेणीके देवता हैं और हमारे चारों ओर वसनेवाले प्रेतलोकवासी प्रेत-पिशाचादिगण भी एक श्रेणीके देवता हैं। प्रेत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस वेतालआदि आसुरी भावसम्पन्न निकृष्ट देवयोनियोंकी उपासना जो तामसिक उपासकगण करते हैं, वह भक्ति सबसे निकृष्ट है। मति और रुचिकी भिन्नता ही इस तरहकी निकृष्ट विभूतियोंके प्रति भक्ति करानेका कारण है। उन्नत अधिकारके मनुष्य निष्काम होकर केवल भगवान्के ही प्रति अनन्यभक्ति करते हैं, जिससे उनको मुक्तिपद प्राप्त होता है। मध्यम अधिकारीगण सकाम कर्मपरायण होकर अभ्युदयकी आशासे ऋषि-देवता और पितृगणकी उपासना करते हैं, जिससे उनको इहलोक और परलोकमें सुखकी प्राप्ति होती है। ये दोनों अधिकारी अच्छे हैं; परन्तु अधम अधिकारी मनुष्य स्वार्थसे अन्धे और विषयलोलुप होकर मलीन वासनाओंको पूर्ण करनेके लिये क्षुद्र विभूतिस्वरूप भूत-प्रेतादिकोंकी उपासना करते हैं, जिससे उनको फल भी वैसा

अन्येषामवरा ॥ २४ ॥

ही मिलता है। ऐसी निकृष्ट भक्ति भाग्यवान् भगवत्भक्तोंके समीप सर्वथा निन्दनीय है ॥ २४ ॥

अब भक्तिकी विशेषता वर्णन की जाती है :—

भक्तिके द्वारा अमृतत्व लाभ होता है, उसका आस्वादन करनेसे पतनकी सम्भावना नहीं रहती है ॥२५॥

भक्तिके द्वारा भक्त अमर हो जाते हैं और वे अपने उन्नत-पदसे च्युत नहीं होते। साधारण अमृतके पान ही से जब देवता-गण अमर हो जाते हैं, तब परम अमृतरूप भगवद्भक्तिके आस्वादनसे साधक अमर हो जायँगे इसमें संदेह ही क्या है। रसरूप भगवान्में एकान्त अनुरक्त भक्त उन्हींके चरणकमलोंमें लवलीन होकर समस्त विषयवासनाको त्याग करनेसे, कृपासिन्धु भगवान् उनके प्रति कृपापरवश होकर उनको अपना सच्चिदानन्द-मय परम स्वरूप दिखाते हैं, जिससे उनको जनन-मरणरूप संसार-दुःख नष्ट होकर मुक्तिपदकी प्राप्ति होती है। यही उनकेलिये अमरता है। जैसा कि, गीतामें लिखा है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चाऽस्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

भक्ति ही के द्वारा भक्त मेरे यथार्थरूपसे परिज्ञात हो सकते हैं और इस तरहसे मुझे यथार्थतः जानकर अमृतमय परमपदको प्राप्त करते हैं। समुद्रवक्षमें गमनशील तरङ्गमालाकुला तरणीके

भक्त्यामृतत्वं तदास्वादादनवपातः ॥ २५ ॥

चालकगण ध्रुवतारका निरीक्षण करनेसे जैसे कदापि दिग्भ्रान्त न होकर गन्तव्य स्थानपर पहुँच सकते हैं, ऐसे ही संसारसमुद्रमें कोटि कोटि जन्मसे भ्रमणशील जीवनतरणीके चालक भक्त अपने हृदयाकाशमें प्रकाशमान ध्रुवतारारूप श्रीभगवान्‌के प्रति भक्तिरस प्राप्त करनेसे कदापि संसारसमुद्रमें दिग्भ्रान्त होकर कुपथगामी हो अवनतिको प्राप्त नहीं होते, प्रत्युत उत्तरोत्तर उन्नत होकर अन्तमें सच्चिदानन्दमय भगवानके परमधामको प्राप्त करते हैं। जीव इन्द्रिय सम्बन्धसे पतित होता है और भगवत् सम्बन्धसे उन्नत होता है। इस दृश्यमान प्रपञ्चके एक ओर इन्द्रिय और विषय हैं, और इस प्रपञ्चके दूसरी ओर परमपदरूपी भगवान् हैं। साधक जब इन्द्रियोंकी ओरसे मुंह फेरकर जगदात्मा श्रीभगवान्‌के तरफ लौटता है, तब वह चाहे किसी अधिकार-का भक्त हो, पुनः पीछेकी ओर हट नहीं सकता और न उसका पुनः पतन हो सकता है; क्योंकि जिसकी दृष्टि ऊद्‌र्ध्व रहती है, उसका नीचेकी ओर गिरना असम्भव है। किसी अधिकारका भक्त हो भक्तिके द्वारा क्रमशः कैसा हो जाता है सो स्मृतियोंमें कहा है कि—

संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः श्रुताऽनुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः॥
अविस्मृतिः कृष्णपदाऽरविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥

तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिश्चरित्र-

पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति ।

ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप ! गाढकर्णै-

स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः ॥

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो

भूयादनन्तमहताममलाशयानाम् ।

येनाऽञ्जसोल्वणमुरुव्यसनं भवाऽब्धिं

नेष्ये भवद्गुणकथाऽमृतपानमत्तः ॥

इन स्मृतियोंका तात्पर्य्य यह है कि, भगवान्की मधुर गुण-कथाको श्रवण करते करते भक्तोंके चित्तके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और उनमें सत्त्वगुणकी वृद्धि एवं ज्ञान और वैराग्यकी प्राप्ति होती है, जिससे वे भक्त क्षुधा, तृषा, भय और शोकसे रहित होकर निशिदिन उसी अमृतपानमें मत्त रहते हैं ॥ २५ ॥

भक्तिकी दूसरी विशेषता वर्णन की जाती है—

भक्तिमें कामना नहीं है क्योंकि वह निरोध-रूपा है ॥ २६ ॥

भक्तिमें कामनारूप दोष नहीं है । क्योंकि भक्ति निरोधरूपिणी है । मुक्तिकी कामना कामना नहीं है, क्योंकि जिस कामनाके द्वारा समस्त कामनाएँ निवृत्त होती हैं वह कामना कामना नहीं कहला सकती, परन्तु सृष्टिकी कारणस्वरूपा विषय-कामना ऐसी नहीं है

अकाम्या सा निरोधरूपत्वात् ॥ २६ ॥

क्योंकि उसके द्वारा क्रमशः कामनाओंकी वृद्धि होती जाती है। जैसा स्मृतिमें लिखा है कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्द्धते ॥

कामोपभोगके द्वारा कामकी शान्ति कदापि नहीं हो सकती, प्रत्युत घृतकी आहुतिसे अग्निकी तरह पुनः पुनः कामना बढ़ती ही जाती है। वासनापरायण जीव काल्पनिक विषयसुखमें आसक्त होकर लक्ष्यभ्रष्ट हो इतस्ततः विविध विषयोंमें सुख और शान्तिका अन्वेषण करते हैं; परन्तु प्रकृतिके परिणामिनी होनेसे सब प्रकारके विषय-सुख नश्वर और क्षणभंगुर हैं। इसलिये नित्यानन्दप्रयासी जीवको अनित्य विषयमें सुख नहीं मिल सकता, क्योंकि चित्तकी शान्ति ही सुखका कारण है, जैसा कि स्मृतिमें कहा है—

लक्षणन्तु प्रसादस्य यथा स्वप्ने सुखं स्वपेत् ।
निवाते वा यथा दीपो दीप्यमानो न कम्पते ॥

वायुरहित स्थानमें प्रदीप जैसे निश्चल निष्कम्प और स्थिर रहता है अथवा सुषुप्तिदशामें जैसा चित्त स्थिर रहता है, ऐसे ही जब चित्तकी शान्ति हो, तभी जीवको सुख मिल सकता है। परन्तु विषयके क्षणभंगुर होनेसे उसमें चित्तकी इस प्रकारकी शान्तिकी कदापि संभावना नहीं है; प्रत्युत विषयभोगसे अतृप्त चित्त पुनः पुनः चञ्चल होकर अनन्त अशान्ति और दुःखको उत्पन्न करता है। क्योंकि सृष्टिकी कारणभूत वासनाका यह धर्म है कि,

उससे अन्यान्य अनेक वासनाओंकी उत्पत्ति होती रहती है जिसका कोई भी अन्त नहीं है। क्योंकि स्मृतिमें लिखा है कि—

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥
यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नाऽलमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

तृष्णानदी सारतरप्रवाह-
ग्रस्ताऽखिलाऽनन्तपदार्थजाता।
तटस्थसन्तोषसुवृक्षमूल-
निकाशदक्षा वहतीह लोके॥

तृष्णालताकाननचारिणोऽमी-
शाखाशतं काममहीरुहेषु।
परिभ्रमन्तः क्षपयन्ति कालं-
मनोमृगा नो फलमाप्नुवन्ति॥

चित्तप्रसादेन यतिर्जहातीह शुभाऽशुभम्।
प्रसन्नाऽऽत्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमत्यन्तमश्नुते।

मनुष्योंका चित्त जितना ही विषयमें आसक्त होता जाता है, उतनी ही शोक और अशान्ति चित्तमें बढ़ती जाती है। समस्त संसारमें जितने धन, धान्य, कामिनी और काञ्चन हैं, विषयासक्त एक मनुष्यको भी वे सब तृप्त करनेमें समर्थ नहीं होते हैं, इसलिये त्यागही परम सुख है। मनुष्यके हृदयमें तृष्णा-रूपिणी भीषण नदी प्रबला होकर सन्तोषरूपी सुवृक्षको समूल उन्मूलित करके

बहा ले जाती है। हृदयमें बद्धमूल जो कामवृक्ष है, तृष्णालता उस वृक्षकी शत शत शाखाओंका आश्रय करके हृदयकाननमें विलास विस्तार करती है, परन्तु उससे मनरूपमृगको कदापि शान्तिरूप फलकी प्राप्ति नहीं होती है। जब साधकका चित्त केवल भगवान्के चरणकमलोंका आश्रय ग्रहण करता है, तभी भगवान्की कृपासे उस साधकके चित्तकी सकल-वासना समूल नष्ट हो जाती है और उनके शान्तचित्तमें अपूर्व आनन्द और अध्यात्म-प्रसादका उदय होता है, क्योंकि जिस परमानन्द सत्ताके छायारूप विषय-सुखका आश्रय करके जीव उन्मत्त हो रहे हैं, उस छाया सुखके बदलेमें यदि जीवोंको यथार्थ आनन्द मिले तो उसमें विषयवासना कैसे रह सकती है। इसीलिये श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है कि—

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥

आहारशून्य मनुष्यका भी विषय-व्यापार निवृत्त हो सकता है, परन्तु उससे चित्तमें स्थित वासनाकी निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि निराहार मनुष्योंके अन्तःकरणसे वासनाका बीज नष्ट नहीं होता है। इसलिये आहार करनेपर पुनः वह वासना-बीज अङ्कुरित हो जाता है; परन्तु जब भक्तका चित्त भगवान्के चरणकमलोंमें लीन हो जाता है, तब उनकी सकल कामनाएँ समूल विनष्ट हो जाती हैं और उनको मनोनाश, तत्त्वज्ञान, परमानन्दमय निर्विकल्प समाधि और पराभक्ति प्राप्त हो जाती है, जैसा कि श्रुतिमें लिखा है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
भिद्यते हृदयग्रन्थि छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

जब साधकके चित्तसे कामना विनष्ट हो जाती है, तभी उनको परब्रह्मपदकी प्राप्ति होती है, उनके हृदयकी समस्त वासना-ग्रन्थि भिन्न हो जाती है, समस्त संशयजाल छिन्न हो जाता है और समस्त कर्मक्षय हो जाते हैं। और भी स्मृतिमें लिखा है कि—

मुक्ताऽऽश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथाऽर्चिः ।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-
मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ॥
सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या
तस्मिन्महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये ।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्
स्वात्मन् विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः ॥

भक्तका चित्त जब एकान्तरति होकर भगवान्‌में विलीन हो जाता है, तब उसकी सकलकामना निवृत्ति हो जाती है और वासनाशून्य समाधिशुद्ध उसके अन्तःकरणमें अद्वितीय परमानन्द सत्ताका अनुभव होता है और ऐसे भक्त प्रकृतिसे अतीत, सुख दुःखसे अतीत और गुणातीत होकर आत्माराम हो जाते हैं।

यद्यपि आर्त्तभक्त, जिज्ञासु भक्त, अथवा अर्थार्थी भक्त, इन

सबमें कुछ न कुछ कामना रहती है; परन्तु ज्ञानी भक्तमें कुछ कामना नहीं रह सकती है। अतः सब भक्तोंका लक्ष्य इस चतुर्थ अवस्थापर रहनेके कारण और सब प्रकारकी भक्तिकी परिसमाप्ति पराभक्तिमें होनेके कारण यह मानना ही पड़ेगा कि, यथार्थ और सर्वोत्तम भक्तिभावमें कामनाका लेशमात्र नहीं रह सकता है। दूसरी ओर जिस पदमें सब कामनाओंका विलय होता है, वह पद स्वयं निरोधरूप है इसमें सन्देह ही क्या है? सकल विश्वप्रपञ्च श्रीभगवान्से प्रकट होकर उन्हींमें स्थित रहकर अन्तमें उन्हींमें लयको प्राप्त होता है। सबका लयस्थान वही है। इस कारण वह पद निरोधरूप है, इसमें सन्देह नहीं और जो पद निरोधरूप है वहाँ पहुँचनेपर सब कामना स्वतः ही लय हो जाती हैं। दूसरी ओर जिस कामनासे भक्त अकाम्यपदमें पहुँच जाता है, उस कामनाको कामना कहना अनुचित है। इसलिये ही भक्तिकी कामना कदापि कामनापदवाच्य नहीं हो सकती है॥ २६॥

अब भक्तिकी तीसरी विशेषता वर्णन की जाती है—

भक्ति स्वयं फलरूप होनेसे सर्वफलप्रदा है॥ २७॥

भगवद्भक्तिके द्वारा साधकको सकल प्रकारके फलोंकी प्राप्ति होती है, क्योंकि भक्ति स्वयं फलरूप ही है। भक्ति समस्त साधनाका फल है, क्योंकि जन्म-जन्मान्तरकी तपस्याकेद्वारा चित्तका मल जब विदूरित होता है, तभी भगवान्की कृपासे साधकके

स्वयं फलरूपत्वात् सर्वफलप्रदा॥ २७॥

चित्तमें भगवान्के प्रति भक्तिभावका उदय होता है। पहले सूत्रोंमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार यह सिद्ध कर चुके हैं कि, भक्तिके द्वारा अमृतत्वभाव होता है और उसके साधनमें पतनकी सम्भावना नहीं रहती है तथा वह भक्ति निरोधरूप होनेसे उस भक्तिकी कामना कामना नहीं हो सकती, वह अकाम्या है। जब भक्ति ही मुक्ति-प्राप्तिका कारण है, तो वह अमृतत्वरूप ही है। जब भक्तिकेद्वारा उस तत्त्वातीत परमपदपर साधकका लक्ष्य जम जाता है, तो उसके पुनः दूसरी ओर लक्ष्य न जानेसे उसके पतनकी सम्भावना नहीं रहती। जब भक्तिके द्वारा सब प्रकारकी संसार-वासनाका निरोध हो जाता है, तब वह अकाम्यपद देने वाली है इसमें सन्देह ही क्या है। अब महर्षिसूत्रकार इस सूत्र द्वारा सबसे उत्तम फलका स्वरूप वर्णन कर रहे हैं और कहते हैं कि, जब भक्ति स्वयं फलरूपा है, तो वह सर्वफलप्रदा होगी इसमें सन्देह ही क्या है। सब प्रकारके पुरुषार्थका अन्तिम लक्ष्य मुक्तिकी प्राप्ति है, इसी कारण मुक्तिकी प्राप्तिको अत्यन्त पुरुषार्थ कहते हैं। जैसे सांख्यदर्शनमें कहा है—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।

त्रिविध दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति अत्यन्त पुरुषार्थ है। सुतरां जब वही मुक्तिफल-प्रदायिनी भक्ति परमपुरुषार्थरूपी निःश्रेयस फल देनेवाली है, तो उसको स्वयं फलरूप अवश्य ही कहना होगा। और जो स्वयं फलरूपा है वह सर्वप्रदा भी अवश्य है। सब फलोंकी परिसमाप्ति जिस पदमें होती है, वह पद सर्वफलप्रद है इसमें सन्देह

ही क्या है। इस विषयको और तरहसे भी समझ सकते हैं कि, जीवका पुरुषार्थ अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष इस प्रकारसे चतुर्वर्गमें विभक्त है। उन चारोंमेंसे अर्थ और काम तो सम्पूर्णरूपसे धर्मके अधीन हैं और मुक्ति धर्मका फल है। इस सिद्धान्तके अनुसार भी मुक्तिप्रदायिनी भक्ति सर्वफलप्रदा है। सकाम भक्तकेलिये तो सर्वफलदाता सर्वकर्मनियन्ता जगद्धाता सर्वशक्तिमान् भगवान्की भक्तिपर ही सब प्रकारके फलप्राप्तिकी निर्भरता रहती है; क्योंकि वे सर्वशक्तिमान् और भक्तवत्सल हैं। उनकी करुणारूप मलयपवन् चिर दिनसे ही वह रहा है, परन्तु जब मनरूपी तरणी (नाव) भक्तिरूप पक्ष (पाल) को विस्तार करती है, तभी जीवको भगवान्की कृपाकी प्राप्ति होती है; परन्तु इस प्रकारकी भक्तिकी प्राप्ति बहुजन्मार्जित तपके द्वारा साध्य है। स्मृतिमें भी लिखा है कि—

जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥

सहस्र सहस्र जन्मसे लब्ध तप, ध्यान और समाधिके द्वारा भगवान्के प्रति भक्तिका उदय होता है। ऐसी भक्तिको लाभ करनेसे साधक अध्यात्मराज्यमें क्रमशः उन्नति करते हुए अन्तमें परमानन्दमय परमपदको प्राप्त करते हैं, जैसा स्मृतिमें लिखा है कि—

तदा पुमान्मुक्तसमस्तबन्धन-
स्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः

निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा
भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम् ॥
अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः
शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम् ।
तद्ब्रह्मनिर्वाणसुखं विदुर्बुधा-
स्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम् ॥

भगवान्‌के प्रति भक्तिके द्वारा साधकका समस्त संसारबन्धन नष्ट हो जाता है, कर्मोंके निखिल बीज नष्ट हो जाते हैं, संसारचक्रमें परिभ्रमण निरस्त होता है, आनन्दमय भगवान्‌के साक्षात्कार होनेसे भक्तको असीम निर्वाण-सुखकी प्राप्ति होती है। श्रीगीतामें भी लिखा है कि—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

भक्तिकेद्वारा भक्त भगवान्‌के यथार्थ स्वरूपको जानकर परमपदको प्राप्त करते हैं। जो पद सकल पुरुषार्थका चरम-फल और मनुष्यजन्मका श्रेष्ठतम लक्ष्य है, उसके प्राप्त करनेसे साधकको और कुछ भी प्राप्त करना अवशेष नहीं रहता है। इसीलिये श्रीभगवान्‌ने पुनः गीतामें कहा है कि—

यं लब्ध्वा चाऽपरं लाभं मन्यते नाऽधिकन्ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥

आनन्दमय ब्रह्मपदके प्राप्त करनेसे भक्तको और कोई लाभ प्रियतर मालूम नहीं होता है और सच्चिदानन्द-सिन्धुमें निमग्न-

भक्त प्रारब्ध-कर्मजनित तीव्र दुःखके द्वारा अणुमात्र भी विचलित नहीं होते हैं। ऐसा भी लिखा है कि—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

जिस प्रकार विशाल समुद्रमें स्नान करनेसे कूप तड़ागादिकोंमें स्नान करनेका फल तो होता ही है; अधिकन्तु सर्वतोव्याप्त समुद्रमें अवगाहनके द्वारा अधिकतर शान्ति प्राप्त हुआ करती है, इसी तरहसे सकाम साधनोंके द्वारा तत्तल्लोकादिकोंकी प्राप्ति होनेसे सकाम साधकको जो परिच्छिन्न आनन्दका लाभ होता है, निष्काम साधनकेद्वारा लभ्य ब्रह्मपदमें उन सब परिच्छिन्न आनन्दोंका अन्तर्भाव तो है ही अधिकन्तु ब्रह्मानन्दके असीम और अपरिच्छिन्न होनेसे ब्रह्मानन्दसिन्धुमें निमग्न भक्तको असीम आनन्दकी प्राप्ति होती है, इसलिये श्रुतिमें लिखा है कि—

आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्। एषोऽस्य परमानन्दोऽन्यानि—
भूतान्येतस्य मात्रामुपजीवन्ति।

भूमानन्दकी सत्ता ब्रह्ममें ही विद्यमान है, जो भगवद्भक्त साधकको प्राप्त होती है और विषयमुग्ध जीव उस आनन्दके छायामात्रका उपभोग करते हैं। इसलिये सकल साधनोंकी फल-रूपिणी भक्ति सर्वसिद्धिप्रदायिनी है, इसमें कोई सन्देह नहीं। उपनिषदोंमें भी लिखा है कि—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥
यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्चकामान्।
तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥

भक्तिके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त करनेसे साधककी हृदयग्रन्थि नष्ट हो जाती है, समस्त सन्देह दूर हो जाते हैं और अखिल कर्म क्षय हो जाते हैं। उनके चित्तमें प्रारब्धवेगसे अथवा समष्टि-रूपसे आश्रित समस्त सदिच्छा तत्काल ही पूर्ण हो जाया करती हैं। पराभक्तिकी यही श्रेष्ठता है ॥ २७ ॥

अब भक्तिका स्वरूप निर्णय किया जाता है—

भक्ति ज्ञान नहीं है क्योंकि शत्रुका भी ज्ञान होता है परन्तु उसमें भक्ति नहीं होती ॥ २८ ॥

भगवान्‌के विषयमें ज्ञान और भगवान्‌के प्रति भक्ति, यह दोनों एक वस्तु नहीं है। ज्ञान होनेसे ही भक्ति हो जायगी, ज्ञानके साथ भक्तिका ऐसा सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि संसारमें ऐसा देखा जाता है कि शत्रुके विषयमें मनुष्यको विशेष-ज्ञान रहनेपर भी शत्रुके साथ विन्दुमात्र भी प्रीति नहीं होती है। ज्ञान दो प्रकारका है; एक स्वरूपज्ञान और दूसरा तटस्थ ज्ञान। महर्षि सूत्रकारने यहां तटस्थ ज्ञानको ही लक्ष्य करके कहा है। स्वरूपज्ञानकी स्थिति अद्वैतपदमें होनेके कारण उसको आत्माका स्वभाव कह सकते

नाऽसौ ज्ञानं ज्ञानसत्त्वेऽपि द्विषतस्तदसत्त्वात् ॥ २८ ॥

हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है यह अनुभव स्वरूपज्ञानका है उस स्वरूपज्ञानसे इस सूत्रका तात्पर्य्य नहीं है। इस सूत्रका सम्बन्ध तटस्थज्ञानसे होनेके कारण यह मानना ही पड़ेगा कि, तटस्थज्ञान भक्तिका सहायक है परन्तु ज्ञानमें और भक्तिमें आकाश पातालका-सा अन्तर है। तटस्थज्ञान एक साधारण वस्तु है, शत्रु, मित्र, सत् असत् सबका हो सकता है। और दूसरी ओर भक्तिका सम्बन्ध जब केवल अनुरागसे है तो भक्ति और ज्ञान कदापि एक नहीं हो सकता। ज्ञान जब शत्रु और मित्रके साथ, जड़ और चेतनके अनुभवमें, असत् और सत्के विचारमें समानरूपसे कार्य्यकारी होता है तो मानना ही पड़ेगा कि केवल मनकी अनुरागवृत्तिसे सम्बन्ध रखनेके लिये भक्ति और ज्ञान एक पदार्थ कदापि नहीं हो सकता। ज्ञानके द्वारा ज्ञेयरूपी श्रीभगवान्में अनुराग उत्पन्न होनेकी सहायता मिलती है परन्तु भगवान्में अनुराग ज्ञानसापेक्ष नहीं है, अनुरागका राज्य कुछ और ही है। इसमें चित्तका भाव, हृदयकी एकतानता और दीनबन्धु भगवान्की दया ही एकमात्र अवलम्बन है। स्मृतिमें भी लिखा है कि—

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद्भक्त्या विनाशयः॥
मयि प्रेमाऽऽकुलवति रोमाञ्चिततनुः सदा।
प्रेमाऽश्रुजलपूर्णाक्षः कण्ठगद्गदनिस्वनः॥

जिस भक्तिके द्वारा शरीर, मन और आत्मा पवित्र होकर साधकको आनन्दसागरमें निमग्न करती है उस भक्तिका प्रकाश,

ज्ञानमें नहीं, परन्तु प्राणके स्पन्दनमें, भावके उच्छ्वासमें, अंग प्रत्यंगके पुलकमें, हृदयकी आर्द्रतामें और आंखोंकी आनन्दाश्रु-धारामें ही है यही हृदयविहारिणी भक्तिकी माधुरी है। इसमें 'अपि' शब्दका प्रयोग इस विज्ञानको पुष्ट करनेके लिये हुआ है। शत्रुमें राग हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह द्वेषका पात्र है, इस कारण 'अपि' शब्दका प्रयोग हुआ है ॥ २८ ॥

भक्तिके उन्नततम भावका वर्णन किया जाता है—

पराभक्ति स्वरूपज्ञानस्वरूपिणी है ॥ २९ ॥

परमात्माके स्वरूपका ज्ञान और पराभक्ति एक ही वस्तु है। ज्ञान दो प्रकारके हैं। यथाः—तटस्थ और स्वरूप, जैसा कि पहले कहा है। तटस्थ ज्ञानमें ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूपी त्रिपुटी रहती है; अर्थात् इस दशामें ज्ञेय परमात्मा, ज्ञाता साधक और ज्ञानरूप व्यापारके रहते हुए आत्माकी उपलब्धि होती है। परन्तु स्वरूप-ज्ञानकी दशामें ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूपी, त्रिपुटीका पूर्णतया विलय होकर एकमात्र अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही रह जाते हैं। निर्विकल्प समाधिस्थित राजयोगी ज्ञानी महापुरुष इसी अद्वैत-भावकी उपलब्धि करते हैं और भगवान् सच्चिदानन्दके आनन्द-भावमें निमग्न साधक भी भक्तिकी परादशामें सर्व्वत्र आनन्द-रूप परमात्माका साक्षात्कार करते हुए इसी अद्वितीयभावकी उपलब्धि किया करते हैं। ब्रह्मसद्भावके उदय होनेपर जब स्वरूप-

परा तु स्वरूपज्ञानरूपा ॥ २९ ॥

ज्ञानके प्रकट होनेसे कार्य्यब्रह्म और कारणब्रह्म दोनोंकी माया-जनित स्वतंत्रसत्ताका विलय होकर कार्य्यब्रह्म और कारणब्रह्मकी एकतासे अद्वैतभावकी स्थिति हो जाती है, ठीक उसीप्रकारसे पराभक्तिके उदय होनेसे एक परमात्मा श्रीभगवान्‌के सिवाय और द्वैत अनुभव भाग्यवान् भक्तको नहीं रहता है। उस समय कार्य्यब्रह्मरूपी जगत्प्रपञ्च, कारणब्रह्मरूपी श्रीभगवान्‌के स्वरूपमें ही विलीन होता हुआ उस उच्चश्रेणीके भक्तको अनुभव होता है। उस समय उस भक्तका चित्त स्थूल और सूक्ष्म जगत्प्रपञ्चके साथ रससागररूपी कारणब्रह्म परमात्मामें, जलमें जलविन्दुके समान मिलकर एक रस हो जाता है। इसलिये ही परा-भक्ति और स्वरूपज्ञान एक ही वस्तु है। जैसा कि स्मृतिमें कहा गया है—

उच्चैर्गायंश्च नामानि ममैव खलु नृत्यति।
अहंकाराऽऽदिरहितो देहतादात्म्यवर्जितः॥
इति भक्तिस्तु या प्रोक्ता पराभक्तिस्तु सा स्मृता।
यस्यां तदतिरिक्तं तु न किञ्चिदपि भाव्यते॥
इत्थं जाता पराभक्तिर्यस्य भूधर! तत्त्वतः।
तदैव तस्य चिन्मात्रे मद्रूपे विलयो भवेत्॥
भक्तेस्तु या पराकाष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्त्तितम्।
वैराग्यस्य च सीमा सा ज्ञाने तदुभयं यतः॥

भगवान्‌के मधुर गुण-कीर्त्तनमें लवलीन साधक भगवान्‌में ही आत्मनिवेदन करके अहंकाररहित होकर धीरे-धीरे देहके प्रति

अध्यासशून्य हो जाते हैं और इस प्रकारसे आत्माराम होनेपर साधकके चित्तसे तटस्थभावका विलय हो उन्हें निखिल जगत्में ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखता है यही पराभक्तिकी दशा है । इस दशाके साथ स्वरूपज्ञानकी दशा, निर्विकल्प समाधिकी दशा और परवैराग्यकी दशाका कोई भेद नहीं है। जिस भाग्यवान् साधकको इस दशाकी प्राप्ति होती है वे शास्त्रमें भागवतोत्तम कहलाते हैं। जैसा कि स्मृतिमें लिखा है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥
सर्व्वभूतस्थमात्मानं सर्व्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्व्वत्र समदर्शनः ॥

जो भक्त सकल भूतमें सच्चिदानन्दरूप भगवान्का भाव और प्रस्तर-खोदित मूर्तिकी नाईं भगवान्में ही निखिल चराचर विश्वको देखते हैं वे ही सर्वोत्तम भागवत हैं, क्योंकि श्रुतिमें भी लिखा है कि—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते
आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।
"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ॥"

आनन्दरूप भगवान्से ही निखिल जीवोंकी उत्पत्ति, आनन्दरूप भगवान्में ही जीवोंकी स्थिति और आनन्दरूप भगवान्में ही जीवोंका लय हुआ करता है। इसीलिये शान्त साधक सर्वतोव्याप्त आनन्दरूप भगवान्में ही चित्तको विलीन करके पराभक्तिकी

दशामें स्वरूपज्ञानको प्राप्त किया करते हैं। पराभक्तिदशाकी उपलब्धि और श्रीभगवान्के स्वरूपमें किञ्चित्मात्र भी भेद नहीं रहता; उसी दशामें 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंकी चरितार्थता होती है ॥ २९ ॥

अब पराभक्तिकी दशामें स्वरूपज्ञानके उदय होनेसे क्या होता है सो कहा जाता है :—

उसके उदयसे तटस्थज्ञानका लय होता है ॥ ३० ॥

भक्तिकी परादशामें स्वरूपज्ञानके आविर्भाव होनेसे तटस्थ-ज्ञानका तिरोभाव होता है। वैधी और रागात्मिका नामसे गौणी भक्तिके जो दो भेद हैं, उन दोनों ही के साथ तटस्थज्ञानका सम्बन्ध है; अर्थात् वैधी भक्तिकी प्रथम कक्षासे लेकर रागात्मिका भक्तिके अन्तर्गत तन्मयासक्तिपर्यन्त सब दशामें ध्याता, ध्येयका पृथक् सम्बन्ध बना रहता है। परन्तु भक्तिकी परादशामें स्वरूप-ज्ञानके उदय होनेसे साधकको सर्वत्र अद्वितीय सच्चिदानन्दका दर्शन होता है। उस समय ध्याता और ध्येयकी एकाकारकारिता होकर साधककी स्थिति स्वस्वरूपमें हुआ करती है। इसलिये ही श्रुतिमें लिखा है कि—

"यत्र हि द्वैतमेव भवति यत्र वाऽन्यदिव स्यात्तत्राऽन्योऽन्यत् पश्येदन्योऽन्यद्विजानीयात्, यत्र त्वस्य सर्वात्मतैवाऽभूत् तत् केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्।"

तदाविर्भावात्तटस्थज्ञानलयः ॥ ३० ॥

जबतक तटस्थज्ञान अर्थात् द्वैतज्ञान रहता है तबतक द्रष्टा और दृश्यमें भेद रहता है और जब तटस्थज्ञानका विलय होकर स्वरूपज्ञानका उदय होता है तब द्वैतभावके सम्पूर्णतः नष्ट हो जानेसे अद्वितीय परब्रह्मभावमें साधककी स्थिति होती है यही पराभक्ति सब भक्तोंकी अभीष्ट है। यही दशा भक्तिराज्यकी सीमा है और इसी दशाको शास्त्रोंमें जीवन्मुक्त दशा करके वर्णन किया है ॥३०॥

ज्ञानकी भी अपेक्षा भक्तिकी विशेषता वर्णन की जाती है—

भक्ति ज्ञानके समान अनुष्ठानसाध्या नहीं है ॥ ३१ ॥

ज्ञानके समान अनुष्ठानके द्वारा भक्तिकी प्राप्ति नहीं होती है। जिस प्रकार ज्ञानकी जिज्ञासा, श्रवण, मनन आदि करने पर तटस्थज्ञानकी श्रेष्ठदशाका उदय होता है, भक्ति उस प्रकारकी नहीं है। ज्ञानके साधकके विषयमें श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है कि—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

गुरुके प्रति प्रणिपात, जिज्ञासा और सेवाके द्वारा ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार अन्यशास्त्रोंमें भी कहा है कि—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येयं एते दर्शनहेतवः ॥

ज्ञानके हेतु तीन प्रकारके हैं। श्रुतिवाक्योंसे श्रवण, श्रुतिविषयका मनन एवं मननके पश्चात् उस सबका ध्यान अर्थात् अनुभूति।

नानुष्ठात्रनुष्ठानविषया ज्ञानवत् ॥ ३१ ॥

परन्तु भक्ति-प्राप्तिके उपाय ये सब नहीं हैं। भक्ति केवल श्रीभगवान्‌की कृपासे ही प्राप्त हुआ करती है।

इस सूत्रमें ज्ञानशब्दका तात्पर्य्य तटस्थ ज्ञानसे है। गुरुके चरणोंमें प्रणिपात, गुरुसेवा, श्रीगुरुदेवसे जिज्ञासा, मनन, निदिध्यासन, सत्संग, स्वाध्याय आदि सत्पुरुषार्थोंके द्वारा जिस प्रकार शनैः शनैः तत्त्वज्ञानका उदय होता है उस प्रकार पुरुषार्थ-साध्य रागात्मिका भक्ति और पराभक्तिके साथ अन्तःकरणके एक विशेष अवस्थाका सम्बन्ध है सो परानुरागमूलक होनेसे विलक्षण है।

यद्यपि वैधीभक्तिके साधनके समय अनुष्ठानकी आवश्यकता होती है; तथापि वैधीसे रागात्मिका और रागात्मिकासे परा, इस प्रकार इन दोनों प्रकारकी भक्तिकी सन्धियोंमें केवल भगवत्कृपाका ही अलौकिक सम्बन्ध विद्यमान है; अर्थात् वैधीभक्तिकी दशामें विधियोंका अनुष्ठान करनेसे ही रागात्मिका भक्तिकी प्राप्ति होगी, एवं रागात्मिका भक्तिके साधनपूर्ण होते ही पराभक्तिकी प्राप्ति होगी ऐसा नहीं है। वैधीसे रागात्मिकाकी दशामें आना हो तो भगवान्‌की कृपा विना साधक नहीं आ सकता है। इसी प्रकार रागात्मिकासे पराभक्तिकी दशामें आना हो तो भगवत्कृपाकी आवश्यकता होगी। इस कारण ही श्रुतिमें लिखा है कि—

नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य—

स्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥

आत्मा, शब्द अथवा बुद्धिके द्वारा प्राप्त नहीं हो सकते, जिसपर आत्मा कृपा करते हैं उसके समीप ही अपना सच्चिदानन्द-स्वरूप प्रकट करते हैं ॥ ३१ ॥

पात्रापात्र विचारकी आवश्यकता न होनेसे भक्तिका विशेषत्व वर्णन किया जाता है—

भक्ति सबही की आश्रयभूता है, इस कारण ज्ञानी अथवा अज्ञानी सबही इसको प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥

ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी हो, सबही भक्तिके द्वारा उन्नति-लाभ कर सकते हैं, क्योंकि भक्ति सबका आश्रयस्थल है। जिस प्रकार कर्म्मकाण्डमें आर्य्य, अनार्य्य, चतुर्वर्ण, चतुराश्रम, स्त्री-पुरुष आदि भेदोंके अनुसार अधिकारिनिर्णयकी आवश्यकता होती है; अथवा जिस प्रकार ज्ञानकाण्डके अधिकारी होनेसे पहले साधन-चतुष्टय सम्पन्न होना पड़ता है, इस प्रकारकी कोई विधि भक्तिमें नहीं है। समदर्शी करुणासिन्धु भगवान्के चरणकमलोंका आश्रय करनेमें स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध, आर्य्य, अनार्य, ज्ञानी, अज्ञानी, सबका ही समान अधिकार है।

भक्तिका मार्ग अतिसरल है। धर्मसाधनके जितने अंग हैं उनमें सफलता लाभ करनेके लिये जिन-जिन विषयोंकी आवश्यकता

ज्ञाननिष्ठेतरयोस्तल्लाभः सर्वाश्रयत्वात् ॥ ३२ ॥

है, भक्तिमें उस प्रकारकी आवश्यकता नहीं रहती है। दाता होनेमें धन ऐश्वर्य आदिकी आवश्यकता, तपस्वी होनेके लिये योग्य शरीर और शक्ति आदिकी आवश्यकता, कर्मयज्ञमें द्रव्य, मंत्र, क्रिया आदिकी आवश्यकता; योगी होनेमें योगकौशल की आवश्यकता और ज्ञानी होनेमें साधन चतुष्टयकी आवश्यकता जैसे रहती है, भक्त होनेमें उस प्रकार किसी विषयकी आवश्यकता नहीं रहती है। द्वेषवृत्तिके विरुद्ध केवल रागवृत्तिको अपने चित्तमें धारण करके अपने चत्तके वृत्तिप्रवाहको जगन्नाथ भक्तमनोमन्दिर-वहारी श्रीभगवान ओर प्रवाहित करते ही भक्तिका उदय हो सकता है। उसे । किसी आनुषंगिक विषयकी आवश्यकता नहीं रहती हैं क्योंकि भगवद्रसतरंगिणी भक्ति स्वयं सिद्ध-रूपिणी । इसी प्रकार स्मृतिमें भी कहा है कि—

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाऽविभूयते ॥
भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥

अज्ञानी एवं विषयासक्त मनुष्य भी यदि भक्तिलाभ कर सके तो उसकी विषयासक्ति दूर होकर उन्नति होती है। भगवद्विषयिणी भक्ति चाण्डालको भी पवित्र करके मुक्तिमार्गका अधिकारी करती है। भक्तिका अधिकार समानरूपसे सकल प्राणीमात्रका परम आश्रयस्वरूप है ॥ ३२ ॥

अब भक्ति सब साधनोंकी मूलरूपा है इस कारण उसका विशेषत्व वर्णन किया जाता है—

निखिल साधकोंको अपेक्षित होनेसे भक्ति सर्वश्रेष्ठ है ॥३३॥

किसी प्रकारका भी साधक क्यों न हो, साधनमार्गमें अग्रसर होना हो तो सबको ही भक्तिका आश्रय ग्रहण करना पड़ता है, इस कारण भक्ति श्रेष्ठतमा है। स्मृतिमें कहा है कि—

यथा समस्तलोकानां जीवनं सलिलं स्मृतम्।
तथा समस्तसिद्धीनां जीवनं भक्तिरिष्यते ॥

जिस प्रकार जल, समस्त संसारका जीवनस्वरूप है; उसी प्रकार भक्ति भी समस्त सिद्धियोंकी जीवनस्वरूपिणी है। कर्म्मासक्त अज्ञ अथवा तत्वदर्शी ज्ञानी, प्रवृत्तिमार्गसेवी गृही अथवा निवृत्तिपथचारी संन्यासी, जो कोई जिस प्रकारका ही साधक क्यों न हो, साधनमार्गमें धीरता, स्थिरधारणा एवं तीव्रसंवेग प्राप्त करनेके अर्थ सबको ही भगवद्भक्तिकी आवश्यकता होती है।

इस सूत्रके विषयको स्पष्ट कह देनेके लिये यह समझना उचित है कि आत्मचैतन्य प्रकाशक साधन प्रणालियोंको योगतत्त्ववेत्ताओं ने चार भागोंमें विभक्त किया है, यथाः—स्थूल ध्यानमूलक मन्त्र योगप्रणाली, ज्योतिर्ध्यानमूलक हठयोग प्रणाली, बिन्दुध्यानमूलक लययोग प्रणाली और ब्रह्मध्यानमूलक राजयोगप्रणाली, इन सब साधन प्रणालियोंमें अनुरागात्मक गुरुभक्ति और इष्ट भक्तिकी

सा परार्ध्या निखिलासाधकाऽपेक्षित्वात् ॥ ३३ ॥

प्रथमसे लेकर अन्तपर्य्यन्त आवश्यकता मानी गयी है। अतः इन सब प्रकारकी साधन प्रणालियोंमें भक्ति प्राणरूपा है।

पूज्यपाद महर्षिपतञ्जलि प्रभुने योगदर्शनमें लिखा है कि—

तीव्रसंवेगानामासन्नतमः।

चित्तका तीव्र संवेग स्वरूपोलब्धिमें आसन्नतम उपाय है। भक्तिके द्वारा ही साधक इस संवेगको प्राप्त कर सकता है। स्मृतिमें लिखा है कि—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्त्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

जिस प्रकार अजातपक्ष पक्षिशावक माताके दर्शनकी इच्छा करता है, जिस प्रकार छोटा बच्चा अत्यन्त क्षुधार्त्त होकर माताके स्तनपानकी इच्छा करता है और जिस प्रकार वियोगिनी सती स्त्री प्रवासगत अपने पतिके दर्शनकी इच्छा करती है; उसी प्रकार जब साधकके चित्तमें भगवान्के प्रति तीव्र दर्शनाकांक्षा होती है तभी उनके दर्शनोंका लाभ होता है। साधकके मनमें इस प्रकारकी तीव्र आकांक्षा भक्तिके द्वारा ही होती है, इस कारण भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।

और भी कहा जाता है ॥३३॥

भक्ति धर्म्मके सकल अङ्गोंकी ही सहायिका है ॥ ३४

सर्व्वधर्माङ्गप्रपन्ना च ॥ ३४ ॥

भक्ति अखिल धर्माङ्गोंकी सहकारिणी है। स्मृतिशास्त्रमें धर्मके अङ्गोंके स्वरूप और भेद इस प्रकार वर्णन किये हैं।

अहमेवास्मि भो देवाः धर्म्मकल्पद्रुमस्य च।
बीजं मूलं तथाऽऽधारो नात्र कश्चन संशयः॥
स्कन्धस्तस्य द्रुमस्यास्ते धर्मो वै विश्वधारकः।
मुख्यं शाखात्रयञ्चास्य यज्ञोदानं तपस्तथा॥
ब्रह्मार्थाभयदानानि देवाः त्रैगुण्ययोगतः।
दानस्य प्रतिशाखाः स्युर्नवधा नात्र संशयः॥
तपोऽपि त्रिविधं ज्ञेयं कायवाणीमनोभवम्।
त्रैगुण्ययोगेनास्यापि प्रतिशाखा नवासते॥
प्रतिशाखा अनेकाः स्युर्यज्ञशाखासमुद्भवाः।
काम्याध्यात्माधिदैवाधिभूतनैमित्तनित्यकाः॥
कर्म्मयज्ञप्रशाखाया भेदात् त्रैगुण्ययोगतः।
त एवाष्टादशास्या हि प्रतिशाखा मनोहराः।
पितृदेवर्षिवृन्दानामवतारगणस्य च।
पञ्चानां सगुणब्रह्म-रूपाणां निर्गुणस्य च॥
ब्रह्मणश्चासुरौघाणामुपास्ते पञ्च भक्तितः।
मन्त्रोहठोलयोराज एते योगेन च ध्रुवम्॥
अस्या भेदाश्च चत्वारो भेदा एवं नवासते।
एते भेदा नवैवाहो देवाः त्रैगुण्ययोगतः॥
उपास्तेः प्रतिशाखा स्युः षड्रूपा सप्तविंशतिः।
श्रवणं मननञ्चैव निदिध्यासनमेव च।

त्रयोऽमी ज्ञानयज्ञस्य भेदास्त्रैगुण्ययोगतः ।
नवधा संविभक्ता हि प्रतिशाखा नवासते ॥
द्विसप्तत्या प्रशाखाभिः शाखाभिश्चैवमेव भोः ।
निजानां ज्ञानिभक्तानां धर्म्मकल्पद्रुमात्मना ॥

देवीने कहा है कि, हे अमरगण! मैं ही धर्म्मकल्पद्रुमका बीज भी हूं, मूल भी हूं और आधार भी हूं, इसमें कुछ सन्देह नहीं है। उस वृक्षका स्कन्ध विश्वधारक धर्म्म ही है। उसकी प्रधान तीन शाखाएं हैं। यथा—यज्ञ, तप और दान। अर्थदान, ब्रह्मदान और अभयदानके त्रिगुणात्मक होनेसे दानकी नौ प्रतिशाखाएं हैं। हे देवगण! इसमें सन्देह नहीं है। शारीरिक तप, वाचनिक तप और मानसिक तपके त्रिगुणात्मक होनेसे तपोधर्म्मकी नौ प्रतिशाखाएं हैं। यज्ञशाखासे उत्पन्न प्रतिशाखाएं अनेक हैं। नित्य, नैमित्तिक, काम्य और अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत, ये कर्म्म यज्ञरूपी प्रशाखाओंके भेद हैं, इनके त्रिगुणात्मक होनेसे कर्म्मयज्ञकी मनोहर अठारह प्रतिशाखाएं हैं। उपासनायज्ञके आसुरीउपासना, ऋषि देवता और पितरोंकी उपासना, अवतारोंकी उपासना, पञ्चसगुणब्रह्मरूपोंकी उपासना और निर्गुणब्रह्मोपासना ये पाँच भक्तिसम्बन्धी भेद हैं। और योगके अनुसार उपासनाके मन्त्र, हठ, लय, राज ये चार भेद हैं, इस प्रकारसे इन्हीं नौ भेदोंके त्रिगुणात्मक होनेसे हे देवगण! उपासनाकी सत्ताईस प्रतिशाखाएँ हैं। ज्ञानयज्ञके श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ये तीन भेद त्रिगुण सम्बन्धसे नवधा विभक्त होकर नौ प्रतिशाखाएँ होती हैं। हे

देवगण ! इस प्रकारसे मैं ही बहत्तर शाखा और अनेक प्रति-शाखाओंमें धर्म्मकल्पद्रुमरूपसे अपने ज्ञानी भक्तके हृद्देशमें निःसन्देह विराजमान हूं।

कर्म, उपासना, ज्ञान, यज्ञ, तप, दान आदि धर्म्मके सकल अङ्गोंकी ही पूर्तिके अर्थ भगवद्भक्ति अपेक्षित होती है। विना अनुरागके किसीकी भी धर्मानुष्ठानमें प्रवृत्ति नहीं होती है। प्रथमतः गुरुभक्ति विना कर्म उपासनादि किसीकी योग्यता मनुष्यको प्राप्त नहीं होती। शास्त्र और गुरु, आचार्य्य, पुरोहित पर बिना अनुरागके उनकी आज्ञापालनरूपी धर्म्मानुष्ठानमें प्रवृत्ति कदापि नहीं हो सकती, दूसरी ओर विचार सकते हैं कि, दान, तप और कर्म्ममें अहङ्कार, दम्भ आदि जो उन्माद कर्त्ताके चित्तमें उत्पन्न होते हैं, उपासनामें आलस्य, ज्ञानमें अहङ्कार आदि उत्पन्न होते हैं उनका निराकरण करके धर्म्मके अभ्युदय मार्गको सरल रखनेके लिये अनुरागात्मक विश्वास, श्रद्धा और भक्तिकी सदा आवश्यकता रहती है। इसी अनुरागकी वृद्धि करके धार्म्मिक मनुष्योंके चित्तमें धर्म्मकी दृढ़ता सम्पादनके अर्थ भगवद्भक्ति ही प्रधान सहायभूता है। यह भी भक्तिकी असाधारण महिमा है ॥ ३४ ॥

और भी कहा जाता है—

सामान्य भक्तिके उदय होनेपर भी महापाप विनष्ट होते हैं ॥ ३५ ॥

लघूदितायामपि महाकल्मषहानम् ॥ ३५ ॥

स्वल्पमात्र भक्तिके उदय होनेसे ही महापापका नाश होता है। भक्तिकी यह एक अपूर्व महिमा है कि महापापी भी भगवद्भक्तिका लाभ करनेपर पापशून्य होकर पुण्यमय अध्यात्म-राज्यमें अग्रसर हो सकता है। इसी प्रकार स्मृतिमें भी लिखा है कि—

सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः॥
अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानञ्च विज्ञानविरागयुक्तम्॥
यथाऽग्निः सुसमृद्धाऽर्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः॥
तथाऽग्निना हेम मलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्म्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥
कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद्भक्त्या विनाशयः॥

भक्तियुक्त होकर निशिदिन भगवान्का नामस्मरण और

कीर्त्तन करनेसे, जिस प्रकार सूर्योदयके समय अन्धकारका नाश हो जाता है उसी प्रकार चित्तका समस्त मल दूर होकर सत्त्वगुण-की वृद्धि, शान्ति, वैराग्य और ज्ञानलाभ होता है। इस विज्ञानका तात्पर्य यह है कि वस्तुतः आध्यात्मिक स्थितिके विचारसे दो अवस्थाएँ मानी गयी हैं, एक भगवद्भावमय ऊर्द्ध्वगामिनी अवस्था और दूसरी इन्द्रिय और विषय भावमय अधोगामिनी अवस्था। अधोगामिनी अवस्था नरक आदिका कारण होती और ऊर्द्ध्व-गामिनी अवस्था अभ्युदयका कारण होती है. सुतरां भक्त चाहे किसी अवस्थामें हो उसके हृदयमें भगवद्भक्तिका उदय होते ही उसकी अधोगति उस समयके लिये बन्द हो जाती है और उसके चित्तका सम्बन्ध भगवद्भावमय उच्चगामिनी अवस्थासे हो जानेसे भगवद्भावके प्रभावसे निर्मलता और पवित्रताको धारण कर लेता है। जैसे प्रकाशके उदय होनेसे अन्धकारका नाश हो जाता है उसी प्रकार सब मलोंसे रहित परम पवित्र भगवद्भावसे सम्बन्धयुक्त अवस्थामें पापका नाश अपने आप होना सम्भव है। फलतः विषयी जीवके अन्तःकरणके साथ भगद्भावराज्यका सम्बन्ध होते ही उसकी चित्तनदीका वेग जो अधोगामी था, वह ऊर्द्ध्वगामी हो जानेसे उसमें भगवज्ज्योतिका उदय होना प्रारम्भ हो जाता है। वह ज्योति पुनः बढ़ती ही रहती है घटती नहीं है। यदि चिरकालसे विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला महापापी भी अपने चित्तके वेगको सच्ची रीतिसे एक बार भी श्रीभगवान्‌के चरण-कमलोंतक पहुंचा सके तो श्रीभगवान्‌के नित्यस्थित विकारहीन

पवित्रताका आश्रय सदाके लिये उसको अवश्य ही प्राप्त हो जाता है, क्योंकि चित्तकी गतिका एकबार भी फिरना सदाके लिये फिरना है। एकबार भगवत्संस्कारसे संस्कृत अन्तःकरण सदाके लिये विषयमलसे दूषित नहीं रह सकता है। समय पर वह अवश्य ही भगवदुन्मुख होगा। जिस प्रकार ज्ञानदशामें अज्ञानका चिन्हमात्र भी नहीं रहता है, सत्त्वगुणका उदय होकर तमोगुण विलीन हो जाता है; उसी प्रकार भगवान्‌के प्रति पवित्र अनुरागके उदय होनेपर पाप समूल विनष्ट हो जाता है। स्मृतिमें भी कहा है कि जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि शुष्ककाष्ठको भस्मसात् कर देती है; उसी प्रकार भगवद्भक्ति पापराशिको दग्ध करती है। जिस प्रकार अग्निमें दग्ध होकर सुवर्ण निर्मल और स्वाभाविक स्वरूपको प्राप्त होता है; उसी प्रकारसे जीव भगवद्भक्तिकी प्राप्तिसे मलिन कर्मसंस्कारोंसे च्युत होकर अध्यात्मपथमें अग्रसर होता है। भक्तिद्वारा पुलकिताङ्ग, द्रवीभूत चित्त और आनन्दाश्रु विगलित न होनेसे जीवकी आन्तरिक पवित्रता नहीं होती है। जैसे समाधि द्वारा चित्तका साम्य होता है, इस कारण समाधिके उदय होने पर चित्तका वैषम्यभाव समूलोन्मूलित होता है; इसी प्रकार भक्तिके साथ परमानन्दपदका सम्बन्ध होनेसे सामान्य भक्तिके उदय होते ही निरानन्दमय पापराशि विदूरित होती है।

इस सूत्रमें 'अपि' शब्द विशेष स्वारस्य रखता है। यह कर्ममीमांसाका सिद्धान्त है कि जितना प्रबल पापकर्म होता है उससे बचनेके लिये प्रायश्चित्त भी उतना ही प्रबल किया जाता है।

इसी कारण स्मृतिशास्त्रमें अतिपातक, महापातक आदि पापोंकी श्रेणियां और उनके स्वतन्त्र स्वतन्त्र प्रायश्चित्तकी विधियां लिखते हैं। परन्तु भक्तिकी ऐसी महिमा है कि, सामान्यभक्तिके द्वारा ही उग्रसे अति उग्र पाप भी नष्ट हो जाता है। इस असाधारण महत्त्वको प्रकट करनेके लिये यहां 'अपि' शब्दका प्रयोग हुआ है ॥३५॥

और भी कहा जाता है—

नीचयोनिका मनुष्य भी भक्तिका अधिकारी होता है, सब भक्त समान हैं ॥ ३६ ॥

भक्तिकी यह एक विशेष महिमा है कि अत्यन्त अधमजातिका मनुष्य भी भक्तिका अधिकारी हो सकता है। इस सिद्धान्तके अनुसार सब भक्त ही समान हैं। भगवद्भक्तिको प्राप्त करनेके लिये आचारकी कठिनता, योगके परिश्रम, तथा ज्ञानकाण्डकी विचारशक्तिकी कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती है। भगवद्भक्तिके प्राप्त करनेमें केवल भगवान्के प्रति चित्तके अनुरागकी आवश्यकता रहती है। इस कारण यह स्वतः ही प्रमाणित है कि भगवद्भावमें भावुक भक्त चाहे किसी अधिकार, श्रेणी या जातिका हो भगवत्-अनुरागमय चित्तके विचारसे सब भक्त समान है। इस सूत्रमें जो "अपि" शब्दका प्रयोग है वह विशेष विज्ञानसे पूर्ण है। कर्मकाण्डमें पात्रापात्रका विचार है, योगमें भी अधिकारका भेद है। ज्ञानकाण्डके अधिकार देनेमें भी साधनचतुष्टय आदिकी अपेक्षा

अन्त्यजोऽप्यधिकारी तत्र साम्यात् ॥ ३६ ॥

रहती है। परन्तु यह भक्तिमार्गका असाधारण महत्त्व है कि इसमें अधिकार भेदकी अपेक्षा नहीं है, इसी कारण यहां 'अपि' शव्दका प्रयोग है।

नीच योनि होनेपर भी पूर्वजन्मसञ्चित पुण्यपुञ्जके प्रभावसे यदि किसीके चित्तमें भगवान्‌के प्रति अनुरागका उदय हो तो कौन उसको पराभक्तिके पथसे विच्युत कर सकता है? श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है कि—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यभक्तियुक्त होकर मेरी उपासना क उसको साधु ही मानना चाहिये, उसकी दुराचारिता नष्ट होकर आध्यात्मिक उन्नति होगी।

समदर्शी परम कृपालु भगवान् अपने सकल भक्तोंको समदृष्टिसे देखते हैं और इसी आदर्शपर सब प्रकारके भक्त एक दूसरेको समभावसे अपने हृदयमें रखते हैं। भक्तोंके चित्तकी समदर्शिता चिर प्रसिद्ध है। भक्तिकी वैधी दशामें शीलआदि द्वारा, रागात्मिका दशामें प्रेम-साम्यभाव द्वारा एवं परादशामें समता बुद्धि द्वारा इस समता और समदर्शिताका विकास होता है॥ ३६॥

और भी कहा जाता है—

अनुभव होनेपर विधिनिषेध नहीं रहता है॥ ३७॥

विधिनिषेधागोचरत्वम भवे॥ ३७॥

भक्तिभूमि पर अग्रसर होकर साधक जब अन्तमें पराभक्तिकी दशाको प्राप्त होता है तब विधि-निषेधक । अतिक्रमण करता है। ऐसा भी कह सकते हैं कि रागात्मिका भक्तिकी तीव्र दशासे ही विधि-निषेधका तिरोधान होने लगता है। अवश्य ही वैधी दशामें तो विधि-निषेध रहता ही है।

विधि अथवा निषेध, कर्त्तव्य अथवा अकर्त्तव्य, ये सब त्रिगुणमयी प्रकृतिके राज्यकी वस्तु है। तटस्थ ज्ञानकी दशामें ये सब आवश्यक होते हैं; किन्तु साधक पराभक्ति प्राप्त होने पर निस्त्रैगुण्य-पदवीका लाभ करके प्रकृतिराज्यको अतिक्रमण करता है, इस कारण जीवन्मुक्तिकी दशामें धर्माधर्मका विधि-निषेध नहीं रहता है। इसीप्रकार स्मृतिमें भी लिखा है कि—

त्यज धर्म्ममधर्म्मञ्च तथा सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज ।
त्यज धर्म्ममसङ्कल्पादधर्म्मञ्चाप्यलिप्सया ।
उभे सत्यानृते बुद्ध्या बुद्धिं परमनिश्चयात् ॥
रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वञ्ज्ञानशनेन च ।
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः ।

ज्ञानदशामें धर्म और अधर्मका त्याग होता है, सत्य और असत्यका त्याग होता है, एवं जिसके द्वारा इन सबका त्याग होता है उसका भी परित्याग होता है। असङ्कल्पके द्वारा धर्म,

अलिप्साके द्वारा अधर्म और बुद्धिके द्वारा सत्यासत्यका त्याग करके परमपदमें स्थितिलाभ करते हुए बुद्धिका भी त्याग करना होता है। इस प्रकार जीवन्मुक्त भक्त रजोगुण और तमोगुणको सत्त्वगुणके द्वारा दमन करके निर्विकल्प समाधिदशागत साम्यभावका अवलम्बन करते हुए सत्त्वगुणको भी दमन करते हैं।

यदि ऐसे समयमें लोकशिक्षा और बुद्धिभेद दूर करनेके निमित्त वे आचार अथवा वर्णाश्रमधर्मका किसी प्रकारसे भी अपलाप नहीं करते हैं, क्योंकि गीतामें कहा है "श्रेष्ठ पुरुषोंका आचरण देखकर ही साधारण मनुष्य अपना आचरण सीखते हैं" तथापि वास्तवतः समाधिदशामें परमानन्द-समभाव-विरोधी किसी प्रकारका वैषम्यभाव न रहनेसे, वे विधि-निषेधको सर्वथा अतिक्रमण करते हैं। विधि-निषेध उस समय उनके किङ्कर होकर रहते हैं। इसी प्रकार स्मृतिमें भी कहा है कि ज्ञानी जीवन मुक्तभक्त, अन्तःकरणमें भेदभाव न रहनेपर भी लोक-शिक्षाके लिये द्वैतभावके अनुकूल उपदेश प्रदान करते हैं। यथा—

बाले बाला विदुषि विबुधा गायके गायकेशाः,
शूरे शूरा निगमविदि चाम्नायलीलागृहाणि।
सिद्धे सिद्धा मुनिषु मुनयः सत्सु सन्तो महान्तः,
प्रौढे प्रौढाः किमिति वचसा तादृशा यादृशेषु॥
मौने मौनी गुणिनि गुणवान्पण्डिते पण्डितोऽसौ,
दीने दीनः सुखिनि सुखवान् भोगिनि प्राप्तभोगः।

मूर्खे मूर्खो युवतिषु युवा वाग्मिषु प्रौढ़वाग्मी
धन्यः कोपि त्रिभुवनजयी योऽवधूतेऽवधूतः ॥

वे बालकके निकट बालक, विद्वान्के निकट विद्वान्, गायकके निकट गायक, वीरके निकट वीर, शास्त्रज्ञके निकट शास्त्रज्ञ, सिद्धके निकट सिद्ध, सत्पुरुषके निकट सत्पुरुष, प्रौढ़के निकट प्रौढ़, मौनीके निकट मौनी, गुणीके निकट गुणवान्, पण्डितके निकट पण्डित, दीनके निकट दीन, भोगीके निकट भोगी, वक्ताके निकट वक्ता, अधिक क्या, वे परमधन्य त्रिभुवनविजयी महापुरुष अवधूतके निकट अवधूत होकर समस्त संसारके जीवोंको अपने अपने अधिकारके अनुसार उन्नत करते हुए क्रियाकी द्वैतता रखकर भी सर्वदा भावमें अद्वैतताका अवलम्बन करते हुए विधि-निषेध का परित्याग करते हैं ॥ ३७ ॥

और भी कहा जाता है—

क्रमकी अपेक्षा नहीं होती है ॥ ३८ ॥

भक्तिलाभके अर्थ साधनके कोई क्रमका नियम नहीं है। यह भक्तिका अन्यतम विशेषत्व है कि जिस प्रकार अन्यान्य साधन-मार्गमें क्रमकी विधि है, भक्तिमार्गमें वह नहीं है। यदि गौणीभक्ति क्रियासाध्या है एवं उपासनाकाण्डकी क्रियाएँ और ज्ञानकाण्डके तत्त्वविचार द्वारा परम्परारूपसे भक्तिभावका उद्रेक होता है; तथापि कर्म्मकाण्डमें, योगमें वा ज्ञानमार्गमें जिस प्रकारके

क्रमानपेक्षा च ॥ ३८ ॥

साधनविधिका क्रम है, भक्तिमार्गमें उस प्रकारका नहीं है। आनन्दकन्द भगवान्‌का कृपाप्राप्त भक्त अलौकिकभावसे विधि-बन्धनको अतिक्रम करके आनन्दसागरमें निमग्न होता है।

गौणी भक्ति में अवश्य ही कुछ क्रमकी अपेक्षा रहती है, क्योंकि उसमें गुरुदेवके द्वारा परीक्षित अधिकार निर्णयकी अपेक्षा रहती है, परन्तु रागात्मिका भक्ति और पराभक्ति में क्रमकी कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती है, यह स्वतः ही सिद्ध है ॥ ३८ ॥

भक्तिका नाना महत्त्व कहकर अब भक्ति में विफलता न होना सिद्ध किया जाता है—

भाव दृढ़ न होने पर भी सालोक्य को प्राप्त होते हैं ॥३९॥

भक्तिमार्गमें प्रविष्ट साधक भक्तिभावकी दृढ़ताको प्राप्त न होने पर भी सालोक्य प्राप्त करते हैं। भगवान्‌में भक्ति प्राप्त होकर भी जो प्रारब्ध-वश अथवा अन्य कारणसे पराभक्ति प्राप्त नहीं करता है, भक्तिकी इस प्रकारकी महिमा है कि वह, पूर्ण न होने पर भी पतित नहीं होता है। वह अपने इष्टदेवके लोकको प्राप्त होता है। इस सूत्रमें 'अपि' शब्दका यही स्वारस्य है।

शास्त्रोंमें आध्यात्मिक उन्नतिकी प्रधानतः दो गति कही गयी है। एक सहजगति और दूसरी क्रमोर्द्ध्वगति। जो भगवान्‌में चित्त अर्पण करते हुए क्रमशः उन्नति लाभ करके अन्तमें पराभक्तिकी दशामें होकर ज्ञान लाभ करते हैं, वे सहजगति को प्राप्त

अविपक्वभावानामपि तत्सालोक्यम् ॥ ३९ ॥

होते हैं; अर्थात् उनकी मुक्ति इस संसारमें रहते हुए भी हो जाती है। इस विषयमें श्रुतिमें कहा है कि—

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते।

उनका प्राण ऊर्ध्वगमन नहीं करता है, यहीं स्वकारणमें लीन होता है। इसी प्रकार स्मृतिमें लिखा है कि—

त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त,
आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या-
ग्रन्थिं विभेत्स्यति ममाऽहमितिप्ररूढम्॥

इहैव यस्य ज्ञानं स्यादृध्दृगतप्रत्यगात्मनः।
मम संवित्परतनोस्तस्य प्राणा व्रजन्ति न॥

ब्रह्मैव संस्तदाप्नोति ब्रह्मैव ब्रह्म वेद यः।
कण्ठचामीकरसममज्ञानात्तु तिरोहितम्॥

ज्ञानादज्ञाननाशेन लब्धमेव हि लभ्यते।
घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम्।
सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानभूतेन॥

इस लोकमें ही जिनको प्रत्यगात्मका ज्ञान होता है उनके प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं, उनकी 'अहं, मम' इस अविद्या ग्रन्थिका मोचन होकर उनको ज्ञानोदय होने पर ब्रह्मभावकी प्राप्ति होती है। आत्माकी सच्चिदानन्द सत्ता सकल जीवोंके हृदयमें ही निहित है। भ्रान्त व्यक्ति जिसप्रकार कण्ठमें हार विद्यमान रहने पर भी उसको भूलकर चारोंओर अन्वेषण करता है, उसी प्रकार अविद्या-

ग्रस्त जीव अन्तःकरणमें आत्माकी सत्ता न समझकर संसारपङ्कमें निमग्न होता है। दुग्धमें घीकी तरह ज्ञान सर्वत्र विराजमान है, केवल शुद्धान्तःकरणरूप मथनदण्डके द्वारा मथन कर सकनेसे ही ज्ञानका प्रकाश होकर इस लोकमें ही विदेहमुक्ति लाभ होती है; किन्तु प्रारब्धवश जिसके भाग्यमें सहजगतिकी प्राप्ति न हो, वह शरीरत्याग करनेके समय अपने भावकी दृढ़ताके अनुसार श्रेष्ठ-देवलोकको प्राप्त होते हैं। इसको किसी किसीके मतमें सालोक्यादि मुक्ति भी कहते हैं। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है कि—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः॥

मृत्युके समयमें चित्तमें जिस प्रकारकी भावना लेकर साधक शरीर त्याग करते हैं, भावकी दृढ़ताके अनुसार वे वैसेही लोकको प्राप्त होते हैं। इसको शास्त्रोंमें उत्तरायणगतिके अन्तर्गत माना है। इस गतिके अनुसार कोई भक्त शिवलोक, कोई विष्णुलोक, कोई ब्रह्मलोक इत्यादि विविधलोकोंमें निवास करते हैं। ब्रह्मलोक-प्राप्तिके विषयमें श्रुतिमें कहा है कि—

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्य्यं चरन्तः।
सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥
एह्येहीति तमाहुतयः सूर्यवर्च्चसः
सूर्य्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।

प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्च्चयन्त्य
एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥
तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं
प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा
निष्क्रामति चक्षुषो वा
मूद्ध्नों वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः ।
अथ यत्रैतदस्माच्छरीरा-
दुत्क्रामत्यथैतैरेषो रश्मिभिरूद्ध्र्वमाक्रमते ।

इस प्रकारके महत्पुरुषके प्राणत्याग करनेके समय हृदयाग्र-प्रज्वलित होकर चक्षु, मस्तक, अथवा और किसी उद्ध्र्वदेशके द्वारा उसके प्राण बहिर्गत होते हैं। उस समय उन उन लोकोंसे दिव्य-पुरुष अथवा आहुतियाँ आकर सूर्य्यरश्मियोंके द्वारा उसको ऊपर ले जाते हैं। उसके ऊपर जानेका क्रम श्रुतिमें अद्भुतरूपसे वर्णित हुआ है, यथा—

स एतं देवयानपन्थानमासाद्य अग्निलोकमागच्छति-
स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं
स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकं तस्य ह वा
एतस्य ब्रह्मलोकस्य अयो हृदो मुहूर्त्तो येष्टिहा विरजा
नदील्यो वृक्षस्तत्र स आगच्छति विरजां नदीं
तां मनसैवाऽत्येति स एष विसुकृतो विसुष्कृतो ब्रह्म-
विद्वान् ब्रह्मैवाऽभिप्रैति ।

ब्रह्मणा सह ते सर्व्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चये।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥

वह भक्त देवयानमार्गमें आरोहण करके क्रमशः अग्निलोक, वायुलोक, वरुणलोक, आदित्यलोक, इन्द्रलोक और प्रजापति-लोकको अतिक्रमण करता हुआ अन्तमें ब्रह्मलोकमें उपस्थित होता है। इस ब्रह्मलोकके जीव अन्यप्रकारके होते हैं और वहाँ के ह्रद नदी वृक्षादि सबही अन्य प्रकारके होते हैं। वहाँ भक्त ब्रह्माजीके साथ सानन्द वास करके महाप्रलयके समय ब्रह्माजीकी आयुके पूर्ण होनेके साथ ही साथ विदेह मुक्तिलाभ करके ब्रह्माजीके साथ पर-ब्रह्ममें विलीन होता है। इस प्रकारसे स्मृतियोंमें देवलोकका और विष्णुलोकका भी यथेष्ट वर्णन पाया जाता है। देवलोकके विषयमें वर्णित हुआ है कि—

भक्तौ कृतायां यस्याऽपि प्रारब्धवशतो नग!।
न जायते मम ज्ञानं मणिद्वीपं स गच्छति॥
तत्र गत्वाऽखिलान् भोगाननिच्छन्नपि चाच्छंति।
तदन्ते मम चिद्रूपज्ञानं सम्यग् भवेन्नग!॥
तेन मुक्तः सदैव स्याज्ज्ञानान्मुक्तिर्न चाऽन्यथा।

भक्ति अनुष्ठित होने पर भी दुष्प्रारब्ध होनेसे जिसको ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, वह भक्त मणिद्वीपमें जाता है। वहाँ इच्छा न होने पर भी वह विविधभोग्य वस्तुओंको प्राप्त करता है। इस मणिद्वीपमें भक्त क्रमशः ज्ञानलाभ करता हुआ विदेह मुक्तिलाभ

करता है। इस प्रकार विष्णुलोकके विषयमें भी वर्णित हुआ है कि—

वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्त्तयः।
येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाऽऽराधयन् हरिम्॥
यत्र चाऽऽद्यः पुमानास्ते भगवाञ्छब्दगोचरः।
सत्त्वं विष्टभ्य विरजं स्वान्तं नो मृडयन्वृषः॥
यत्र नैःश्रेयसं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः।
सर्वर्तुश्रीभिर्विभ्राजत् कैवल्यमिव मूर्त्तिमत्।

वैमानिकाः सललनाश्चरितानि शश्वद्
गायन्ति यत्र शमलक्षपणानि भर्तुः।
अन्तर्जलेऽनुविकसन्मधुमाधवीनां
गन्धेन खण्डितधियोऽप्यनिलं क्षिपन्तः॥

पारावतान्यभृतसारसचक्रवाक-
दात्यूहहंसशुकतित्तिरिबर्हिणां यः।
कोलाहलो विरमतेऽचिरमात्रमुच्चै-
र्भृङ्गाधिपे हरिकथामिव गायमाने॥

मन्दारकुन्दकुरबोत्पलचम्पकार्ण-
पुन्नागनागबकुलाम्बुजपारिजाताः।
गन्धेऽर्चिते तुलसिकाऽऽभरणेन तस्या
यस्मिँस्तपः सुमनसो बहुमानयन्ति॥

श्रीरूपिणि क्वणयती चरणारविन्दं
लीलाम्बुजेन हरिसद्मनि मुक्तदोषा।

संलक्ष्यते स्फटिककुड्य उपेतहेम्नि
सम्मार्ज्जतीव यदनुग्रहणेऽन्ययत्नः ॥

वहाँ सब ही चतुर्भुज और विष्णुमूर्तिधारी एवं निष्कामभावसे भगवच्चरणसेवी हैं। सत्त्वस्वरूप धर्म वहाँ कृष्णमूर्तिमें विराजमान है। वहांका उद्यान कल्पवृक्षोंसे पूर्ण है और सकल ऋतुओंमें ही समान शोभा धारण करता हुआ निःश्रेयस फलप्रदान करता है। अनन्त भोग्य वस्तुएँ रहनेपर भी सब ही वहां वैराग्यवान् हैं और निशिदिन भगवान्के गुणगानमें प्रवृत्त हैं। पारावत, कोकिल, चक्रवाक आदि विहङ्गमगण अच्छी तानोंसे भगवान्के कीर्त्तिकलापका वर्णन करते हैं। साक्षात् लक्ष्मीदेवी उनके भवनमें गृहमार्ज्जन करती हैं। इस प्रकारके त्रैलोक्यमोहन विष्णुधाममें भक्त प्रलय तक निवास करके अन्तमें परम-पदमें विलीन होता है। यही अविपक्वभक्ति साधकका सालोक्यादि लाभ है। अतः भक्तिकी विशेषता यह है कि भक्त यदि भक्तिकी अन्तिम सीमा पराभक्तिके राज्यमें कैवल्यकी प्राप्ति एकाएक न करसके तो सालोक्यादि गतिकी प्राप्ति अवश्यही उसको होगी। इस विज्ञानको इस प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि भक्तिके द्वारा निःश्रेयसकी प्राप्ति न होनेपर भी अभ्युदयकी चरम सीमापर वह पहुँचा देती है, इसमें सन्देह नहीं और अभ्युदयकी उस चरमसीमासे अन्तमें निःश्रेयसकी प्राप्ति होना भी निश्चित ही है। यही भक्तिकी सर्वश्रेष्ठ विशेषता है ॥ ३६ ॥

अब भक्तिके विषयमें आत्मानन्दपरायण महर्षियोंका मतभेद वर्णन करते हैं—

भेदभावके कारण कोई कोई भक्तिको ऐश्वर्यपरा कहते हैं ॥४०॥

कोई कोई भक्त महर्षि, भगवान्‌के साथ भिन्नताके विचारसे भक्तिको ऐश्वर्य्यपरा नामसे अभिहित करते हैं। इस मतके आचार्य्य भृगु, कश्यप, नारद प्रभृति महर्षिगण हैं। भक्तिकी उन्नतदशामें तन्मय भावप्राप्त होकर भी अनेक लोग भेदबुद्धिसे भगवान्‌की उपासना करना और उससे आनन्दलाभ करना चाहते हैं। वे लोग उसी परमपुरुषके अलौकिक ऐश्वर्य्योंके ऊपर दृष्टिपात करते हुए तद्भावमें भावित होकर भगवान्‌के गुण वर्णन करते करते आनन्दसागरमें निमग्न होते हैं। भगवान्‌की लीलाके विचारसे मुक्तिदशामें सांख्य-विज्ञानके अनुसार दो अवस्थायें प्रतिभात होती हैं, क्योंकि सांख्यज्ञान-भूमिमें सिद्धिलाभ करनेवालेको परमपुरुषका साक्षात्कार प्राप्त करनेपर भी प्रकृतिके विद्यमान रहनेसे व्यष्टिज्ञान नष्ट नहीं होता, इस कारण प्रकृतिपुरुषात्मक भेदभाव विद्यमान रहता है। इस प्रकारसे भेदभावको अवलम्बन करनेवाले पूर्णभक्त भगवान्‌के अनन्त ऐश्वर्य्योंका वर्णन करते करते आनन्दसागरमें निमग्न होते हैं, इसीका नाम ऐश्वर्य्यपरा भक्ति है। पराभक्तिकी अद्वैतदशाको अस्वीकार करनेवाले जितने द्वैतमत हैं, वे सब इसी श्रेणीमें समझे जा सकते है ॥ ४० ॥

केचिदैश्वर्य्यपरां भेदात् ॥ ४० ॥

अब दूसरा मत कहते हैं—

अन्य अभेद होनेके कारण भक्तिको आत्मैकपरा कहते हैं ॥४१॥

कोई कोई महर्षि भक्तिको आत्मैकपरा कहते हैं, क्योंकि उनकी शुद्धबुद्धि भेदभाव परित्याग करती हुई अभेदका अवलम्बन करती है। इस मतके आचार्य वशिष्ठ, अङ्गिरा, वेदव्यास आदि महर्षि हैं। इनके मतमें निर्विकल्प समाधिकी दशामें जब पराभक्तिका लाभ होता है, तब भक्त अद्वैतभावके उदय होनेसे अद्वितीय सच्चिदानन्दका स्वानुभव लाभ करता हुआ आनन्दसागरमें निमग्न होता है। पराभक्तिकी अन्तिम दशामें जब सिवाय परमात्माके और दूसरा कोई भी अनुभव भक्तको होता ही नहीं तब भक्तकी दृष्टिमें कारण ब्रह्म, और कार्य्यब्रह्म दोनों ही परमात्मा हैं, ऐसा अनुभव हो जाता है। उस श्रेष्ठतम दशामें जब दृश्य प्रपञ्च सबही परमात्मा हैं ऐसा अनुभव होता है तो मैं भी परमात्मा हूँ ऐसा अनुभव अवश्य होता है और ऐसा होनेसे भेदभाव रहित होकर अद्वैतस्थिति हो जाती है। इसी पराभक्तिकी अन्तिम दशाको ही ब्रह्मसद्भाव कहते हैं। इस समय भक्तके साथ भगवान्का भेदभाव नहीं रहता है। परमात्मामें अद्वैतपरता प्राप्त होती है। इस कारण इसका नाम आत्मैकपराभक्ति है॥ ४१॥

आत्मैकपरामपरे अभेदात् ॥ ४१ ॥

अब तीसरा मत कहते हैं—

भक्तिको उभयपरा कहते हैं ॥ ४२ ॥

कोई कोई महर्षि कार्य्यकारण-विचार करते हुए भक्तिको भेदाभेद, सम्बन्धसे उभयपरा कहते हैं। इस मतके आचार्य्य याज्ञवल्क्य, वाल्मीकि, शाण्डिल्य आदि महर्षि हैं। कार्य्यदशामें जब भेदभाव विद्यमान होता है, तब ऐश्वर्य्यपराभक्तिद्वारा एवं कारणदशामें जब भेदभाव विगलित होकर सच्चिदानन्दके साथ एकत्वप्राप्ति होती है तब आत्मैकपराभक्ति द्वारापरमानन्दका अनुभव ये आचार्य्य करते हैं। कार्य्य एवं कारणके भेदके अनुसार उभयदशामें ही ये महर्षि आनन्दानुभव करते हैं। इस विज्ञानको समझनेके लिये कई प्रकारका उदाहरण दिया जा सकता है, जिससे ऐश्वर्य्यपरा और आत्मैकपरा दोनों अवस्थाओंका मानना युक्तिसंगत होगा। सृष्टिदशामें ऐश्वर्य्यपराका होना और जीवन्मुक्तदशामें आत्मैकपराका होना युक्तिसंगत ही है। दूसरे प्रकारसे यों भी कह सकते हैं कि रागात्मिका भक्तिकी अन्तिमदशामें जब भक्त रससागरमें उन्मज्जन निमज्जन करता हुआ डूब जाता है उस समयसे ऐश्वर्यपरा अवस्थाका पूर्णस्वरूप प्रकट होता है। यह एक दशा है और तत्पश्चात् पराभक्तिकी अन्तिम स्थितिमें अद्वैत-

---

उभयपरामितरे भेदाभेदाभ्याम् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहर्षि-अङ्गिराकृतदैवीमीमांसादर्शने रसपादनामकः प्रथमः पादः समाप्तः।

स्थितिरूपी ब्रह्मसद्भावका जब उदय होता है, वही आत्मैकपरा अवस्था दूसरी दशा है। इस विषयको दूसरी रीति पर भी समझ सकते हैं कि, भक्तिकी उन्नतदशामें जब भक्तका चित्त व्युत्थान-दशाको प्राप्त होता है तब ऐश्वर्य्यपराका होना और स्वरूप अवस्था-में आत्मैकपरा दशाका होना स्वतःसिद्ध है। ऋषियोंके मतोंमें परस्पर भेद होनेके कारण यदि किसीको शंका हो इसकारण कहा जाता है कि बद्धदशा और मुक्तदशा इन दोनों दशाओंके भेदसे भी ऐश्वर्य्यपरा और आत्मैकपरा इन दोनोंकी सिद्धि होना युक्ति-संगत है। भक्त जब उन्नत अवस्थामें पहुँचता है तो उस समय भक्तकी प्रकृति, प्रवृत्ति और संस्कारके अनुसार ऊपर कथित विज्ञानके अनुसार ऐश्वर्यपरा और आत्मैकपरा इन दोनों अवस्थाओं का होना अवश्य ही सम्भव है और अन्तमें पूर्ण जीवन्मुक्तदशामें भी जीवन्मुक्त जब जगत्के साथ सम्बन्ध रखता हुआ व्युत्थान-दशाको प्राप्त होता है उससमय ऐश्वर्यपराका होना और उसके स्वरूपदशामें आत्मैपकराका होना अवश्यसम्भावी है, अतः पूज्यपाद महर्षियोंका जो इस प्रकारका मतभेद है वह तत्त्वतः नहीं है। इसकारण इसप्रकार रससागरमें निमग्न पराभक्तिपरायण भक्तकी भक्तिको उभयपरा कहा गया है ॥४२॥

इति श्रीमहर्षि-अङ्गिराकृत दैवीमीमांसादर्शनभाष्यके भाषानुवादका रसपादनामक प्रथमपाद समाप्त।

— - —

उत्पत्तिपाद ।

श्रीभगवान्के प्रति अनुरागही उपासनातत्त्वका प्राणरूप है। अतः विषयोंमें अनुराग होना विषमय है, ऐसा विचारते हुए वैराग्यावलम्बनद्वारा ही वह प्राप्त होता है इसी कारण संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका विज्ञान जानना आवश्यक है। इसलिये उत्पत्तिपाद प्रारम्भ किया जाता है जिसका यह प्रथम सूत्र है :—

शक्ति और शक्तिमान्की अभिन्नता होनेसे ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिमें अभेद है ॥ १ ॥

ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति अभिन्न है। "मैं और मेरी शक्ति" इस पर विचार करनेसे जैसे मुझसे मेरी शक्तिकी अभिन्नता प्रतिपादित होती है वैसे ही ब्रह्म और उसकी शक्तिस्वरूपिणी मूलप्रकृति, इन दोनोंकी अभिन्नता शास्त्रोंमें प्रतिपादित हुई है। इस विज्ञानको अच्छी तरहसे हृदयंगम-करनेकेलिये शक्ति और शक्तिमान्का विज्ञान समझना उचित है। जैसे किसी व्यक्तिकी सामवेद गान करनेकी शक्ति असाधारण है, जबतक वह व्यक्ति सामगान न करे तब तक वह सामगानकी शक्ति उस सामाचार्य्यमें अव्यक्तावस्थामें रहेगी और कोई भी नहीं जानसकेगा कि वह व्यक्ति

ब्रह्मतच्छक्त्योरभेदः शक्तिशक्तिमतोरभेदात् ॥ १ ॥

सामवेदका आचार्य्य है; परन्तु जब वह सामगानकरने लगता है तब लोग जान जाते हैं कि वह सामगानकी शक्ति उस व्यक्तिमें निहित थी। उसीप्रकार ब्रह्मशक्ति जब ब्रह्ममें अव्यक्त रहती है तब जगतप्रपञ्चका लय हो जाता है और सृष्टि कुछ भी नहीं रहती और जब ब्रह्मशक्ति व्यक्तावस्थाको प्राप्त होती है तभी स्थूल-सूक्ष्मभाव परिपूर्ण सृष्टिवैचित्र्य दृश्यरूपसे प्रकट होता है। वस्तुतः ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति, अहं ममेतिवत्, अभिन्न ही है। दूसरा विचार करनेके योग्य विषय यह है कि जैसे गानकर्त्ताको न देखने पर भी नदीके परतीरवासी श्रोता मधुर सामगानसे मोहित हो सकता है; ठीक उसीप्रकारसे ब्रह्मके स्वरूपसे अनभिज्ञ जीव, ब्रह्मशक्ति महामायामें मुग्ध होकर फंसे रहते हैं। सुतरां इस अवस्थामें "अहं ममेतिवत्" सम्बन्धसे युक्त ब्रह्मशक्ति महामायाकी सत्ता अतिसुगमरूपसे जिज्ञासुओंके हृदयंगम होने योग्य है और अन्य सब दर्शनोंके विज्ञानसे यह "अहं ममेतिवत्" ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिविज्ञान बहुत ही स्पष्ट और सरल है। स्मृतिमें कहा है कि—

स एव क्षोभको ब्रह्मन् ! क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तमः।
स सङ्कोचविकाशाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः॥
केचित्तां तप इत्याहुस्तमः केचिज्जडं परे।
ज्ञानं मायाप्रधानञ्च प्रकृतिं शक्तिमप्यजाम्॥
सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका।
माया नाम महाभाग ! ययेदं निर्म्ममे विभुः॥

वही पुरुषोत्तम भगवान् क्षोभ्य और क्षोभक उभयरूपसेही प्रतिभात होते हैं एवं सङ्कोच और विकाशके द्वारा ब्रह्म और उनकी शक्तिस्वरूपिणी प्रकृति (प्रधान) उभयरूपसे ही विद्यमान रहते हैं। यह प्रकृति कहीं इच्छारूपसे कहीं मायारूपसे एवं कहीं शक्तिरूपसे कही जाती है। यह शक्ति सदसदात्मिका है एवं चैतन्यरूप भगवान् इसके द्वाराही समस्त विश्वकी सृष्टि किया करते हैं। शक्तिमान परमपुरुषके साथ शक्तिस्वरूपिणी इस प्रकृतिका कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार अग्निमें दाहिका शक्ति निहित रहती है उसी प्रकार भगवान्में शक्तिरूपिणी प्रकृति निहित रहती है। सृष्टिके पहले समष्टिजीवोंके प्रारब्धानुसार ईश्वरमें जब सिसृक्षा उत्पन्न होती है तब ही इस शक्तिका विकाश होता है। इस कारण स्मृतिमें इसको इसप्रकारसे कहा गया है कि—

योगेनाऽऽत्मा सृष्टिविधौ द्विधारूपो बभूव सः।
पुमांश्च दक्षिणार्द्धाङ्गो वामार्द्धा प्रकृतिः स्मृता ॥
सा च ब्रह्मस्वरूपा च नित्या सा च सनातनी।
यथाऽऽत्मा च तथा शक्तिर्यथाऽग्नौ दाहिका स्थिता ॥
तस्य चेच्छाऽस्म्यहं दैत्य ! सृजामि सकलं जगत्।
स मां पश्यति विश्वात्मा तस्याऽहं प्रकृतिः शिवा ॥

या विद्येत्यभिधीयते श्रुतिपथे,
शक्तिः सदाऽऽद्या परा।
सर्वज्ञा भवबन्धछित्तिनिपुणा,
सर्व्वाशये संस्थिता ॥

शक्तिशक्तिमतोर्भेदं वदन्ति परमार्थतः ।
अभेदं चाऽनुपश्यन्ति योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः ॥
यथैकं स्पन्दपवनौ नाम्ना भिन्नौ न सत्तया ।
तथैकमात्मप्रकृती नाम्ना भिन्ने न सत्तया ॥

तात्पर्य्य यह है कि—सृष्टिके समयमें भगवान् योगशक्ति द्वारा द्विधारूप होकर दक्षिणांशमें पुरुष और वामांशमें प्रकृतिरूप होते हैं एवं इस प्रकृतिके द्वाराही समस्त सृष्टिका विस्तार होता है। पवन और पवनके स्पन्दनके सदृश यह आद्याशक्ति और वे सर्व्वथा अभिन्न है ॥ १ ॥

ब्रह्म और उनकी शक्तिसे उत्पन्न सृष्टिका स्वरूपवर्णन किया जाता है—

आध्यात्मिकी सृष्टि अनादि और अनन्त है ॥ २ ॥

आध्यात्मिक सृष्टि अनादि एवं अनन्त है। दृश्य और अनुभवगम्य सकल पदार्थ ही तीन प्रकारके होते हैं। इसी नियमके अनुसार सृष्टि भी आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक है। कारण-ब्रह्ममें तीन भाव विद्यमान होनेसे कार्य्य-ब्रह्मरूप सृष्टिके सकल स्थानोंमें ही ये तीन भाव विद्यमान हैं। इसी कारण स्मृतिकारोंने कहा है कि "वे परमपुरुष आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों रूपोंसे ही साधकोंके नयनगोचर होते हैं। उनका आध्यात्मिकरूप निर्गुण मायातीत

अनाद्यनन्ताऽऽध्यात्मिकी सृष्टिः ॥ २ ॥

परब्रह्म, आधिदैविकरूप सगुणमय परमेश्वर एवं आधिभौतिकरूप अनादि अनन्त विराट् पुरुष है। भगवान्के स्थूलशरीरस्वरूप यह विराट् सृष्टिही आध्यात्मिक सृष्टिरूपसे शास्त्रोंमें वर्णन की गयी है। उन्होंने मायाके आश्रयसे अपने वीर्य्यको त्रिधा विभक्त करके तीन प्रकारकी सृष्टि की है"।

योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाऽधिदैविकः।
यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः॥
एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥
अधिदैवमथाऽध्यात्ममधिभूतमिति प्रभुः।
अथैकं पौरुषं वीर्य्यं त्रिधाऽभिद्यत तच्छृणु॥

इसमेंसे आध्यात्मिकी सृष्टि आदि और अन्तरहित है। विराट्ब्रह्मकी यह रूपबुद्धिसे अतीत है। दशों दिशाओंमें व्याप्यमान अनन्त अन्तरिक्षकी ओर दृष्टिपात करनेसे भावुक साधकका चित्तसिन्धु इस व्यापकताको अनुभव करके उद्वेलित होगा इसमें सन्देह नहीं। जगत्के जीवोंका प्राणदाता सविता कितने सैकड़ों ग्रह, उपग्रह, धूमकेतु, चन्द्र और तारापुञ्जोंसे वेष्टित होकर निरन्तर इस ब्रह्माण्डवर्तुलके केन्द्ररूपसे किस महासूर्य्यके चारों ओर भीषण वेगसे सदैव घूर्णित होता है, और वह महासूर्य्य इस प्रकारके सैकड़ों ब्रह्माण्डोंको लेकर किस महामहासूर्य्यके चारों ओर निरन्तर भ्राम्यमाण है? इस चारों ओर परिव्याप्त अनादि अनन्त आकाश-समुद्रमें कितने करोड़ों ब्रह्माण्ड जल-

बुद्बुदके समान शोभायमान हैं, इन सबका अन्त कहां है? अनन्त गगनके अनन्त उद्यानमें ये जो त्रिविधवर्णोंकी कुसुमराशि प्रस्फुटित हो रही हैं इन सबकी संख्या कितनी है? कितने समयसे प्रस्फुटित होती हैं और कितने समय तक इसप्रकार प्रस्फुटित होकर गगनोद्यानकी शोभा बढ़ावेंगी? यह मनुष्यबुद्धिके अगोचर है इसमें सन्देह नहीं है। जैसे इस मृत्युलोकमें एक मनुष्यकी मृत्यु होनेपर उसका पिण्डरूपी शरीर नष्ट हो जाता है; परन्तु अन्यान्य अनन्तमनुष्य अपने-अपने पिण्डोंको धारण करके जीवित रहते हैं; ठीक उसीप्रकारसे एक ब्रह्माण्डके प्रलय हो जानेसे अनेककोटि ब्रह्माण्ड सदा विद्यमान रहते हैं। इस विज्ञानसे आध्यात्मिक सृष्टिकी अनादि अनन्तधारा सिद्ध होती है। इस कारणही श्रुतिने जलदगम्भीरनादसे गाया है कि—

अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येतादृशान्यनन्तकोटि-
ब्रह्माण्डानि सावरणानि ज्वलन्ति। चतुर्मुखपञ्चमुखषण्मुखसप्त-
मुखाष्ट मुखादिसंख्याक्रमेण सहस्रावधिमुखान्तैर्नारायणांशैः
रजोगुणप्रधानैरेकैकसृष्टिकर्तृभिरधिष्ठितानि विष्णुमहेश्व-
राख्यैर्नारायणांशैः सत्त्वतमोगुणप्रधानैरेकैकस्थितिसंहार-
कारकैरधिष्ठितानि महाजलौघमत्स्यबुद्बुदानन्तसंघवद्भ्रमन्ति।

तेजसा षोडशांशोऽयं कृष्णस्य परमात्मनः।
आधारः सर्वविश्वानां महाविष्णुश्च प्राकृतः॥
प्रत्येकं लोमकूपेषु विश्वानि निखिलानि च।
अद्याऽपि तेषां संख्याञ्च कृष्णो वक्तुं न हि क्षमः॥

संख्या चेद्रजसामस्ति विश्वानां न कदाचन ।
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां तथा संख्या न विद्यते ॥
प्रतिविश्वेषु सन्त्यैवं ब्रह्मविष्णुशिवादयः ।
पातालब्रह्मलोकान्तं ब्रह्माण्डं परिकीर्तितम् ॥
नित्यौ गोलोकवैकुण्ठौ प्रोक्तौ शश्वदकृत्रिमौ ।
प्रत्येकं लोमकूपेषु ब्रह्माण्डं परिनिश्चितम् ॥
एषां संख्यां न जानाति कृष्णोऽन्यस्याऽपि का कथा ।
प्रत्येकं प्रतिब्रह्माण्डं ब्रह्माविष्णुशिवादयः ॥
कोटिकोट्ययुतानिशे चाऽण्डानि कथितानि तु ।
तत्र तत्र चतुर्वक्त्रा ब्रह्माणो हरयो भवाः ॥
असंख्याताश्च रुद्राख्या असंख्याताः पितामहाः ।
हरयश्च ह्यसंख्याता एक एव महेश्वरः" ॥
"ब्रह्माण्डा भान्ति दुर्दृष्टेर्व्योम्नि केशोण्ड्रको यथा" ।

"इस ब्रह्माण्डके चारों ओर इसी प्रकारके अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-प्रज्वलित हैं। चतुर्मुख, पञ्चमुख, षण्मुख इत्यादि सहस्रमुख पर्य्यन्त असंख्य ब्रह्मा नारायणके अंशसे सृष्टिकर्तारूपसे, इसी प्रकार ही असंख्य विष्णु, नारायणके अंशसे स्थितिकर्तारूपसे एवं असंख्य रुद्र, नारायणके अंशसे प्रलयकर्तारूपसे नियत नियतिचक्र सञ्चालित करते हैं। इस प्रकारसे, महासमुद्रमें अनन्त मत्स्य और बुद्बुद्के समान विराट्के गर्भमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड शोभा पाते हैं"। इसप्रकार स्मृतिमें भी लिखा है कि "धूलिकणकी गिनती भले ही हो जाय किन्तु विराट्के गर्भमें कितने ब्रह्माण्ड हैं

इसकी गिनती हो नहीं सकती। इसीप्रकार ब्रह्मा, विष्णु और शिवादिकी भी संख्या हो नहीं सकती। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें पृथक् पृथक्भावसे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र विद्यमान हैं. किन्तु महाविष्णु-स्वरूप महेश्वर विराट्पुरुष अद्वितीय हैं। आकाशमें उड़ते हुए अणुकणके सदृश महाकाशमें इस प्रकारके करोड़ों ब्रह्माण्ड घूर्णित होते हैं। इस प्रकारकी अनन्तब्रह्माण्डमयी आध्यात्मिक सृष्टि अनादि और अनन्ता है" ॥ २ ॥

कार्य्य और कारणविचारसे सृष्टिकर्त्री प्रकृतिका स्वरूप कह रहे हैं--

प्रकृति भी उसी प्रकार ी है ॥ ३ ॥

आध्यात्मिक सृष्टिके अनादि अनन्त होनेसे प्रकृति भी अनादि और अनन्त हैं और ब्रह्मसत्ता भी अनादि अनन्त है। प्रकृति ब्रह्म-शक्तिस्वरूपिणी है इस कारण प्रकृतिका अनादि अनन्त होना स्वतःसिद्ध है। इस विज्ञानके सम्बन्धमें इतना स्पष्ट करना उचित है कि, प्रकृतिकी अव्यक्तावस्थामें परमात्मा ब्रह्म नामसे अभिहित होते हैं, उसकी व्यक्ता अवस्थामें परमात्मा सगुण होकर ईश्वर-नामसे अभिहित होते हैं और सृष्टिकी अनादि अनन्तधाराके सम्बन्धसे परमात्मा विराट्पुरुष नामसे कहे जाते हैं। वस्तुतः प्रकृति माताके सम्बन्धसे ही श्रीभगवान्के ये तीन रूप वेदने वर्णन किये हैं।

प्रकृतेस्तथात्वम् ॥ ३ ॥

इसके उपरान्त आध्यात्मिक सृष्टिके अनादि अनन्त होनेसे जिस महाप्रकृतिके गर्भमें आध्यात्मिक सृष्टि विराजमान है, वह अनादि अनन्त होगी इसमें सन्देह नहीं। इस कारण ही श्रुति-स्मृतिमें वर्णन देखा जाता है कि--

"त्वं सर्व्वाऽऽदिरनादिस्त्वं कर्त्री हर्त्री च पालिका" ॥

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" ।

"विकारजननीं मायामष्टरूपामजां ध्रुवाम् ।"

"प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं" सृष्टि-स्थिति-प्रलय-कारिणी प्रकृति माता सबकी ही आदि है, इसकारण शुक्ल अनादि है" "नित्या अजा प्रकृति माता विकारजननी है, लाल सफेद और काले वर्णवाली है अर्थात् रजसत्त्वतमोमयी एवं अष्टरूपा है इत्यादि"।

"प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि"

यही, कार्य्य-कारणविचारके अनुसार प्रकृतिकी अनादि और अनन्तसत्ताका प्रमापक है ॥ ३ ॥

अब अन्य दो सृष्टिका वर्णन किया जाता है:--

आधिदैविक एवं आधिभौतिक सृष्टि सादि और सान्त है ॥४॥

आधिदैविक सृष्टि अर्थात् ब्रह्माण्डसृष्टि एवं आधिभौतिक सृष्टि अर्थात् पिण्डसृष्टि ये दोनों ही सादि और सान्त हैं। एक व्यष्टि जीवोंकी सृष्टि है और दूसरी असंख्य व्यष्टि जीवोंके समष्टि-

---

आधिदैविकाऽऽधिभौतिकसृष्टिः साऽऽदिः साऽन्ता ॥ ४ ॥

स्वरूप एक सौर्य्यजगत्की सृष्टि है, इनको ही पिण्डसृष्टि और ब्रह्माण्डसृष्टि कहा जाता है। जिसप्रकार जीवसृष्टिका आदि और अन्त है; उसी प्रकार ब्रह्माण्डसृष्टिका भी आदि और अन्त है। श्रुतिमें कहा है कि—

यथा पूर्वमकल्पयद्दिवञ्च पृथिवीञ्चाऽन्तरिक्षम्।

आकाश, पृथिवी, अन्तरिक्ष ये सबही पूर्वकल्पके अनुसार भगवान् उत्पन्न करते हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्डके पृथक् पृथक् ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर हैं, उनका कार्य्यविभाग स्वतन्त्र है और उसीके अनुसार भिन्न भिन्न ब्रह्माण्डोंका सृष्टि स्थिति और प्रलय का क्रम भी भिन्न भिन्न है। श्रुतिमें कहा है कि—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्म्मसु चाऽमृतम्॥
यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते युक्तो ह्यस्य हरयः शता दश॥

परमात्माकी तपस्याद्वारा मिथुनीभाव प्राप्त होनेपर प्रथम अन्न अर्थात् अव्याकृत प्रकृति उत्पन्न होती है, पश्चात् क्रमशः महत्तत्त्व, अहंतत्त्व, मन, तन्मात्रा आदिकी उत्पत्ति होकर स्थूल, सूक्ष्म ब्रह्माण्डपिण्डकी उत्पत्ति होती है, जिस प्रकार ऊर्णनाभ स्वेच्छापूर्वक तन्तुनिस्सारण करता हुआ अपना वास-स्थान निर्माण करता है; उसी प्रकार परमपिता परमेश्वर अपने लीलास्थलस्वरूप

इस ब्रह्माण्डकी रचना करते हैं। ईश्वर मायाकी सहायतासे बहुरूप धारण करके जीव-जगत्का विस्तार करते हैं। यही पिण्ड और ब्रह्माण्डके सादित्वका प्रमापक है। इसी प्रकार जीव और जीवसमष्टिरूप एक एक ब्रह्माण्डका अन्त भी है। स्थूलशरीरका जरा रोग एवं मृत्यु जिसप्रकार स्वतः सिद्ध हैं; उसीप्रकार ब्रह्माण्डका भी ब्रह्मदिवावसानमें खण्डप्रलय एवं रुद्रकी आयुके अवसानमें महाप्रलय हुआ करता है। श्रुतिमें लिखा है कि—

तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्यभावाः
प्रजायन्ते यत्र चैवाऽपियन्ति।

उन अक्षय पुरुषसे अग्निसे स्फुलिङ्गोंके सदृश अनेक जीवोंका प्रकाश होकर पुनः वे उनमेंही विलय होजाते हैं। इसी प्रकार स्मृतिमें भी लिखा है कि—

त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिराब्रह्मणो दिनम्।
तावत्येव निशा तत्र यन्निमीलति विश्वसृक्॥
तमोमात्रामुपादाय प्रतिसंरुद्धविक्रमः।
कालेनाऽनुगताऽशेप आस्ते तूष्णीं दिनाऽत्यये॥
तमेवाऽन्वपिधीयन्ते लोका भूरादयस्त्रयः।
निशायामनुवृत्तायां निर्मुक्तशशिभास्करम्।
त्रिलोक्यां दह्यमानायां शक्त्या संकर्षणाऽग्निना।
यान्त्यूष्मणा महर्ल्लोकाज्जनं भृग्वादयोऽर्दिताः॥

चतुर्युगके सहस्रवार व्यतीत होनेपर ब्रह्माका एक दिन होता है। इस दिनके अवसानमें ब्रह्माकी रात्रिमें खण्डप्रलय होता

है; अर्थात् जिस प्राणशक्तिकेद्वारा ब्रह्माण्डकी प्राणक्रिया निष्पन्न होती है, उसमें फेर पड़ जाता है। उस समय ब्रह्माकी योगनिद्रा द्वारा अन्तर्मुख होनेपर ब्रह्माण्डके अंशमें तमोगुणकी घोरघटा आच्छन्न होजाती है एवं सृष्टिक्रिया कार्य्यकारिताशून्य होकर जलप्लावन, सङ्कर्षणाग्निदाहन आदि किसी भी क्रियाद्वारा आप्लुत होकर सुषुप्तिदशाप्राप्त और निश्चल होजाती है। इसीका नाम खण्डप्रलय है। इसप्रकार रुद्र भगवान्के आयुकी परि-समाप्ति होनेपर (त्रिमूर्तिके ब्रह्मस्वरूपमें लीन होनेपर) महाप्रलय अथवा प्राकृतिक प्रलय हुआ करता है—एक ब्रह्माण्डके आयुके विषयमें ज्योतिषशास्त्रमें लिखा है। यथा—

चतुर्युगसहस्राणि दिनं पैतामहं भवेत्।
पितामहसहस्राणि विष्णोश्च घटिका स्मृता॥
विष्णोर्द्वादशलक्षाणि कलार्द्धं रौद्रमुच्यते।

चारों युगोंके सहस्रवार व्यतीत होनेपर पितामहका एक दिन होता है। पितामहके सहस्र दिनमें विष्णुकी एक घड़ी होती है और विष्णुके द्वादशलक्षदिनमें रुद्रकी अर्द्धकला होती है; उस समय त्रिमूर्तिके ब्रह्ममें लीन होनेसे समस्त ब्रह्माण्ड महाप्रलयमें विलीन हो जाता है। दूसरी ओर पिण्डके विषयमें स्मृतियोंमें इस प्रकार वर्णन पाया जाता है। यथा—

निखिला एव संस्काराः साद्यन्ताः संप्रकीर्त्तिताः।
अतो जीवप्रवाहेऽस्मिन्ननाद्यन्तेऽपि जन्तवः॥

मुक्तिशीलास्तथोत्पत्ति-शालिनः सन्ति सर्वथा ।
नैवात्र विस्मयः कार्य्यो भवद्भिरमृतान्धसः ॥

सब संस्कार ही सादि सान्त हैं । इस कारण जीवप्रवाह अनादि अनन्त होनेपर भी जीव सर्वथा उत्पत्ति और मुक्तिशील है । हे देवगण ! इसमें आप विस्मय न करें ।

सहजो मानवो दैवो जीवपिण्डस्त्रिधा मतः ।
मर्त्येभ्यश्चेतरे निम्ना भूतसङ्घाश्चतुर्विधाः ॥
यैस्तु कर्म्मफलं पिण्डैर्भुञ्जते सहजा हि ते ।
मर्त्योपयुक्तपिण्डा हि कथ्यन्ते मानवाभिधाः ॥
दैवपिण्डाश्च ये ख्याता भुवनानि चतुर्दश ।
वर्त्तन्ते पितरो दैवभोगायतनरूपिणः ॥

सहज, मानव और दैवरूपसे जीवपिण्ड त्रिविध होता है, सहजपिण्ड वे ही हैं. जिनके द्वारा मनुष्योंसे इतर निम्नश्रेणीके चतुर्विधभूतसङ्घ कर्म्मफल भोग करते हैं, मनुष्यके उपयोगी पिण्डोंको मानवपिण्ड कहते हैं। और हे पितृगण ! चतुर्दश भुवनस्थित दैवभोगायतनरूप जो पिण्ड हैं, वे दैवपिण्ड हैं ।

ब्रह्माण्डगत जीवोंके स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर एवं ब्रह्माण्डके अवयव सर्वथा नष्ट होजाते हैं । यही आधिदैविक एवं आधिभौतिक सृष्टिके सादित्व और सान्तत्व होनेका प्रमाण है ॥ ४ ॥

प्रसङ्गसे ब्रह्माण्ड और पिण्डका नश्वरत्ववर्णन किया जाता है—

इसी कारण ब्रह्माण्ड और पिण्ड नश्वर हैं ॥ ५ ॥

इसीसे ब्रह्माण्ड एवं पिण्डका विनाशित्व सिद्ध होता है। ब्रह्माण्ड और जीवदेह दोनों ही नश्वर हैं। त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका वैभव-स्वरूप ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों ही त्रिगुण के पृथक् पृथक् विलासके अनुसार सृष्टि, स्थिति और प्रलयके अधीन होता है। स्मृतिमें वर्णन है कि—

यदा सिसृक्षुः परमात्मनः परो
रजः सृजत्येप पृथक् स्वमायया।
सत्त्वं विचित्रासु रिरंसुरीश्वरः
शयिष्यमाणस्तम ईरयत्यसौ।

श्रीभगवान् मायाके साथ संयुक्त होकर रजोगुणके द्वारा ब्रह्माण्डकी सृष्टि, सत्त्वगुणके द्वारा पालन एवं तमोगुणके द्वारा लय साधन करते है! स्मृतिमें लिखा है कि—

अण्डकोशस्य संघातो विघात उपपादिते ॥

भगवान् कल्पान्तमें अखिल ब्रह्माण्डको अपने जठरमें ग्रहण करके अनन्तशय्यापर शयन करते हैं। लिखा है कि—

सृष्ट्वाऽखिलं जगदिदं सदसत्स्वरूपं,
शक्त्या स्वया त्रिगुणया परिपाति विश्वम्।
संहृत्य कल्पसमये रमते तथैका,
तां सर्व्वभूतजननीं मनसा स्मरामि।

ततो ब्रह्माण्डपिण्डे नश्वरे ॥ ५ ॥

प्रकृतिमाता सदसत् स्वरूप अखिल ब्रह्माण्डकी सृष्टि करके अपने गुणसे उसका परिपालन करती हुई कल्पान्तमें महाप्रलयके समय सबका नाश करके एकाकिनी अव्यक्तरूपसे विराजमान रहती है। आध्यात्मिक सृष्टिरूपी अनन्तकोटिमय सृष्टिधारा अनादि अनन्त होनेपर भी व्यष्टिरूपसे प्रत्येक ब्रह्माण्ड, प्रकृतिमाताके त्रिगुणमयी होनेसे नाशवान् अवश्य है। पहले ही कह चुके हैं कि प्रत्येक ब्रह्माण्डके भगवान् रुद्रके आयुके साथ ही साथ उस ब्रह्माण्डकी आयु निर्णीत होती है। जब रुद्रदेवकी आयुका अन्त होता है उस समय जो विष्णुदेव और जो ब्रह्मा रहते हैं, ऐसे त्रिमूर्तियोंके साथ ही साथ वह ब्रह्माण्ड लयको प्राप्त हो जाता है। अतः व्यष्टिरूपसे प्रत्येक ब्रह्माण्डकी सृष्टि, स्थिति, और लय होना अवश्य सम्भावी है और यही कारण है कि प्रत्येक ब्रह्माण्डमें प्रत्येक ब्रह्मांण्डके सृष्टिकर्त्ता भगवान् ब्रह्मा, स्थितिकर्त्ता भगवान् विष्णु और प्रलयकर्त्ता भगवान् रुद्र ईश्वररूपसे विद्यमान रहते हैं।

ब्रह्माण्डदेहके अनुसार पिण्ड अर्थात् जीवदेह भी नश्वर है। जीव संसारमें उत्पन्न होकर अपने किये हुये कर्म्मोंका भोग करता हुआ निधनको प्राप्त होता है। यह पहले ही कह चुके हैं कि जीवपिण्ड तीन प्रकारके होते हैं, यथा-उद्भिज्ज स्वेदज आदि सहजपिण्ड, मनुष्यका पिण्ड मानवपिण्ड और देवताओंका पिण्ड देवपिण्ड ये तीनों ही अपने अपने कर्म्मभोगके अनन्तर लयको प्राप्त हुआ करते हैं यह स्वतः सिद्ध सिद्धान्त है।

स्मृतिमें स्पष्टरूपसे लिखा है कि—

यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
पुनः संक्षिप्यते सर्व्वं जगत्प्राप्ते युगक्षये ॥
अस्मिन् महामोहमये कटाहे,
सूर्य्याऽग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।
मासर्त्तुदर्वीपरिघट्टनेन,
भूतानि कालः पचतीति वार्त्ता ॥

जो कुछ स्थावर जङ्गम जीव संसारमें परिदृष्ट होते हैं युग-क्षयमें सबही नष्ट होंगे। काल इस मोहमय ब्रह्माण्डकटाहमें सूर्य-रूप अग्नि, रात्रिदिवारूप इन्धन एवं मास और ऋतुरूप दर्वी (कड़छल) के द्वारा जीवगणको नियमितरूपसे पाक करता है। यही जीवका नश्वरत्व है ॥ ५ ॥

सृष्टिके सम्बन्धसे जीवका स्वरूपवर्णन किया जाता है:—

चित् एवं जड़की ग्रन्थिका नाम जीव है ॥ ६ ॥

जड़ और चित्की ग्रन्थिको जीव कहा जाता है। प्रकृति और पुरुषके श्रृङ्गारद्वारा उत्पन्न सृष्टिलीलामें दो प्रवाह दिखाई देते हैं। एक उद्र्ध्वगामी चेतनप्रवाह और दूसरा अधोगामी जड़-प्रवाह। प्रकृतिका चाञ्चल्य सृष्टिधाराका कारण होनेसे जब तक कोई वस्तु इस धारामें रहती है तब तक उसको इसी परिवर्त्तन-नियमके अधीन रहना होता है, इस कारण चेतन और जड़की

चिज्जडग्रन्थिर्जीवः ॥६॥

इस प्रकारकी उन्नत और अवनत गति स्वतः सिद्ध है, इसमें सन्देह नहीं। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि जीव अनन्तयोनियोंमें भ्रमण करता हुआ ऊद्ध्र्वगामिनी प्राकृतिक चेतनधाराको अवलम्बन करके क्रमशः उन्नतिलाभ करते करते अन्तमें उक्त उन्नतिकी परकाष्ठारूपी मुक्तिपदको प्राप्त होता है। तब तदन्तर्गत जडांश प्रकृतिधारामें मिल जाता है। चेतनधाराकी पराकाष्ठा ब्रह्मभाव है जहां प्रकृतिकी पृथक् सत्ता सच्चिदानन्द-सत्तामें विलीन है। इस सिद्धान्तके अनुसार चेतनप्रवाह प्रकृतिके रजस्तमराज्यको अतिक्रम करके सत्त्व राज्यमें उपस्थित होता हुआ उन्नतिकी पराकाष्ठामें प्रकृतिके त्रिगुणमय राज्यको अतिक्रम करके व्यापक चेतन सत्तामें विलीन होता है। यथा :—जीवन्मुक्त महापुरुषका अन्तःकरण। उनके अन्तःकरणमें चेतनसत्तापूर्ण विकासको प्राप्त होकर प्रकृतिका अवच्छेद-परित्याग करती हुई व्यापकचेतनमें विलीन होती है। द्वितीयतः अधोगामिनी जडप्रकृतिका जडदेह मृत्युके पश्चात् चेतनसत्ताके अभावसे क्रमशः नष्ट हो जाता है। जिस प्राणशक्ति द्वारा देहान्तर्गत परमाणुसमूहने एकत्रित होकर शरीरका निर्माण किया था उसी प्राणशक्तिके अभाव होजानेसे परमाणु समूहमें आकर्षणात्मिका शक्ति नष्ट होकर विकर्षणात्मिका शक्तिका आविर्भाव होता है। उसीके अनुसार देहगत परमाणु-समूह परस्पर विच्छिन्न हो पड़ते हैं एवं इस जडप्रकृतिकी अधोगति अर्थात् तमकी ओर गति होती है। प्रकृति परिणामिनी एवं चञ्चला है इस कारण उल्लिखित चेतनप्रवाह क्रमोन्नत होकर

सत्त्वराज्यको अतिक्रम करता हुआ त्रिगुणमयी प्रकृतिमाताकी धारासे निस्तार पाकर यद्यपि परिणामशून्य और स्थिर होता है किन्तु जडप्रवाह नियतपरिणामिनी प्रकृतिके सदैव अन्तर्गत और अधीन होनेसे परिणामशून्य और स्थिर हो नहीं सक्ता है। उदाहरणरूपसे ऐसा समझना चाहिये कि जड-प्रकृतिकी अन्तिम सीमा प्रस्तरादि स्थावर पदार्थ हैं। यही प्रकृतिमें तमोगुणकी पराकाष्ठा है ऐसा जानना चाहिये। जिसप्रकार समुद्रके तरङ्ग घात प्रतिघातसे तीरकी ओर बढ़ते हुए जब तीरमें आकर लगते हैं तब और आगे बढ़नेका स्थान न होनेसे पुनः समुद्रकी ओर लौटते हैं; उसी प्रकार प्रकृतिका जो निम्नगामी प्रवाह क्रमशः निम्नता प्राप्त होते होते तमोगुणकी पराकाष्ठाको प्राप्त होता है, वही प्रवाह आगे स्थान न पाकर पुनः तमोगुणसे रजोगुणकी ओर अर्थात् जडसे चेतनकी ओर नैसर्गिकरूपसे अग्रसर होता है। इस समय तमसे रजकी ओर लौटे हुए उक्त प्राकृतिक प्रवाहकी कुछ उन्नति होनेसे तमोगुणबहुल मलिनताके हटने पर स्वल्प स्वच्छताका आविर्भाव होता है। जिस प्रकार सूर्य्यदेवके सर्वत्र किरणच्छटाका विस्तार करने परभी मलिन दर्पण प्रतिबिम्ब ग्रहणकरनेमें समर्थ नहीं होता है, परन्तु जिस समय ही उस दर्पणकी मलिनता दूर की जाय उसीसमय उसमें व्यापक सूर्य्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है; उसी प्रकार सर्वव्यापक आत्माकी चित्सत्ताकी सर्वत्र समता होने पर भी तामसिक प्रवाहके मालिन्यके कारण उक्त सत्ताका विकाश

हो नहीं सक्ता है; किन्तु जब परिवर्त्तनधाराके नियमके अनुसार प्राकृतिक प्रवाह तमोगुणकी पराकाष्ठासे थोड़ा भी उन्नत और स्वच्छ होता है तभी उस स्वच्छ और सूक्ष्मप्रकृतिके केन्द्रमें व्यापक परमात्मा प्रतिबिम्बित होते हैं। यही चित् और जडकी ग्रन्थि है। यदि च शास्त्रमें—

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"

"अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत्॥"

"केशाग्रशतभागैको जीवो ज्ञेयः।"

संसारमें मेरा ही अंश सनातन जीवरूपमें है। दूसरी मेरी जो परा प्रकृति है वही जीवका स्वरूप है और केशाग्रके शतभागका एक भाग जीवका परिमाण है। इस प्रकारसे कहीं अंश. कहीं प्रकृति, कहीं विच्छिन्न परिमाण कहा गया है। यदि इस सिद्धान्तके साथ इन्हीं बातोंका विरुद्ध भाव प्रतीत हो रहा है, परन्तु अच्छी तरह विचारनेसे यही सिद्ध होगा कि वस्तुतः यह विरुद्ध नहीं है। अन्तःकरणमें जीवात्माका जब प्रथम विकाश होता है, उससमय अविद्याके गाढ़े अन्धकारसे अन्तःकरण आच्छन्न रहता है, उस तमोमय अन्तःकरणमें इतनी तरलतासे आत्मज्योति प्रतिफलित होने लगती है कि, उसे चिदाभास या चित्प्रतिबिम्बताके सिवाय कुछ नहीं कह सकते हैं और वही ज्योति प्रकृतिराज्यमें जीवकी उन्नतिके साथ साथ अविद्यान्धकारसे निर्मुक्त होकर अपनी ज्ञानमयी और प्रभामयी छटाको इस प्रकार-

से दिखाने लगती है कि व्यापक चिन्मय स्वरूपके साथ उसके अंशांशिभावका प्रत्यक्ष अनुभव ज्ञानराज्यमें विचरणशील साधक-जनोंको सदा ही होने लगता है। भगवान् वेदव्यासजीने इस विषयको स्पष्ट करनेके लिये वेदान्तदर्शनमें कहा है—

"अंशो नानाव्यपदेशात्"

जिस प्रकार सर्वव्यापक आकाश एक होने परभी घट, पट आदि उपाधि भेदानुसार घटाकाश पटाकाश आदि उसकी संज्ञा होती है, परन्तु वास्तवमें घटाकाश और व्यापक आकाशमें कोई स्वरूपतः भेद नहीं है। केवल अन्तःकरणरूपी उपाधिके योगसे एकही ब्रह्म नाना जीवरूपसे व्याप्त हो रहे हैं। अतः यही सिद्धान्त हुआ कि उपाधिरहित परमात्माके उपाधियुक्त होनेके कारण ही अंशरूपसे कहा जाता है वह इस सूत्रके लक्षित विषयसे पृथक् या विरुद्ध नहीं है। प्रकृति कहनेका तात्पर्य यही है कि, जीव उपाधितन्त्र है अर्थात् जीव प्रकृतिके अधीन है और ईश्वर प्रकृतिके अधीश्वर हैं। जीवमें प्रकृतिका ही प्राधान्य रहता है इस-लिये प्रकृतिका स्वरूप कहा गया है। जीव वस्तुतः प्रकृति नहीं है, किन्तु प्रकृतिकी तरह प्रतीयमान हो रहा है यही तात्पर्य है और जहां अंशांशिभावकी कल्पना की जाती है उस स्थलपर वह कैसा है इस तरहकी आशङ्का भी होती है, उसीके समाधानकेलिये केशाग्र शतभागरूपसे कहा गया है अर्थात् वह अणुसे भी अणु है यही तात्पर्य है। "एषोऽणुरात्मा" ऐसा श्रुतिमें भी कहा गया है। अतः यही सिद्ध हुआ कि—यही प्रतिबिम्ब ही संसारमें जीव-

संज्ञाको प्राप्त होता है। प्रकृतिका परिणाम पूर्ण तमकी ओरसे जब सत्त्वकी ओर प्रथम प्रवाहित होता है उसी समय यह ग्रन्थि उत्पन्न होती है। प्रकृति पुरुषात्मक भगवत्लीला-विलासरूपी प्रपञ्चमें उद्भिज्जकी सर्वप्रथम योनिमें यह ग्रन्थि आरम्भ होती है। स्मृतिमें लिखा है कि—

> अविद्यायान्तु यत्किञ्चित्प्रतिबिम्बं नगाधिप !।
> तदेव जीवसञ्ज्ञं स्यात्सर्व्वं दुःखाश्रयं पुनः ॥

अविद्याके सूक्ष्मराज्यमें आत्माका जो प्रतिविम्ब भासमान होता है वही सुख दुःखाश्रय जीव कहा जाता है। यही अतिसूक्ष्म प्रकृतिका अंश जहां आत्मा प्रतिबिम्बित होते हैं उसीको कारण-शरीर कहा जाता है। पश्चात् प्रकृतिके साथ इस प्रकार सम्बन्ध-युक्त जीवात्माकी इच्छानुसार सूक्ष्मशरीर उत्पन्न होता है एवं सूक्ष्मशरीरगत संस्कार-समूहके तीव्र वेगके अनुसार स्थूलशरीर उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार तीन शरीर और तद्गत भोगा-दिकों द्वारा बद्धजीव उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज-योनि अतिक्रम करता हुआ मनुष्ययोनिको प्राप्त होता है, इन सब योनियोंका संख्याक्रम स्मृतिमें स्पष्टरूपसे कहा है। यथाः—

> स्थावरे लक्षविंशत्यो जलजं नवलक्षकम्।
> कृमिजं रुद्रलक्षञ्च पक्षिजं दशलक्षकम् ॥
> पश्वादीनां लक्षत्रिंशच्चतुर्लक्षञ्च वानरे।
> ततो हि मानुषा जाताः कुत्सितादेर्द्विलक्षकम्।

उद्भिज्ज योनिकी संख्या बीस लाख, स्वेदज योनिकी संख्या ग्यारह लाख, अण्डज योनिकी संख्या उन्नीस लाख और जरायुजोंमेंसे पशुयोनिकी संख्या चौतीस लाख है। पश्चात् मनुष्य-योनिमें कुत्सित योनि दो लाख हैं। उसके अनन्तर उत्तमोत्तम मानवयोनि लाभ होती है। दूसरी ओर दैवी सृष्टिमें दैवीपिण्डके जो अनेक भेद हैं, वे अलग हैं।

मनुष्येतर चार प्रकारके भूतसङ्घोंकी सकल जीवयोनिमें एकमात्र स्वाभाविक संस्कारका आश्रय होनेसे ये सब योनियां क्रमोद्र्ध्वगामी हैं एवं कुत्सित मनुष्ययोनियोंमें भी बुद्धि और अहङ्कारके विकाशकी अल्पता होनेसे वे भी क्रमोद्र्ध्वगामिनी हैं। इस कारण इन सब योनियोंकी संख्याओंका ऋषिगणने तत्त्वप्रवाहमें संयम करके निर्णय किया है; किन्तु उन्नत मानवयोनिमें जीव स्वाधीन होकर अपने अपने पृथक् संस्कारके अधीन होता है इससे क्रमोद्र्ध्वगति प्राप्त न होकर कर्म्मानुसार कभी उन्नत और कभी अवनत, इस प्रकार विभिन्न विभिन्न गतिको प्राप्त होता है। इस कारण मनुष्ययोनिकी संख्या नहीं की जा सकती, यही कारण है कि, मानवपिण्ड और दैवपिण्डोंकी श्रेणीकी अवस्था और अधिकारकी संख्या शास्त्रोंमें नहीं पायी जाती है, केवल उद्भिज्ज आदि चतुर्विधभूतसंघोंकी संख्या ही पायी जाती है। यही जीवभावके विकाश और क्रमाभिव्यक्ति-विज्ञानका सारभूत तत्त्व है और यही चिज्जड़ग्रन्थिरूपी जीवविज्ञानका रहस्य है॥ ६॥

जीवकी मुक्ति कब होती है सो कहा जाता है—

उसके भेदनसे दोनोंकी मुक्ति होती है ॥ ७ ॥

चित् एवं जड़की जिस ग्रन्थिके द्वारा जीवकी उत्पत्ति होती है उस ग्रन्थिके विच्छिन्न हो जानेपर चित् एवं जड़ दोनोंको ही मुक्तिलाभ होता है। सांख्यदर्शनमें पूज्यपाद महर्षि कपिलने भी कहा है कि—

"विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य।"

विवेकके द्वारा बन्धसे पुरुषकी मुक्ति और प्रकृतिकी भी मुक्ति होती है। इससे दोनोंकी ही मुक्ति समझी जा सकती है। इसी रीतिपर इसी विज्ञानकी पुष्टिकेलिए योगदर्शनमें पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलिने भी कहा है—

"पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चिच्छक्तिरिति।"

पुरुषार्थरहित गुणोंका प्रतिलोम परिणाम द्वारा जो लय है उसको कैवल्य कहते हैं। पुरुषकी जो स्वरूपमें अवस्थिति है उसको भी कैवल्य कहते हैं।

उद्भिज्जयोनिसे प्रारम्भ करके मनुष्ययोनिसे अतिरिक्त अन्याय-समस्त योनियोंमें जीव क्रमोदूर्ध्वगतिको बेरोकटोक प्राप्त होता है क्योंकि मनुष्ययोनिसे अतिरिक्त अन्याययोनियोंमें बुद्धिके ऊपर जड़ता रहनेसे जीव स्वतन्त्रकार्योंके द्वारा स्वतन्त्रसंस्कार अर्जन

तद्भेदनादुभयमुक्तिः ॥ ७ ॥

नहीं कर सकता है। केवल महामाया प्रकृतिमाता अपने अङ्कमें माता जैसे छोटे बालकको उन्नत करती है, उसी तरह जीवोंको अपने स्वाभाविक संस्कारोंके द्वारा क्रमशः उन्नत करती है। नदीमें बहता हुआ लकड़ीका टुकड़ा जिस प्रकार स्रोतके वेगसे उस स्रोतके अनुकूल अनायास समुद्रकी ओर ले जाया जाता है; उसी प्रकार मनुष्ययोनिके अतिरिक्त योनियोंके जीव प्रकृतिके उद्ध्र्वगामी प्रवाहको आश्रय करके उद्भिज्जसे स्वेदज, स्वेदजसे अण्डज और अण्डजसे जरायुके अन्तर्गत निकृष्टपशु और उत्कृष्टपशुओंकी विविध योनियोंको प्राप्त होते हैं। उस समय जीवोंकी क्रमोन्नति प्रकृतिमाताके अधीन होनेसे सर्व्वथा बेरोकटोक होती है। परन्तु जीवके मनुष्ययोनि प्राप्त होते ही उसमें पञ्चकोषोंका विकाश यथेष्ट हो जानेसे अहङ्कार और बुद्धिका प्रकाश हो जाता है। उसके अनुसार मनुष्य अपनी प्रकृतिपर स्वामित्वलाभ करता हुआ प्रकृतिमाताकी अधीनता त्याग करता है। इस कारण मनुष्ययोनिमें आकर पहले जो सब कार्य्योंमें प्रकृतिमाताका ही दायित्व था वह फिर नहीं रहता है। मनुष्य अपने कार्य्योंका स्वयं ही दायी होता है। इसकारण मनुष्ययोनिमें ही धर्म्माऽधर्म्मका दायित्व प्राप्त होता है। केवल यही नहीं है, अधिकन्तु स्मृतिमें लिखा है—

मानुषेषु महाराज ! धर्म्माऽधर्म्मौ प्रवर्त्ततः।
न तथाऽन्येषु भूतेषु मनुष्यरहितेष्विह ॥
उपभोगैरपि त्यक्तं नाऽऽत्मानं सादयेन्नरः।

चाण्डालत्वेऽपि मानुष्यं सर्व्वथा तात ! शोभनम् ॥
इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपते ! ।
आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्म्मभिः शुभलक्षणैः ॥

मनुष्ययोनिमें कर्म्म करना अपने अधीन होनेके कारण मनुष्य पुरुषार्थद्वारा उन्नत होकर मुक्तिपद भी लाभ कर सकता है और मन्द पुरुषार्थ द्वारा अवनत होकर नीच योनियोंमें भी गिर सकता है। इसीकारण मनुष्यजन्मको समस्त स्मृतिशास्त्रोंमें श्रेष्ठ जन्म कहकर प्रतिपादन किया गया है। मनुष्ययोनिमें इसप्रकार श्रेष्ठ अधिकार प्राप्त होने पर भी निजदेहके स्वामी हो जानेके कारण इन्द्रियोंका अधिकार बढ़जानेसे इस योनिमें आकर जीव प्रायः ही उच्छृङ्खल हो पड़ता है एवं इसी कारण फिर उसका मनुष्य-योनिसे निम्नयोनियोंकी ओर अवनत होना सम्भव हो जाता है। जो प्राकृतिक उद्ध्र्वगामी प्रवाह उद्भिज्जसे उसको उत्कृष्ट पशु-पर्य्यन्त ही नहीं, मनुष्ययोनिपर्य्यन्त लाया था उसी प्रवाहको मनुष्य परित्याग करता है एवं इसप्रकारसे प्रकृतिमाताकी अधीनता त्याग करके स्वेच्छाचारी हो जानेसे पुनः उसकी विरुद्ध गति होनेकी सम्भावना होती है। इस समय धर्म्म मनुष्यका सहायक होकर विविध शास्त्रीय विधानरूपसे उसकी विरुद्धगतिसे रक्षा करता हुआ क्रमोद्ध्र्वगतिके मार्गमें उसको चलाता है। स्मृतिमें कहा है—

उन्नतिं निखिला जीवा धर्म्मेणैव क्रमादिह ।
विदधानाः सावधाना लभन्तेऽन्ते परं पदम् ॥

प्रकृत्यनुकूल धर्म्मकी वर्णाश्रमविधिके ही द्वारा मनुष्यकी उच्छृङ्खलगति नियमित होती है एवं मनुष्य क्रमशः उन्नतिलाभ करते करते आत्माका तत्त्व जानकर संसारकी वासनाओंको त्याग करता हुआ आत्माराम होनेकी चेष्टा करता है। मीमांसा-दर्शनमें कर्मके तीन भेद कहे हैं, यथा-सहजकर्म, ऐशकर्म और जैवकर्म, इन तीनों कर्मोंके अनुसार चिज्जड़ग्रन्थि भेदनरूप क्रिया भी तीन प्रकारकी होती है। सहजकर्मसे जीवन्मुक्तपदमें, ऐशकर्मसे त्रिमूर्त्तिपदमें और जैवकर्मसे सूर्य्यमण्डलभेदन करते समय शुक्लगतिद्वारा सप्तमलोकमें गति होती है। तीनों कर्म-प्रणालियोंके द्वारा तीनों दशाओंमें चिज्जड़ग्रन्थिका भेदन इन तीन प्रकारोंसे होता है। इसका कारण स्मृतिशास्त्रमें कहा है कि—

जैवैशसहजाख्यानां द्रष्टा सन् कर्मणामहम्।
गत्या स्वतन्त्रयाऽमीभिस्त्रिभिरेव स्वतन्त्रया॥
सम्प्रयच्छामि कैवल्यं त्रिविधं वै विशेषतः।
नैव कश्चन सन्देहो विद्यतेऽत्र स्वधाभुजः॥
जैवेन कर्म्मणा दत्त्वा पदं शुक्लपथानपि।
ऐशेन कर्म्मणा नूनं पदं त्रैमौर्तिकं वरम्॥
जीवन्मुक्तिपदं श्रेष्ठं कर्मणा सहजेन च।
सार्थकं स्वं त्रिनेत्रत्वं, विदधेऽहं स्वधाभुजः॥

श्रीशम्भु भगवान् कह रहे हैं कि मैं, जैव, ऐश और सहजकर्म-का द्रष्टा होकर इन तीनोंके द्वारा ही स्वतन्त्र स्वतन्त्र गतिसे-सहज

कर्मसे जीवन्मुक्तिपद, ऐशकर्मसे त्रिमूर्त्तिपद और जैवकर्मसे शुक्लपथगामी पद प्रदान करके अपने त्रिनेत्रकी सार्थकता करता हूँ।

आनन्द जीवकी जीवनिका शक्तिका और अखिल पुरुषार्थका मूलमन्त्र है। इस कारण आनन्दप्रयासी जीव आनन्दकन्द सच्चिदानन्दके चरणकमलोंका आश्रय करता हुआ एवं क्रमशः वैधी और रागात्मिका भक्तिकी आनन्दप्रद उन्नत कक्षाओंको प्राप्त करता हुआ अन्तमें भक्तिकी परदशामें पदार्पण करके कृतकृत्य होता है। पराभक्तिके पदपर आरूढ़ जीवन्मुक्त महापुरुष ज्ञानके द्वारा अपने आत्माके साथ व्यापक परमात्माका सादृश्य उपलब्ध करते हैं। उनकी आत्माका तब फिर जड़के साथ बन्धन नहीं रहता है क्योंकि वासनाही त्रिविध शरीरके साथ आत्माका बन्धन होनेका कारण है। पराभक्तिके द्वारा परमात्माका स्वरूप अवगत होनेपर श्रुतिमें वर्णन है कि—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

हृदयकी ग्रन्थि भिन्न होती है, समस्त सन्देहजाल छिन्न-विच्छिन्न हो जाते हैं एवं समस्त कर्मोंकाक्षय होता है, इस कारण-ही चित्की तब फिर जड़के साथ ग्रन्थि नहीं रहती है। श्रुति और स्मृतिमें लिखा है कि—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।
यथा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रेऽन्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ॥
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

जब हृदयकी समस्तकामना विनष्ट होती हैं तब मर्त्य जीव अमृतत्व प्राप्त होता है । उनकी आत्मा प्रकृतिसे अतीत परब्रह्ममें विलीन हो जानेके कारण वे धर्माऽधर्म्म पाप पुण्य आदि द्वन्द्व-भावोंसे विमुक्त होकर परम साम्यपद प्राप्त होते हैं । जिस प्रकार स्रोतस्विनी नदी विविध देशोंमें प्रवाहित होती हुई अन्तमें समुद्रमें मिलती है तब फिर उसका पृथक् नामरूप नहीं रहता है ; उसी प्रकार पराभक्तिको प्राप्त भक्तका चिदंश जो अब तक जड़के साथ ग्रन्थियुक्त होकर पृथक्भावापन्न था वह उस समय सर्व-व्यापक सच्चिदानन्दसागरमें विलीन हो जानेसे नामरूपमय जड़के साथ उसकी फिर ग्रन्थि नहीं रहती है । उसके अंशकी प्रकृति महाप्रकृतिमें मिल जाती है एवं चित्सत्ता सच्चिदानन्दसागरमें विलीन हो जाती है ॥ ७ ॥

प्रसङ्गसे कहते हैं :—

वे बीजदाता हैं और प्रकृति क्षेत्ररूपा है ॥ ८ ॥

सृष्टि विस्तारके लिये बीजदाता पिता ईश्वर हैं और क्षेत्रभूता

स बीजदाता प्रकृतिश्च क्षेत्रम् ॥ ८ ॥

जननी प्रकृति है। जिस प्रकार क्षेत्रमें अंकुरोत्पत्तिके अर्थ बीज-वपन किया जाता है, उसी प्रकार प्रकृतिक्षेत्रमें पुरुषके बीजरोपण द्वारा सृष्टिका विस्तार होता है। मनुष्यादि जीवजगत्में सृष्टि-विस्तारके अर्थ जिस प्रकार माताके क्षेत्रमें पिताके वीर्य्याधानकी आवश्यकता होती है; उसी प्रकार प्रकृतिमाताके क्षेत्रमें परम-पिताके वीर्य्याधानके द्वारा अनन्तकोटि ब्रह्माण्डरूपी विराट् सृष्टिका उद्भव होता है। श्रीभगवान् गीतामें आज्ञा करते हैं कि—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत !॥
तेषां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।

प्रकृति योनिही उनके गर्भाधानका स्थान है प्रकृति क्षेत्रमें उनके गर्भाधान करने पर प्रकृतिके ही गर्भसे समस्त जीवोंकी सृष्टि होती है। इस प्रकारका वर्णन श्रुति और स्मृतियोंमें भी देखा जाता है। यथाः—

कामस्तदग्रे समवर्त्तताऽधिमनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
त्वं नः सुराणामपि सन्निधानात् कूटस्थ आद्यः पुरुषः पुराणः।
त्वं देवशक्त्यां गुणकर्मयोनौ रेतस्त्वजायां कविरादधेऽजः।
ततः स च परिश्रान्तस्तस्या योनौ जगत्पिता।
चकार वीर्य्याऽऽधानञ्च नित्यानन्दे शुभक्षणे॥
अथ सा कृष्णचिच्छक्तिः कृष्णगर्भं दधार ह।
शतमन्वन्तरं यावज्ज्वलन्ती ब्रह्मतेजसा॥

शतं मन्वन्तरान्ते च कालेऽतीतेऽपि सुन्दरी ।

सुषाव डिम्बं स्वर्णाऽऽभं विश्वाधाराऽऽलयं परम् ॥

स्वशक्तिस्वरूपिणी गुणमयी अजाप्रकृतिमें नित्य सनातन भगवान् रेतःसंचार करते हैं। कालानुसार सृष्टिका समय उपस्थित होनेपर उनके चित्तमें सिसृक्षाकी उत्पत्ति होती है। तब जगत्पिता शुभक्षणमें प्रकृतिमाताके क्षेत्रमें गर्भाधान सम्पादन करते हैं। उस गर्भको प्रकृतिमाता एकसौ मन्वन्तर तक धारण करती हैं। इसप्रकार एक शतमन्वन्तरके पश्चात् प्रकृतिमाता विश्वके आधारस्वरूप सुवर्णके समान आभावाले एक अण्डको प्रसव करती हैं। यह अण्ड ही सकल जीवोंको आधारस्वरूप ब्रह्माण्ड है। संहितामें इसी विज्ञानकी ही प्रतिध्वनिरूपसे कहा है कि :—

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।

अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥

परमेश्वर सृष्टिके समय अपने देहको द्विधा विभक्त करके आधा भाग पुरुषरूप होते हैं और आधा भाग नारीरूप होकर उस नारीरूपके गर्भमें विराट् विश्वकी उत्पत्ति करते हैं। इस दर्शनके विज्ञानके अनुसार प्रकृतिको जो ब्रह्मशक्ति स्वरूपिणी कहा गया है वह उक्त संहिताके द्वारा स्पष्ट प्रमाणित होता है। इस प्रकार स्मृतिकारोंने भी स्पष्टरूपसे वर्णन किया है कि:—

योगेनाऽऽत्मा सृष्टिविधौ द्विधारूपो बभूव सः ।

पुमांश्च दक्षिणार्द्धाङ्गो वामार्द्धा प्रकृतिः स्मृता ॥

सा च ब्रह्मस्वरूपा च नित्या सा च सनातनी।
यथाऽऽत्मा च तथा शक्तिर्यथाऽग्नौ दाहिका स्थिता ॥

परमात्मा सृष्टिके प्रथम योगके द्वारा दो रूप होकर दक्षिणार्द्धसे पुरुष और वामार्द्धसे नारी होते हैं। यही वामार्द्धस्वरूपिणी स्त्री ही प्रकृति माता हैं, वे नित्या हैं, सनातनी हैं एवं जिसप्रकार अग्निमें दाहिका शक्ति रहती है उसी प्रकार वे भी पुरुषमें पुरुष-शक्तिरूपसे अवस्थान करती हैं। इसी स्त्रीशक्ति और मातृशक्तिको वेद स्मृति एवं निरुक्तमें कई स्थानोंमें संस्त्यानशक्ति और कई स्थानोंमें अप् वा सलिल कहा गया है।

कंस्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे। ऋग्वेदसंहिता।

संस्त्यानं स्त्री प्रवृत्तिश्च पुमान्। महाभाष्य।
स्त्रिया आपो भवन्ति स्त्यायनात्। निरुक्त।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्व्वं मा इदम्। ऋग्वेदसंहिता।

सलिलं सल्गतौ औणादिकः इलच् इदं दृश्यमानं सर्वं जगत् सलिलं कारणेन संगतं अविभागापन्नं आः आसीत्। सायणाचार्य्य।

जिस शक्ति द्वारा सूक्ष्मभावमें अवस्थित कारण-गर्भमें विलीन विश्वजगत् स्थूलभावको प्राप्त होता है उसीका नाम अप् है। यह विश्वकी संस्त्यानशक्ति है। महाभाष्यकार भी कहते हैं कि संस्त्यान स्त्री है और प्रवृत्ति पुरुष है। निरुक्तमें वर्णन है कि स्त्यायन वा

संहनन अर्थात् संमिलन करनेकी शक्ति रहनेसे प्रकृतिशक्तिका नाम अप्‌शक्ति है, क्योंकि अप वा सलिलमें ही यह मिलित करनेकी शक्ति विद्यमान है। सृष्टिके पहले कुछ भी नहीं था, केवल सलिल था। ऋग्वेदके इस वर्णन द्वारा उक्त भावकी ही प्रतिध्वनि की गयी है। इस मन्त्रमें सलिल शब्दका सल् गतौ धातुसे औणादिक इलच् प्रत्यय करते हुए "सलिलं सर्व्वं मा इदम्" इसका अर्थ श्रीमत्सायणाचार्य्यने इस प्रकार किया है कि "इदं" अर्थात् यह दृश्यमान समस्त जगत् "सलिलं" अर्थात् कारणके साथ सङ्गत वा अविभागापन्न था। यह महाप्रलयके समयकी प्रकृतिकी अवस्था है, इस समय अव्याकृत महाप्रकृतिके गर्भमें समस्त विश्व सूक्ष्मभावसे विलीन रहता है। ब्रह्माण्डकी उपादानभूत समस्त शक्ति प्रच्छन्नभावसे प्रकृतिके अङ्कमें छिपी हुई रहती है एवं अनन्तकोटि जीवोंके संस्कार, महाकाशमें विलीन रहते हैं। श्रुतिमें भी इसी प्रकार लिखा है कि—

नाऽसदासीन्नो सदासीत्तदानीम् नाऽऽसीद्रजो नो व्योमपरोयत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन् अम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥

ऋग्वेदसंहिता।

आपो अग्रे विश्वमावन् गर्भं दधाना अमृतो ऋतज्ञाः।
यासु देवीष्वधिदेव आसीत्कस्मै देवाय हविषे विधेम॥

अथर्व्ववेदसंहिता।

आपो वत्सं जनयन्ती गर्भमग्रे समैरयन्। अथर्व्ववेदसंहिता।

प्रलयकालमें कुछ नहीं रहता है, सत् असत् कोई भी प्राकृतिक वस्तु नहीं रहती है, रज व्योम कुछ भी नहीं रहता है, केवल सर्व्व-व्यापी तमःसञ्चार रहता है एवं "अम्भ" अर्थात् सलिल रहता है। इसी सलिलको कारणवारि कहकर स्मृति और पुराणोंमें वर्णन किया गया है। यही अनन्त जीवोंको संस्कारराशिसंवलित अव्याकृत प्रकृति भावी विश्वकी संस्त्यानशक्ति है। इसी अव्याकृत-प्रकृतिमें ही भगवान् वीर्य्य प्रदान करते हैं। उसके अनुसार इस प्रकृतिमें ही प्रथम गर्भाधान होता है। यही स्मृतिमें वर्णित है कि वे गुणमयी प्रकृतिके साथ लीला करके उसके गर्भसे असंख्य प्रजा उत्पन्न करते हैं। उनके वीर्य्याधान द्वारा महत्तत्त्वादि क्रमसे सृष्टिका विकाश हुआ है। इसीको संहितामें अन्यभावसे कहा गया है कि—

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु बीजमवासृजत् ॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥
तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवाऽऽत्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा ॥
ताभ्याञ्च शकलाभ्याञ्च दिवं भूमिञ्च निर्म्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानञ्च शाश्वतम् ॥
उद्ववर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम्।
मनसश्चाऽप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥

महान्तमेव चाऽत्मानं सर्व्वाणि त्रिगुणानि च।
विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च।
तेषांस्त्ववयवान्सूक्ष्मान्यन्नामाप्यमितौजसाम्।
सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे॥

सिसृक्षु परमेश्वरने प्रथम "अप्" की सृष्टि करके उसमें अपना वीज अर्पण किया। वह अर्पित वीज सुवर्णवर्णोपम सूर्यके सदृश प्रभाविशिष्ट एक अण्डरूपमें परिणत हुआ। इसी अण्डमें सर्व्वलोक पितामह ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। तदनन्तर भगवान् ब्रह्माने अपने ध्यानके वलसे इस अण्डको द्विधाविभक्त करके उद्ध्र्वखण्डमें स्वर्गादिलोक और अधःखण्डमें पृथिव्यादि निर्माण किया एवं मध्यभागमें आकाश, अष्टदिक् और समुद्राख्य शाश्वत सलिलस्थान स्थापित किया। इस प्रकार भगवान्ने महत्तत्त्व, अहंतत्त्व, मन और पञ्च तन्मात्रा एवं इन्द्रियादिकी सृष्टि करके समस्त विश्वको प्रकट किया। यही प्रकृतिक्षेत्रमें परमपिताके बीजदानका फल है। यहां बीजका अर्थ मनुष्यलोकका वीज नहीं है। जिस चेतनसत्ताके प्रभावसे जडा प्रकृति चेतनवती होकर सृष्टि-स्थिति-प्रलय करती है उसी चेतनसत्ताको बीजरूपसे कहा गया है क्योंकि जड वस्तुमें स्वयं कार्य्यकर्तृत्वशक्तिके न रहनेसे जडा प्रकृतिके कार्य्यकेलिये चेतनसत्ताकी आवश्यकता हुआ करती है। यही श्रुतिस्मृतिकथित प्रकृतिक्षेत्रमें परमात्माका गर्भाधान है। इस विषयमें स्मृतिमें और भी वर्णन है कि—

जडाऽहं तस्य संयोगात्प्रभवामि सचेतना।
अयस्कान्तस्य सान्निध्यादयसश्चेतना यथा॥

जिस प्रकार अयस्कान्तमणिके सान्निध्यसे लोहमें चाञ्चल्य उत्पन्न होता है उसी प्रकार चेतन परमात्माके संयोगद्वारा जडा-प्रकृतिमें चेतनाका समावेश हुआ करता है; परन्तु इस चेतनवत्ताके लिए सांख्यदर्शनमें केवल पुरुषके सान्निध्यमात्रकी ही आवश्यकता वर्णित हुई है। समष्टि और व्यष्टिके सम्बन्धसे ब्रह्माण्ड और पिण्ड ये दोनों एक ही सम्बन्धसे गुम्फित है। ब्रह्माण्ड सृष्टिके पूर्वकथित नियमके अनुसार पिण्डसृष्टि भी पुरुषके वीर्य्य और प्रकृतिके क्षेत्रके सम्बन्धसे हुआ करती है। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज और मनुष्यकी पिण्डसृष्टि इसी नैसर्गिक नियमके अधीन होती है। उद्भिज्ज सृष्टिमें प्रकृति और शक्तिका विकाश पुष्पोंके परागमें ही प्रारम्भ होता है और अन्तमें वीज और भूमिके सम्बन्धसे कार्य्यरूपसे फलदायी होता है, स्वेदज अण्डजादिमें भी यह नैसर्गिक नियम स्पष्टरूपसे कार्य्यकारी दिखायी देता है। सुतरां ब्रह्माण्ड और पिण्ड, दोनोंमें ही यह सिद्धान्तलिंगरूपसे पाया जाता है॥ ८॥

सृष्टिकार्य्यमें और किसीकी अपेक्षा है या नहीं सो कहा जाता है।

चित् और अचित्के अतिरिक्त और कुछ नहीं है॥९॥

चिदचितोर्नान्यत्॥ ९॥

ब्रह्म और प्रकृतिके अतिरिक्त अन्य वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती है। सृष्टिके वैभवविस्तारके अर्थ ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिभूता प्रकृतिके अतिरिक्त और कुछ भी अपेक्षित नहीं होता है। चित्प्रधान पुरुष और सत्प्रधान प्रकृति परस्पर सम्मिलित होकर चराचर जगत्की उत्पत्ति किया करते हैं। विराट्की अनन्तताके मूलमें यही प्रधान कारणीभूत प्रकृतिपुरुष ही विद्यमान हैं इसी कारण ही उपनिषदोंमें वर्णन हैं कि—

मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् ।
तस्याऽवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

प्रकृति अघटनघटनापटीयसी माया और उसी मायामें अधिष्ठित चैतन्यमहेश्वर ये दोनों ही सृष्टिके मूलमें विद्यमान हैं। स्मृतिमें कहा गया है कि—

एका शक्तिः शिवैकोऽपि ।
यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ! ॥

शक्ति अद्वितीया है और शिव भी अद्वितीय हैं। जगत्में जो कुछ स्थावरजङ्गमात्मक जीव हैं, वे सब क्षेत्ररूपा जननी प्रकृति एवं क्षेत्रज्ञरूप परमपिता परमेश्वरके संयोगसे उत्पन्न हुए हैं। चित् अर्थात् पुरुष एवं अचित् अर्थात् प्रकृति इन दोनोंके अतिरिक्त तृतीय वस्तु सृष्टिके मूलमें नहीं हैं। शंका समाधनके लिये कहा जाता है कि, सृष्टिके जो चार स्तर हैं, यथा—जगज्जननी ब्रह्म प्रकृतिकी प्राकृतिक सृष्टि, दूसरी भगवान् ब्रह्माकी ब्राह्मीसृष्टि, तीसरी प्रजा-

पतियों की मानसिक सृष्टि और चौथी स्त्री पुरुषकी वैजी सृष्टि है। इन चारोंमें ही यही मौलिक विज्ञान निहित है। पहलीमें ईश्वर और ब्रह्मप्रकृति मिलकर कार्य करते हैं, दूसरीमें भगवान् ब्रह्मा और उनकी प्रकृति मिलकर काम करती है और तीसरीमें प्रजापतिगण और उनकी इच्छाशक्ति मिलकर काम करती है और चौथे स्तरमें स्त्रीशक्ति और पुरुषशक्ति दोनों मिलकर काम करती हैं। अतः उक्त दोनों शक्तिही सृष्टिके सब स्तरोंमें विद्यमान हैं ॥ ९ ॥

सृष्टिके पहले इन दोनों सत्ताओंकी एकता प्रतिपादित की जाती है:—

पृथक् होनेसे पहले दोनोंकी सत्ता अभिन्न रहती है ॥१०॥

परिदृश्यमान सृष्टिके विकाशके पहले ब्रह्म और तच्छक्ति-स्वरूपिणी प्रकृति दोनोंही अद्वैतसत्तामें विलीन रहते हैं। जिस प्रकार किसी शक्तिमान् मनुष्यके शरीरमें शक्तिके आविर्भाव होनेसे पहले, अरणि काष्ठमें स्थित अग्निके समान वह शक्ति शरीरमें ही अन्तर्हित रहती है, उसी प्रकार ब्रह्मशक्ति स्वरूपिणी प्रकृति माता सृष्टिविलासके विस्तारसे पहले परमपुरुषमें लीन होकर रहती है। उस समय उसके गुणोंमें वैषम्य न रहनेसे वह अव्याकृतभावसे सच्चिदानन्दसत्तामें निमग्न रहती है। जिस प्रकार किसी गायककी गान करनेकी शक्ति उस गायकके गान करनेसे पहले उसमें विलीन रहकर अद्वैतभावको धारण करती

प्राग्वियुक्तेर्युक्तौ ॥ १० ॥

है, ठीक उसीप्रकारसे यह 'अहं ममेतिवत्' प्रकृति पुरुषकी अवस्था अनुमान करने योग्य है। गायक जब गाता है तो उसमेंसे उसकी संगीत-शक्ति अलग प्रकट होकर व्यक्तावस्थाको प्राप्त हो नानाप्रकारके मधुर गीतोंसे श्रोताओंको मुग्ध करती है, ठीक इसी उदाहरणसे प्रकृतिकी व्यक्तावस्थामें जगत्प्रपञ्चकी सृष्टिका अनुमान करने योग्य है। जिस प्रकार गायककी उस संगीत शक्तिके उसमें लय होते समय उसके गाये हुए सङ्गीतोंके साथ उसकी वह संङ्गीतशक्ति उस गायकमें अव्यक्तावस्थाको प्राप्त होती है ठीक इसी उदाहरणके अनुसार मूलप्रकृतिकी अव्यक्तावस्थामें जगत्प्रपञ्चको संस्कारारूपसे साथ लेकर सच्चिदानन्दमय ब्रह्मकी अद्वैतसत्तामें उसका लय रहना अनुमान करने योग्य है। इसी भावकी प्रतिध्वनिरूपसे ऋग्वेदमें वर्णन किया गया है कि,

नाऽसदासीन्नो सदासीत्तदानीं। नाऽसीद्रजो नो व्योम परो यत् ॥
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ।
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राव्या अह्न आसीत्प्रकेतः ॥
आसीदवातं स्वधया तदेकं तस्मादन्यन्न परः किञ्चनास ।
कामस्तदग्रे समवर्त्तताऽधिमनसोरेतः प्रथमं यदाऽऽसीत् ॥
सतो बन्धुमसति निरविन्दन हृदि प्रतिष्या कवयो मनीषा ।

प्रलयके समय सत् असत् कुछ भी नही रहता है, आकाशादि पञ्चभूतोंका अस्तित्व भी नहीं रहता, मृत्यु अथवा अमरत्व कुछ भी नहीं रहता है। केवल अव्याकृत प्रकृतिके गर्भमें स्थित महा-

काशमें विलीन संस्कारसमूह और उन संस्कारसमूहके उद्बोधक अद्वितीय चैतन्यमय परमात्मा रहते हैं। परमात्मा ही पुनर्वार सृष्टिके प्रारम्भमें एकसे बहु होनेकी कामना करके प्रलय विलीन जीवोंके संस्कारोंके अनुसार उनको पूर्वानुरूप कल्प सृष्टिके प्रकाशमें लाते हैं।

विमुक्तिके पहले एकभावसे विद्यमान परमात्मा ही अपने देहको दो भागमें विभक्त करके प्रकृतिमाताका विकाश करते हैं और उन्हींके गर्भमें विराट् विश्वकी उत्पत्ति करते हैं, सुतरां सिद्धान्त यह है कि सृष्टिसे पूर्व प्रकृति अव्यक्तावस्थामें रहकर पुरुषमें ही लय होकर रहती है। यही अद्वैतदशाका अनुभव है ॥ १० ॥

सृष्टिके सम्बन्धसे मतविशेषका निराकरण किया जाता है:—

शक्त्यात्मक होनेसे मिथ्या नहीं है ॥ ११ ॥

शक्तिसे उत्पन्न होनेके कारण जगत् मिथ्या नहीं है। वेदान्तादि-दर्शनशास्त्रोंमें अपनी अपनी ज्ञानभूमिके तारतम्यानुसार जगत्को मिथ्या कहा गया है परन्तु इस दर्शनमें प्रकृतिके नित्य होनेके कारण उससे उत्पन्न जगत् सत्य है, ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है। ज्ञानकी जिस भूमिमें साधक प्रकृतिसे अतीत परब्रह्मका साक्षात्कार करता है वहां प्रकृति तथा प्रकृतिविलासके दृष्टि-गोचर न होनेसे उक्त भूमिके दर्शनशास्त्रमें अवश्य ही जगत्को

नाऽनृतत्वं शक्तित्वात् ॥ ११ ॥

मिथ्या कहकर वर्णन करना युक्तियुक्त होगा, वेदान्तादिशास्त्र इसी भूमिके दर्शन हैं, परन्तु जिस भूमिमें परमात्माके साक्षात्कार होनेपर भी प्रकृतिके विलासका दर्शन अव्याहत रहता है उस भूमिके दर्शनशास्त्रमें प्रकृति नित्या है और तत्सम्भूत सृष्टि-प्रवाह भी नित्य एवं सत्य है ऐसा सिद्धान्त करना ठीकही होगा। इस कारणही इस दर्शनशास्त्रमें सत्यस्वरूप ब्रह्मकी शक्तिसे उत्पन्न सत्यस्वरूपिणी प्रकृति-माताके लीलावैभवरूपी जगत्को सत्य कहा गया है। स्मृतिमें भी कहा है कि—

> सत्याद्भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत्।
> ध्रुवा द्यौः ध्रुवा पृथ्वी ध्रुवा सपर्वता इमे।
> ध्रुवं विश्वमिदं जगत्।
> ध्रुवो राजा विचापमयेम्॥
> ध्रुवं ते राजा वरुणा ध्रुवंदेवो बृहस्पतिः।
> ध्रुवंते इन्द्राग्निश्च, राष्ट्रं धारयतो ध्रुवम्॥

सत्यसे ही भूतगणकी उत्पत्ति है एवं भूतमय जगत् सत्य है। पृथ्वी, आकाश, पर्वत, विश्व-संसार एवं देवतागणके ध्रुवत्वमें कोई भी सन्देह नहीं है। विशेषतः जब आध्यात्मिक सृष्टि अनादि अनन्त है, जब प्रवाहरूपसे अनन्तकोटि-ब्रह्माण्ड सृष्टिका नित्य स्थायी रहना दार्शनिक विज्ञानसे सिद्ध है और जब यह भी सिद्ध है कि, चिज्जड ग्रन्थिरूपी जीवके उत्पत्तिका प्रवाह और प्रवाह-रूपसे अनन्तकोटि पिण्डकी उत्पत्तिरूप सृष्टि होना दार्शनिक

युक्तिके अनुकूल है तो मानना ही पड़ेगा कि, ब्रह्मशक्तिसे उत्पन्न और उसका विलासरूप यह सृष्टि प्रपञ्च भी सत्य है ॥ ११ ॥

मतान्तरका निराकरण किया जाता है:—

ह्म और ईश्वर एक ही है, केवल प्रकृतिके वैभवके कारण पार्थक्य हुआ करता है ॥ १२ ॥

ब्रह्म और ईश्वर अभिन्न हैं, जो कुछ पार्थक्यकी प्रतीति होती है वह मायाके सम्बन्धके कारण ही होती है। वेदान्तादि-शास्त्रोंमें अपनी ज्ञानभूमिके पुष्टिसाधनके अर्थ ईश्वरको सोपाधिक कहकर ब्रह्मपदसे नीचेकी स्थिति बतायी गयी है। इस विषयकी उक्ति शास्त्रोंमें पायी जाती है कि—

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता।
तमोरजः सत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ॥
सत्त्वशुद्धिविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते।
मायाबिम्बं वशीकृत्य तं स्यात्सर्व्वज्ञ ईश्वरः ॥
मेघाकाशमहाकाशौ विविच्येत न पामरैः।
तद्वद्ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्यन्त्यापातदर्शिनः ॥
उपक्रमादिभिर्लिङ्गैस्तात्पर्यस्य विचारणात्।
असङ्गं ब्रह्ममायावी सृजत्येप महेश्वरः ॥
सत्यं ज्ञानमनन्तञ्चेत्युपक्रम्योपसंहृतः।
यतो निवर्त्तते इत्यसङ्गत्वनिर्णयः ॥

ब्रह्मेशयोरैक्यं पार्थक्यन्तु प्रकृतिवैभवात् ॥ १२ ॥

मायी सृजति विश्वं सन्निरुद्धस्तत्र मायया ।
अन्य इत्यपरा ब्रूते श्रुतिस्तेनेश्वरः सृजेत् ॥
आनन्दमय ईशोऽयं बहुस्यामित्यवैक्षत ।
हिरण्यगर्भरूपोऽभूत् सुप्तिः स्वप्नो यथा भवेत् ॥

सत्त्वप्रधाना प्रकृति या माया एवं तमःप्रधाना प्रकृति या अविद्या, इन दोनोंके साथ ईश्वर और जीवका सम्बन्ध है। इन-मेंसे जो मायोपहित चैतन्य है, वही ईश्वर और जो अविद्योपहित चैतन्य है वह जीव है। स्मृतिकारोंने इस प्रकार ईश्वर और जीवकी सत्ता प्रतिपादित करके ब्रह्मको इन सब उपाधियोंसे पृथक् एवं ईश्वरकी अपेक्षा उच्च कक्षास्थित कहकर वर्णन किया है। ईश्वर मायी हैं वह मायोपाधि द्वारा युक्त होकर सृष्टिके समय एकसे बहुरूप धारण करनेकी इच्छा करके हिरण्यगर्भादि भावको प्राप्त होता है एवं मायाका आश्रय करके बहुरूप धारण करता है। इस प्रकारसे अनेक प्रमाण वेदान्तादि शास्त्रोंमें पाये जाते हैं। सांख्यदर्शनमें अपनी ज्ञानभूमिके अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान का लक्षण जो निर्णीत हुआ है उस अलौकिक प्रत्यक्ष और अनु-मानके द्वारा ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती है, इसीसे "ईश्वरकी अलौकिक प्रत्यक्षसे सिद्धि होनेपर भी अपनी भूमिमें उसकी सिद्धि नहीं होती है" यह विज्ञान सांख्यदर्शनके अन्तर्गत "ईश्वरासिद्धेः" इस सूत्रके द्वारा प्रतिपादित होकर अपनी भूमिमें ईश्वरकी असिद्धि प्रकल्पित हुई है। और—"योगिनां अवाह्यप्रत्यक्षत्वात् न दोषः" इस सूत्रके द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष विचारसे ईश्वरकी सिद्धि भी की गयी है। परन्तु इस दर्शनमें "ब्रह्म और ईश्वरकी एकता सिद्ध

होकर केवल प्रकृति सम्बन्ध ही भेदभ्रान्तिका हेतुभूत है। इस प्रकार प्रमाणित हुआ है। सत्य प्रदर्शिनी श्रुतिने इन दोनों भावोंको एकाधारमें वर्णन करनेकेलिए सच्चिदानन्दसत्ताके साथ अनन्त महासमुद्रकी तुलना की है। वायुके संयोगसे समुद्रके उपरिभागमें उत्ताल तरङ्गमालाका लीला-विस्तार होनेपर भी तलदेशमें प्रशान्त पयोनिधि विद्यमान रहता है। श्रुतिने तलदेशके प्रशान्त जलके साथ ब्रह्मकी एवं उपरिभागके तरङ्गायित जलके साथ ईश्वरकी तुलना की है। जलके विचारसे अधोभागका और ऊर्ध्वभागका जल अभिन्न ही है; उसीप्रकार ब्रह्म और ईश्वर अभिन्न हैं। भिन्नता केवल, वायुसंयोगसे तरङ्गोंकी भिन्नताके सदृश मायाके संयोगसे सृष्टिवैभवविलासके द्वारा होती है। ब्रह्मभावके साथ मायाका सम्बन्ध नहीं रहनेसे वह सृष्टिसे अतीत है, किन्तु ईश्वर-भावके साथ मायाका सम्बन्ध होनेसे इस भावमें सिसृक्षा और सृष्टिविलास हुआ करता है, इस प्रकार ब्रह्मभावके साथ ईश्वर-भावका पार्थक्य प्रतीत होता है।

जिस दर्शनशास्त्रमें ईश्वरको मायी कहकर ब्रह्मभावको उच्च-पदवी दी गयी है उसका रहस्य यह है कि, जीवको मुक्तिपदमें लेजानेके लिये मायातीतपदकी ओर ही स्थिरलक्ष्य दिखाना सुविधा जनक है; क्योंकि मुक्तिपद मायातीत है। सुतरां मुमुक्षुके लिये उस प्रकारसे ईश्वर और ब्रह्मकी पृथकूता दिखाकर स्वरूप-ज्ञानकी दृढ़ता कराते हुए मुमुक्षुका मायातीत ब्रह्मपदकी ओर स्थिर लक्ष्य करा देना उक्त दर्शनसिद्धान्तके अनुसार अनुचित नहीं है।

वस्तुतः यह दर्शन जब भक्तिसे मुक्ति होना मानता है और जगत्को ब्रह्मका आनन्दविलासरूपसे समझता है तो इस दर्शनके सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्म और ईश्वरकी पृथकृता सिद्ध करनेकी आवश्यकता ही नहीं है।

श्रुतिने इन दोनों भावोंको और भी कुछ स्पष्ट दिखानेके अर्थ कहा है कि—

सोऽयमात्मा चतुष्पात् पादोऽस्य सर्व्वभूतानि
त्रिपादस्याऽमृतं दिवि ॥

आत्मा चतुष्पाद है उसके एक पादमें सर्व्वभूतमय विराट् सृष्टि विकसित है परन्तु अन्य तीन पाद अमृत हैं अर्थात् सृष्टिसे अतीत हैं। श्रीभगवान्ने गीतामें भी इसी भावकी ही प्रतिध्वनि रूपसे कहा है कि—

विष्टभ्याऽहमिदं सर्व्वमेकांशेन स्थितो जगत्।

मैं अपने एक अंशसे समस्त विश्वमें व्याप्त होकर स्थित हूँ। इस एक अंशके साथ ईश्वरभावका सम्बन्ध है एवं अन्य तीनके साथ ब्रह्मभावका सम्बन्ध है। ब्रह्मभावके साथ सृष्टिका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी कारण ब्रह्मभाव प्रतिपादक मन्त्र क्लीवलिङ्ग हैं एवं ईश्वरभावके साथ मायाका सम्बन्ध है, इसी कारण इस भावकी प्रतिपादक श्रुतियाँ प्रायः ही पुलिङ्ग होती हैं। ईशोपनिषद्में कहा है कि,

सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणं
अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

ब्रह्म शुद्ध एवं अकाय अर्थात् सूक्ष्मशरीर रहित है, ब्रह्म अव्रण एवं अस्नायु अर्थात् स्थूलशरीररहित है और ब्रह्म शुद्ध एवं अपापविद्ध अर्थात् कारण शरीररहित हैं। इस समष्टिभावसे प्रकृतिके तीनों शरीरोंके साथ ब्रह्मका सम्बन्ध न रहनेसे माया सम्बन्धशून्य ब्रह्मभावके प्रतिपादक शुद्ध अकाय, अव्रण, अस्नाविर आदि सब विशेषण ही क्लीवलिङ्ग कहे गये हैं। दूसरी ओर इसी मन्त्रकी द्वितीय पंक्तिमें कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी मनीषी स्वयम्भू आदि विशेषणोंके ईश्वरभाव द्योतक होनेसे इन सबको पुलिङ्ग कहा गया है। इस प्रकार एकही मन्त्रमें इस श्रुतिने दोनों भावोंका चित्र अच्छा दिखाया है, भावद्वय तात्त्विक रीतिसे एक होनेपर भी प्रकृति वैभवके सम्बन्धसे या उस सम्बन्धके अभाव होनेसे द्विधा प्रतीत होता है। इसी कारण स्मृतिकारने लिखा है कि—

शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित्सर्व्ववस्तुनियामिका।
तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत् ॥

समस्त वस्तुओंकी नियमनकारिणी जो ईश्वरीय शक्ति है, उसके संयोगसे ब्रह्म ही ईश्वरताको प्राप्त होता है। ब्रह्मभावके पृथक् दर्शनके प्रसङ्गमें श्रुतिने कहा है कि—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनः।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचन ॥

यत्तदद्रश्यमग्राह्यमगोत्रमचक्षुःश्रोत्रं
तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्व्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥

वह चक्षु, वाक् और मनसे अतीत है एवं आनन्दस्वरूप है, वह इन्द्रियातीत हस्तपादादिरहित विभु सर्वगत सूक्ष्मातिसूक्ष्म अव्यय एवं भूतयोनि हैं। धीर योगी अलौकिक ज्ञाननेत्रद्वारा उसका दर्शन करते रहते हैं। सर्व्वथा प्रकृतिसे अतीत अवाङ्मनसगोचर परब्रह्मके वास्तविक तत्त्वके विषयमें श्रुतिने और भी कहा है कि—

नाऽन्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञम् ।
न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाऽप्रज्ञम् ।

ब्रह्म अन्तःप्रज्ञ नहीं हैं, बहिः प्रज्ञ नहीं हैं, उभयतः प्रज्ञ नहीं हैं, ब्रह्म प्रज्ञान घनप्रज्ञ वा अप्रज्ञ नहीं हैं, वे व्यवहारसे अतीत हैं। गुण लक्षण और चिन्तासे अतीत हैं, निर्देशातीत हैं, आत्मप्रत्ययमात्रसिद्ध, प्रपञ्चातीत, शान्त, शिव, अद्वैत एवं तुरीयपदवाच्य है। ब्रह्मके इस भावके साथही निर्मल आकाशकी तुलना की गई है। श्रुतिमें लिखा है कि—

आकाशवत् सर्वगतश्च नित्याऽविनाशी आत्मा ।
आकाशवत् सर्वगश्च नित्यः स वा एषोऽज आत्मा ॥

ब्रह्म आकाशके समान सर्वव्यापी नित्य और अविनाशी है। परन्तु ईश्वरभावके वर्णनके समय श्रुतिने मायाका सम्बन्ध दिखाया है।

यथा—अदृष्टमव्यवहार्य्यमग्राह्यमलक्षणं,

अचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्य प्रत्ययसारं ।

प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं,

चतुर्थं मन्यते स आत्मा स विज्ञेयः ॥

मायान्तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनन्तु महेश्वरम् ।

तस्याऽवयवभूतैश्च व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

प्रकृति माया है एवं ईश्वर मायी है, चराचरभूतमय जगत् उसके ही अवयव स्वरूप हैं। ऐतरेयश्रुतिमें कहा है कि—

स ईक्षते मे नु लोकाः लोकपालान्नुसृजा इति ।

सोऽद्भ्यः एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत् ॥

स ईक्षते मेनुलोकाश्च लोकपालाश्च मेभ्यः सृजा इति ।

सृष्टिके प्रथम, ईश्वर प्रकृतिके ऊपर दृष्टिपात करता है। उसके ईक्षणसे ही प्रकृति माता शक्तिमती होकर चराचर विश्वकी सृष्टि करती रहती है। और भी मुण्डकादि उपनिषदों में कहा है कि—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति

यं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ।

स्वेच्छा मायाख्यया यत् तज्जगज्जन्मादिकारणम् ।

ईश्वराख्यं तु तत्तत्त्वमधिदैवमिति स्मृतम् ॥

सर्वज्ञः सद्गुरुर्नित्यो ह्यन्तर्य्यामी कृपानिधिः ।

सर्वसद्गुणसारात्मा दोषशून्यः परः पुमान् ॥

उनसे ही सकलभूतोंकी उत्पत्ति होती है, सत्ताके प्रभावसे ही

सकलभूतोंकी स्थिति होती है एवं उनमें ही सकलभूतोंका विलय हुआ करता है। और भी—

अपाणिपादो यवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः
स वेत्ति सर्वं न तस्य वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥

उसके हाथ नहीं हैं तथापि वह ग्रहण कर सकता है, उसके चरण नहीं हैं तथापि गमन कर सकता है, उसके चक्षु नहीं हैं तथापि देख सकता है, उसके कर्ण नहीं हैं तथापि श्रवण कर सकता है, वह सर्वज्ञ है। परन्तु उसका ज्ञाता कोई नहीं है, वह महान् है एवं परमपुरुष है। ब्रह्मका यह ईश्वरभाव मायासंयुक्त होनेपर भी मायाके अधीन नहीं है। स्मृतिकारोंने भी इन दोनों भावोंको स्पष्टरूपसे वर्णन किया है। स्मृतिकारोंने परब्रह्मको परमात्माके अध्यात्मभावरूपसे वर्णन करके कहा है कि—

यत्तद्ब्रह्म मनो वाचामगोचरमितीरितम्।
तत्सर्वकारणं विद्धि सर्वाध्यात्मिकमित्यपि ॥
अनाद्यन्तमजं दिव्यमजरं ध्रुवमव्ययम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्माग्रे सम्प्रवर्त्तते ॥

परब्रह्म मन और वाणीसे अगोचर, सर्वकारण, अनादि, अनन्त, अज, दिव्य, अजर, ध्रुव, अव्यय, अप्रत्यक्ष एवं अविज्ञेय है। एवं ईश्वरभावके विषयमें कहा है कि, उनके जिस भावमें उनकी इच्छारूपिणी महामाया संयुक्ता होकर अनन्तकोटि ब्रह्मांडरूप

विराट्का आविर्भाव करती है उसी अधिदैवभावका नाम ईश्वर है। वह सर्वज्ञ, सद्गुरु, नित्य, अन्तर्यामी, करुणासिन्धु, अनन्त सद्गुणाधार एवं महान् है। इस प्रकार इस मध्यमीमांसा-दर्शनमें ब्रह्मभाव और ईश्वरभावकी एकता दिखाते हुए माया-विलास-विभेदके अनुसार उक्त भावोंका पार्थक्य निर्दिष्ट हुआ है ॥ १२ ॥

उपासनाकी दृढ़ता सम्पादनके अर्थ ब्रह्म और प्रकृतिकी प्रधान विभूतियोंका वर्णन किया जाता है:—

विभूति होनेके कारण पिता, काल एवं महाकाल सेवनीय हैं ॥ १३ ॥

स्थूलशरीरदाता पिता, काल एवं महाकाल ये तीनोंही परमेश्वरकी त्रिभावात्मक विभूति हैं, अतः सेवनीय हैं। स्मृतिमें भी कहा है कि—

महाकालश्च कालश्च पिता चैव स्वधाभुजः ।
सगुणस्य स्वरूपस्य सन्तीमा मे विभूतयः ।

महाकाल, काल और पिता ये मेरी सगुणरूपकी विभूतियाँ हैं। श्रीभगवान्की आधिभौतिक-विभूति जन्मदाता पिता, आधिदैविक-विभूति काल एवं आध्यात्मिक-विभूति महाकाल हैं। ऋषि और देवताके जिस प्रकार अवतार होते हैं, उस प्रकार अर्य्यमा आदि नित्यपितरोंके अवतार नहीं होते, पितरोंकी

विभूतित्वात् सेव्याः पितृकालमहाकालाः ॥ १३ ॥

अवतारणा पितामें ही हुआ करती है। पितृगण पिताकी सहायतासे ही जीवके यथायोग्य कर्म्म भोगनेके उपयोगी स्थूलदेह जीवको प्रदान करते हैं। इस कारण पितरोंके प्रतिनिधिरूप पिता अवश्य ही सेवनीय हैं। काल और महाकाल व्यष्टि और समष्टि सम्बन्धसे युक्त हैं, जैसा आध्यात्मिकरूपी ब्रह्मका विराट् देह आधिदैविक सृष्टिरूपी एक ब्रह्माण्ड, समष्टि और व्यष्टिरूपसे युक्त है, उसी प्रकार महाकाल और काल, समष्टि और व्यष्टिरूपसे सम्बन्धयुक्त होकर भगवान्की साक्षात् विभूति होनेसे अवश्य ही सेवनीय है। भौतिक जगत्में पिताके भगवद्विभूतिस्वरूप होनेसे पिता सकलशास्त्रोंमें परमपूजनीय कहकर वर्णित हुए हैं।

आचार्य्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः॥
मातरं पितरञ्चैव शुश्रूषन्ते जितेन्द्रियाः।
भ्रातृणाञ्चैव संस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥
दशाचार्य्यांनुपाध्याय उपाध्यायान् पिता दश।

पिता प्रजापतिकी मूर्त्ति हैं, इस कारण उनकी पूजासे प्रजापति प्रसन्न होते हैं। स्मृतिकारगणने और भी कहा है कि,—जो जितेन्द्रिय होकर पिता-माताकी सेवा करता रहता है उसको स्वर्गकी प्राप्ति होती है। पिता पूज्यताके विचारसे दश उपाध्यायोंके समान होते हैं एवं उनकी शुश्रूषाके द्वारा आयु, विद्या, यश और बल-प्राप्ति होती है। इसी कारण ही श्रुतिने आज्ञा की है कि—

देवपितृकार्य्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ।

पितृदेवो भव ।

अर्चयित्वा पितृन्देवान्नियतो नियतासनः ।

सर्वकामसमृद्धश्च यज्ञस्य फलमश्नुते ॥

दैवकार्य और पितृकार्यमें प्रमाद करना उचित नहीं है। शरीर, मन और वचनसे पिताकी सेवा करना उचित है। पिताकी शुश्रूषासे सब यज्ञोंका फल प्राप्त हुआ करता है। काल और महाकालका विषय शास्त्रोंमें इस प्रकार प्रकट हुआ है कि, ब्रह्माण्ड-प्रकृति द्वारा काल-परिच्छिन्न है, परन्तु अनादि, अनन्त विराट्व्यापी अपरिच्छिन्न महाकाल है। चाहे मानवकाल हो, चाहे दैवकाल हो दोनों ही सादि सान्त हैं और जो [illegible]से अनादि और अनन्त है वही महाकाल कहाता है। जैसा संगीत-शास्त्रका ध्रुवपदादि तालकार्य और कालरूपी कारण दोनों कार्य और कारणरूपसे एक न होने पर भी एक हो है, उसीप्रकार समष्टि महाकाल, व्यष्टिकाल दोनों समझने योग्य हैं और दोनों ही चित्सत्तारूपी ज्ञानके प्रमापक होनेसे परमपुरुष भगवान्की विभूति हैं इसमें सन्देह नहीं। काल भगवान्की आधिदैविक विभूतिस्वरूप है, इस कारण स्मृतियोंमें अनेक स्थानोंपर परमेश्वर-के साथ कालकी तुलना की गयी है, यथा—

कालोऽयं भगवान् विष्णुरनन्तः परमेश्वरः ।

तद्वेत्ता पूज्यते सम्यक् पूज्यः कोऽन्यस्ततो मतः ॥

इस प्रकार कलनात्मक काल, परमेश्वरके सदृश निर्लिप्त होने

पर भी सूक्ष्म और स्थूलभेदसे अमूर्त्त और मूर्त्त कहकर शास्त्रोंमें कल्पित हुआ है।

लोकानामन्तकृत्कालः कालोऽन्यः कलनात्मकः ।
स द्विधा स्थूलसूक्ष्मत्वान्मूर्त्तश्चाऽमूर्त्त उच्यते ॥

जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः ।
परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः ॥
सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत् ।
कैवल्यं परममहानविशेषो निरन्तरः ॥

एवं कालोप्यनुमितः सौक्ष्म्ये स्थौल्ये च सत्तमे ।
संस्थानभुक्त्या भगवानव्यक्तो व्यक्तभुग्विभुः ॥

स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम् ।
सतो विशेषभुग्यस्तु स कालः परमो महान् ॥

काल सर्व्वथा निर्लिप्त है, तथापि सकल जन्यपदार्थोंका जनकरूप होनेसे परिच्छिन्न जीवकी प्रकृतिके कर्मविभाग और अन्तर्विभागके अनुसार क्षण, काष्ठा, निमेष, मुहूर्त, दिन, रात्रि, मास, पक्ष, वर्ष आदिरूपसे बहुधा विभक्त हुआ है। जगत्में जीवकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ही सर्वथा कालकी महिमा व्यक्त करते रहते हैं। यथा जो कुछ भाव और अभाव, सुख और दुःख, शुभ और अशुभ, सब कुछ काल-के प्रभावसे ही संघटित हुआ करता है।

कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
संहरन्तं प्रजा: कालं कालः शमयते पुनः ॥
विधातृविहितं सर्गं न कश्चिदतिवर्त्तते ।
कालमूलमिदं सर्व्वं भावाभावौ सुखासुखे ॥
कालो हि कुरुते भावान्सर्वलोके शुभाशुभान् ।
कालः संक्षिपते सर्व्वाः प्रजा विसृजते पुनः ॥
कालः सुप्तेषु जागर्त्ति कालो हि दुरतिक्रमः ।
कालः सर्वेषु भूतेषु चरत्यविकृतः समः ॥
अस्मिन्महामोहमये कटाहे
सूर्य्योऽग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन
भूतानि कालः पचतीति वार्त्ता ॥
बहूनीन्द्रसहस्राणि दैत्येन्द्र नियुतानि च ।
विनष्टानीह कालेन मनुजेष्वथ का कथा ॥
राजर्षयश्च बहवः सर्व्वे समुदिता गुणैः ।
देवा ब्रह्मर्षयश्चैव कालेन निधनं गताः ॥
ये समर्था जगत्यस्मिन् सृष्टिसंहारकारिणः ।
तेऽपि कालेन लीयन्ते कालो हि बलवत्तरः ॥

महाप्रलयमें प्रकृतिके तमोमयगर्भमें विलीन जीवसमूहको काल ही पिताके समान सृष्टिके प्रकाशमय दृश्यमें आनयन किया करते हैं। जगत्‌में उत्पन्न जीवोंकी सुखमय स्थितिका सम्पादन सर्वथा कालकी कृपासे ही हुआ करता है एवं पुनः प्रलयके समयमें जगत्‌के

जीवोंका नाश कालही रुद्रमूर्त्ति परिग्रह करके किया करते हैं। जगत्के विविध रसोंमें एकरस और विविध विकारोंमें निर्विकार-स्वरूप काल, उपाधिके भेदसे बहुधा परिलक्षित होता है। दुरत्यय काल सुषुप्तिकी घोरदशामें जगत्के आच्छन्न होने पर भी स्वयं प्रकाशमान रहता है। इस महामोहमय ब्रह्माण्ड-कटाहमें सूर्यरूप अग्निके संयोगसे, रात्रि एवं दिवारूप इन्धन द्वारा, मास एवं ऋतुरूप दर्वी (कड़छुल) के साहाय्यसे कालही भूतगणको पका रहा है अर्थात् परिताप दे रहा है। देवता, ऋषि, लोकपाल और कितने ही इन्द्र, कालके प्रभावसेही उत्थित और पतित हुए हैं। कालकी महिमाकी इयत्ता कौन कर सकता है? स्मृतिमें स्पष्टाक्षरोंसे कहा है कि यदि काल अनुकूल नहीं हो तो बुद्धि अथवा शास्त्राध्ययन द्वारा कुछ भी विशेष फल नहीं होता है; प्रत्युत काल अनुकूल होनेपर मूर्ख व्यक्ति भी अभीप्सित विषयको प्राप्त करता है। शिल्प, मन्त्र, अथवा औषध, काल पूर्ण न हो तो किसी प्रकारसे भी सिद्धिप्रदान नहीं कर सकते हैं। कालके प्रभावसे ही नियमित रूपसे पवनका पदक्रम, जलद जालका वारि-धारावर्षण, सरोवरमें पंकजविकाश एवं अरण्यमें कुसुम सुषमाका विस्तार हुआ करता है। जगतमें जन्म अथवा मृत्यु बाल्य, जरा यौवन आदिकी प्राप्ति सबही कालानुसार हुआ करती है, अकालमें किसीकी भी जन्म मृत्यु नहीं होती है, अधिक क्या क्षेत्रमें बीजवपन करने परभी कालके अनुकूल न होने से उस बीजमें अङ्कुरोत्पत्ति नहीं होती है। इसप्रकार शास्त्रमें काल

की महिमा सम्यक् प्रतिपादित हुई है। कालकी सेवा कालानुकूल धर्मसाधनके द्वारा होती है। धर्मकार्यके तत्त्वतः धर्मसम्बन्धी होने पर भी यदि काल और प्रकृति अनुकूल न हो तो वह अधर्म-में परिगणित होता है। इस कारण बुद्धिमान्लोग कालानुकूल धर्मसाधन को ही धर्मसेवा कहकर निर्देश करते हैं। काल और प्रकृतिके अनुकूल धर्म्मसाधन करने पर साधकगण धीरे-धीरे आध्यात्मिक मार्गमें उन्नत होते हुए अन्तमें जीवभाव परित्याग करके जीवन्मुक्तिपद पर प्रतिष्ठित होते हैं। उस समय उनकी पृथक् सत्ता विलुप्त होकर विश्वजीवनके साथ एकता होती है, और व्यष्टिसत्ता विराट् की अनन्तसत्ताके साथ एकीभाव प्राप्त होती है।

न बुद्धिशास्त्राध्ययनेन शक्यं
प्राप्तुं विशेषं मनुजैरकाले।
मूर्खोऽपि चाप्नोति कदाचिदर्थान्
कालोहि कार्य्यं प्रति निर्विशेषः॥
नाभूतिकालेषु फलं ददन्ति
शिल्पानि मन्त्राश्च तथौषधानि।
तान्येव कालेन समाहितानि
सिध्यन्ति वर्द्धन्ति च भूतिकाले॥
कालेन शीघ्राः प्रवहन्ति वाताः
कालेन वृष्टिर्जलदानुपैति॥
कालेन पद्मोत्पलवज्जलञ्च
कालेन पुष्पन्ति वनेषु वृक्षाः॥

नाऽकालतो म्रियते जायते वा
नाऽकालतो व्याहरते च बालः ।
नाऽकालतो यौवनमभ्युपैति
नाऽकालतो रोहति बीजमुप्तम् ॥

इस समय योगी और स्वयं कुछ नहीं करता है। उसके क्रियमाण संस्कार नहीं रहते हैं। विराट् केन्द्रके द्वारा चालित हो कर, परमेश्वरकी शक्ति प्राप्त होकर जगत्कल्याणप्रद भगवत्कार्य्य किया करता है। विराट् समुद्रके तरङ्गोंसे तरङ्गायित होकर प्रवाह-पतितभावसे कार्य्य करता है। यही महाकालकी सेवा है। इसप्रकारसे भगवान्की त्रिविध विभूति स्वरूप पिता काल और महाकालकी सेवा हुआ करती है ॥ १३ ॥

अब प्रकृतिके विभूति-समूहका पूज्यत्व वर्णन किया जाता है—

शक्तिकी विभूति होनेसे माता देह और जन्म-भूमि भी है ॥ १४ ॥

स्थूलशरीरदात्री माता, क्षेत्ररूप देह एवं जन्मभूमि ये यथा-विधि पूजनीय हैं। माता, देह और जन्मभूमि भगवान्की शक्ति-स्वरूपिणी महामायाकी विभूति हैं। इस कारण सर्वथा सेवनीय हैं। सृष्टिकार्यमें माता प्रधान है स्थूलशरीरके प्रदान करनेवाले

मातृदेह जन्मभूमयश्च ॥१४॥

और स्थूलशरीरके रक्षक पितृगण माता पिताके शरीरमें गर्भाधानके समय पीठ बनते ही आविर्भूत होते हैं और अन्तमें पीठके छिन्न होनेसे माताके गर्भमें अपना स्थायी सम्बन्ध रखकर स्थूलशरीर बना देते हैं और उसकी रक्षा करते हैं। अतः गर्भमें जीवका जन्म होनेसे लेकर मनुष्यत्व लाभ तक माताकी कृपा सर्वप्रधान है। स्मृतिमें भी कहा है—

मृत्युलोके ततो जन्म गृह्णते च यदा तदा।
यूयं यद्यपि तेभ्यो वै स्वस्वकर्मानुसारतः॥
उपयुक्तं प्रयच्छेत भोगायतनरूपकम्।
पित्रोःस्थूलं रजोवीर्यं साहाय्याद्वपुरद्भुतम्॥
परिश्रमेण महता पाञ्चभौतिकमण्डलात्।
तत्त्वानि किल संचित्य तद्भोग्यान् पितरोऽनिशम्॥
मातृगर्भेषु निर्माय स्थूलदेहान्न संशयः।
लभन्ते मातृगर्भेषु दुःखान्येव तथापि ते॥
गुह्यमेकं रहस्यं वो ब्रवीम्यत्र निशम्यताम्।
रजस्तमोभ्यां जनिते गुणानां तु प्रभावतः॥
दाम्पत्योर्द्विविधे शक्ती ह्याकर्षणविकर्षणे।
भजेते समतां यावत्तावदेव सुधीरयोः॥
दाम्पत्यं सात्विकं पीठं तिष्ठेन्नैवात्र संशयः।
दाम्पत्योर्हि तदा धैर्यं ज्ञानभक्तिप्रभावतः॥
तस्मात् पीठात् सन्ततिः स्यात् सात्विकी ज्ञानिनी तथा।
यावत् स्यात् सात्विकं पीठं तद्वा सत्वगुणान्वितम्॥

दम्पत्योर्यत्नतो यावदधिकं योगयुक्तयोः ।
स्यात्तावज्ज्ञानसम्पन्ना धार्मिकी सन्ततिर्ध्रुवम् ॥

अर्थात् जब वे मृत्युलोकमें जन्म लेते हैं तब यद्यपि आपलोग उनके अपने कर्मानुसार ही उनके उपयुक्त भोगायतनरूपी अद्भुत स्थूलशरीर उनको माता पिता और रजोवीर्यकी सहायतासे प्रदान करते हो। और हे पितृगण! बड़े परिश्रमसे आप पञ्चभूत मण्डलसे निरन्तर तत्त्वोंको एकत्रित करतेही मातृगर्भमें उनके भोगके योग्य स्थूलशरीरको निःसन्देह बना देतेहो तो भी वे मातृगर्भमें दुःखको ही पाते हैं। इस विषयमें आपसे एक गुप्त रहस्य कहता हूँ, सुनो—गुण प्रभावसे दम्पतिकी रज तम जनित आकर्षण और विकर्षणकी समता जबतक रहती है तभीतक दम्पतियोंमें सत्व गुणमय दाम्पत्यपीठ बना रहता है इसमें सन्देह नहीं। उस समय दम्पतीके धैर्य, ज्ञान और भक्तिके प्रभावसे ही उस पीठसे सन्तति सात्त्विक और ज्ञानवान् होगी। पीठ जितना सात्त्विक होगा अथवा योगयुक्त दम्पतीके यन्त्रपीठ जितना सत्वगुणमय होगा उतनीही सन्तति धार्मिक और ज्ञानवान् होगी।

माता पृथ्वीकी मूर्ति है उसको प्रसन्न करनेसे वसुन्धरा पूजिता होती है। संसारमें माताके समान गुरु कोई नहीं है। इन सब स्मृतिवचनों के अनुरूप ही श्रुति भी आज्ञा करती है कि मातामें श्रद्धा रखनेवाला पुत्रही जगतमें धन, यश और विद्या

लाभ कर सकता है। जितेन्द्रिय और मातृभक्त सन्तान दीर्घायु और स्वर्गगामी होती है। स्मृतियोंमें कहा है कि—

देशश्च जन्मभूमिश्च माता चैव बुभुत्सवः।
मुख्या मत्प्रकृतेनूनमिमाः सन्ति विभूतयः॥
निजान्तःकरणेष्वेव त्रिविधाऽकाशरूपतः।
सर्वव्यापकदेशोऽयं अनुभूयत एवह॥
अतोऽपि स्वशरीराणि मन्यन्ते प्राणिनां कृते।
योगिनः प्रकृतेमुख्यविभूत्यात्मकतः स्वतः॥
आचार्यो ब्रह्मणो मूर्त्तिः पिता मूर्त्तिः प्रजापतेः।
भ्राता मरुत्पतेर्मूर्तिर्माता साक्षात्क्षितेः तनुः॥
दश चैव पितृन्माता सर्व्वां वा पृथिवीमपि।
गौरवेणाऽभिभवति नाऽस्ति मातृसमो गुरुः॥

मातृदेवो भव। मातृमान्पुरुषो वेद।
यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्त्तुं वर्षशतैरपि॥
तयोर्नित्यं प्रियं कुर्य्यादाचार्य्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्व्वं समाप्यते॥
त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥
जीवतो वाक्यकरणान्मृताहे भूरिभोजनात्।
गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता॥

विद्याधनमदोन्मत्तो यः कुर्य्यान्मातृहेलनम् ।
स याति नरकं घोरं सर्वधर्मबहिष्कृतः ॥
मातरं पितरं चैव शुश्रूषन्ते जितेन्द्रियाः ।
आलस्याच्चैव सस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥
मातापितरमुत्थाय पूर्व्वमेवाऽभिवादयेत् ।
आचार्य्यमथवाऽप्यन्यं तदायुर्विन्दते महत् ॥

अर्थात् देश जन्मभूमि एवं माता मेरी प्रकृतिकी प्रधान विभूतियां हैं। निज अन्तःकरणमें त्रिविध आकाशरूपसे सर्वव्यापक देशका अनुभव होता है। इस कारण अपना शरीरभी जीवके लिये मेरी प्रकृतिकी प्रधान विभूतिरूपसे योगिगण मानते हैं। देहकी पवित्रता और स्वास्थ्यरक्षा द्वारा देहकी सेवा होतीहै एवं जन्मभूमिके अर्थ स्वार्थ-त्याग कर सकने पर उसकी भी सेवा होती है! इन दोनोंकी सेवाके द्वारा परम मङ्गललाभ हुआ करता है ॥१४॥

दोनों प्रकारकी विभूतियोंकी सेवासे क्या फल होता है सो वर्णन किया जाता है:—

इनके द्वारा पुण्य, शक्ति और मुक्ति होती है ॥१५॥

ब्रह्म और प्रकृतिके विभूतिसमूहकी सेवा द्वारा पुण्य, शक्ति एवं मुक्ति लाभ हुआ करता है। माता पिताकी सेवाके द्वारा पुण्यलाभ, देह और कालकी सेवाके द्वारा शक्तिलाभ, एवं जन्मभूमि और महाकालकी सेवाके द्वारा मुक्तिलाभ हुआ

तथात्वात्पुण्यशक्तिमुक्तयः ॥ १५ ॥

करता है। स्मृतिने मातृपितृसेवापरायण पुत्रके अर्थ स्वर्गसुख-भोगका विधान किया है। स्वर्गसुखभोग पुण्यविपाक द्वारा ही हुआ करता है, इसकारण उन दोनोंकी सेवा पुण्यप्रद है, इसमें सन्देह नहीं। इसी कारण स्मृतिशास्त्रमें श्रीभगवान्ने पितरोंसे कहा है कि—

यस्यां मनुष्यजातौ स्यात् पित्रोः पूजा यथार्थतः।
ऋषीणां देवतानाञ्चावताराणां यथायथम्॥
मद्विभूत्यवताराणां स्यादाराधनमप्यलम्।
यत्र सप्तविधानाञ्च वृद्धानाममलात्मनाम्॥
पूजा स्यात्सन्ततं सम्यक् सत्कारेण समन्विता।
स्वयं संवर्द्धिता जातिरसौ संवर्द्धयेदधि वः॥

जिस मनुष्य जातिमें माता पिताकी यथार्थ पूजा प्रचलित है जिस जातिमें ऋषि देवताओंके अवतारों तथा मेरी विभूति और अवतारोंकी यथायोग्य आराधना होती है और जिस मनुष्य-जातिमें सप्तप्रकारके वृद्धोंकी नित्य सम्यक पूजा होती है वह जाति स्वयं भी संवर्द्धित होकर आपलोगोंको संवर्द्धित करती है।

काल अथवा स्थूलप्रकृतिके विरुद्ध कार्य्य करनेसे उसकी विषम प्रतिक्रिया स्थूल-सूक्ष्म उभयविध प्रकृतिको ही आघात पहुँचाकर शक्तिहीन कर डालती है। और दूसरी ओर काल और देहके अनुकूल कार्य्य, सर्व्वदा अनुकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न करके शक्तिवर्द्धक हुआ करता है, सब कुछ देश और कालके परिच्छिन्न होनेसे दृश्यमात्र देश और कालके

अधीन है। इसकारण समयरूपीकाल और आत्मासे साक्षात् सम्बन्ध रहनेवाला देशरूपी स्थूलशरीर दोनों की सेवासे शक्ति प्राप्त होगी इसमें सन्देहही नहीं। पूर्वमें प्रमाणित कर चुके हैं कि कालके साथ महाकालका कार्यकारण सम्बन्ध है अथवा व्यष्टि समष्टिरूप सम्बन्ध है इसी प्रकारका सम्बन्ध देश और स्थूलशरीरके साथ भी है। इस कारण काल और देहकी सेवा द्वारा शक्तिलाभ होता है। जन्मभूमिकी सेवाके द्वारा देशका कल्याण होनेसे उससे आधिभौतिक मुक्तिलाभ एवं महाकालकी सेवासे व्यष्टिप्रकृति महाप्रकृतिके साथ मिलित होकर जीवभाव नाश करके शिवभाव प्राप्तिके द्वारा आध्यात्मिक मुक्ति लाभ हुआ करता है। शास्त्रोंमें कहा है कि :—

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ॥

विशेषतः स्वदेशकी स्वाधीनता और स्वदेशकी उन्नतिके विना जाति और व्यक्तिकी स्वाधीनता और उन्नति असम्भव है। इस कारण जन्मभूमिकी सेवासे अभ्युदय और निःश्रेयस दोनोंमें सहायता पहुँचती है। और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' इस विचारसे जगदात्मा बननेसे तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है। यही सर्व्वशास्त्रसिद्धान्तित प्रकृतिपुरुषकी विभूतियोंकी सेवासे उत्पन्न परम फल है ॥ १५ ॥

उपासनाकी सिद्धिके विषयमें हेयोपादेय विभाग वर्णन किया जाता है:—

मनके द्वारा सृष्टि और बुद्धिके द्वारा लय हुआ करता है ॥१६॥

सृष्टिविस्तारके विषयमें सङ्कल्प-विकल्पात्मक मन ही मूल-कारण है एवं सृष्टिप्रवाहको विपरीतवर्त्ती करके लयकी ओर अग्रसर करनेके अर्थ निश्चयात्मिका बुद्धि ही मूलकारण है। वेदान्तके मतसे पञ्चतत्त्वके सूक्ष्मसत्त्वांशसे अन्तःकरण उत्पन्न हुआ है। अन्तःकरणके पुनः चार भेद माने गये हैं। यथा-मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। इन चारोंका सूक्ष्मविचार करनेसे बुद्धि समष्टि सत्त्वांश, मन समष्टि रजांश और चित्त अहंकार समष्टि तमांशसे है ऐसा मानना पड़ेगा। अन्तःकरणमें मन और बुद्धि प्रधान हैं। चित्त मनका और अहङ्कार बुद्धिका अन्तर्विभाग है। मन रजोगुणप्रधान होनेसे वासना उत्पन्न करके जीवके बन्धनका कारण हुआ करता है। बुद्धि चित्त सत्त्वगुण प्रधान होनेसे मुक्तिका कारण हुआ करती है। स्मृति-शास्त्रमें इस विषयके विज्ञानका अपूर्वरीतिसे वर्णन है यथा—

मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तमेतच्चतुर्विधम् ।
अन्तःकरणमस्तीति विप्रा यूयं पितृप्रजाः ॥
मनसोन्तर्विभागोऽस्ति चित्तं चाहंकृतिर्धियः ।
मायापाशै दृढै र्बध्वा योपितृसंसारगोचरम् ॥

सृष्टिर्मनसा लयो बुद्ध्या ॥ १६ ॥

यथा संसारिभि र्जीवैः कार्य्यं कारयतेऽनिशम् ।
तथा चित्तं मनो बुद्धिमहंकारो नियम्य च ॥
कार्य्यं कारयते शश्वन् नानावैचित्र्यसंकुलम् ।
संस्कारानुचरा जीवा वर्तन्ते सर्वथा खलु ॥
वासनोत्पन्नसंस्कारा अभिवध्नन्ति प्राणिनः ।
आसक्तिरेव मूलञ्च वन्धनस्यास्य कारणम् ॥
संस्कारो वासनाजन्यः संस्कारात् कर्म जायते ।
वासनोत्पद्यते भूयः कर्मणो नात्र संशयः ॥
वासनाया पुनर्विज्ञाः संस्कारो जायते ध्रुवम् ।
सदैवं वासनाचक्रं जीवानाञ्च गतागतम् ॥
घूर्णायमानमस्तीह चक्रनेमिर्यथा रथे ।
पूर्वजन्मार्जिता याद्दक् कर्मसंस्कारसन्ततिः ॥

हे पितृगण ! अन्तःकरणके चार भेद हैं ऐसा आपलोग जाने, यथा—मन बुद्धि चित्त और अहंकार । चित्त मनका अन्तर्विभाग है और अहंकार बुद्धिका अन्तर्विभाग है । संसारी जीवोंको जिस प्रकार स्त्री दृढ़ मायारज्जुसे बाँधकर उससे अहर्निश संसारका कार्य्य कराती है उसीप्रकार चित्त मनका और अहंकार बुद्धिका नियमन करके निरन्तर नानावैचित्र्युपूर्ण काम कराया करते हैं । जीव सर्वथा ही संस्कारोंके दास हैं । वासनासे उत्पन्नसंस्कार जीवोंको जकड़ रखते हैं । आसक्ति ही इस बन्धनका मूलकारण है । वासनासे संस्कार होता है, संस्कारसे कर्म्म होता है, कर्म्मसे पुनः वासना उत्पन्न होती है, हे विज्ञो ! वासनासे पुनः संस्कार

ही उत्पन्न होता है। इस संसारमें इसप्रकारसे वासनाका चक्र और जीवका आवागमन रथमें चक्रनेमिके समान सदा घूर्णायमान रहता है।

एतज्जन्मकृतानां वा कर्मणां यादृशी स्मृतिः।
अङ्किता जीवचित्ते स्यादासक्तिः स्याद्धि तादृशी॥
यदासक्तानुरूपेषु विषयेषु निरन्तरम्।
प्रसज्जन्तेऽभितो जीवाः तदासक्त्यानुसारतः॥
आसक्तिश्चित्तसाहाय्यान्मनस्युत्पद्यते ध्रुवम्।
दम्पत्योः सङ्गमाल्लोके मनश्चित्तस्वरूपयोः॥
आसक्तेर्जायते जन्म नात्र कार्या विचारणा।
प्रजातन्तुं यथा पुत्रः संरक्षन् लभते पितुः॥
तस्याधिकारमासक्तिर्विभ्राणा विषयाँस्तथा।
सृष्टिं वर्द्धयते शश्वदिह दैवीञ्च मानवीम्॥
बुद्धिराज्यस्य सिद्धान्तमपरं वित्त किन्त्वहो!।
बुध्यहङ्कारसंयोगाद्भावतत्त्वोदयो भवेत्॥
भावोऽपि द्विविधो ज्ञेयः शुद्धाशुद्धप्रभेदतः।
भावोऽशुद्धस्तयोर्बुद्धिं विधत्ते विषयाकृतिम्॥
शुद्धोभावः क्रमाच्चित्तं कुर्वाणो निर्मलं तथा।
बुद्धिं ब्रह्मपदं नूनं नयञ्छान्तिं प्रयच्छति॥

पूर्वजन्मार्जित कर्म संस्कारसमूह अथवा इस जन्मके कर्मकी जैसी स्मृति जीवके चित्तमें अङ्कित रहती है, उसी प्रकारकी आसक्ति हुआ करती है। उसी आसक्तिके अनुसार जीव उसी

आसक्ति सम्बन्धीय विषयोंमें निरन्तर चारों ओरसे जकड़े रहते हैं। आसक्ति चित्तकी सहायतासे मनमें ही उत्पन्न होती है।

मन और चित्तरूपी स्त्री-पुरुषके सङ्गमसे संसारमें आसक्तिका जन्म होता है, इसमें विचार नहीं करना चाहिये। पुत्र जिस प्रकार पिताके प्रजातन्तुकी रक्षाकरके पिताके अधिकारको प्राप्त होता है, इसीप्रकार आसक्ति इस संसारमें विषयोंको धारण करती हुई दैवी और मानवी सृष्टिको विशेषरूपसे अग्रसर करती है। अहो! किन्तु बुद्धि-राज्यका सिद्धान्त और है ऐसा जानो। अहङ्कार और बुद्धिके संगमसे भावतत्त्वका उदय होता है। शुद्ध और अशुद्धभेदसे भाव भी विविध है सो जानो। उनमेंसे अशुद्ध भाव बुद्धिको विषयवत् कर देता है और शुद्धभाव क्रमशः अन्तःकरणको मलरहित करता हुआ बुद्धिको ब्रह्मपदमें पहुँचा कर ही शान्तिप्रदान करता है।

नन्वासक्तेर्वशात् जीवा अथवा भावनोदिताः।
एतत्त्वद्वयस्यैव साहाय्यात्कर्म कुर्वते॥
कायिकं वाचिकञ्चैव तथा मानसमेव च।
आसक्तौ किन्तु वैवश्यं भावे स्वातन्त्र्यमस्ति ह॥
आनन्त्याद्विषयाणान्तु बहुशाखा समन्विता।
आसक्तिर्विद्यते नूनं शुद्धो भावो न तादृशः॥
एकाद्वैतदशां नेतुर्माग्रेऽसौ नात्र संशयः।
यतो ब्रह्मपदं विज्ञाः! विद्यतेऽद्वैतमेव हि॥

आसक्त्या कार्यकर्तारो जीवाः प्रारब्धयोगतः ।
श्रीगुरोर्देवतानां वा प्रसादादेव सर्वथा ॥
पाशतुल्याद्धि विषयात् स्वान्निवर्तयितुं क्षमाः ।
अन्यथा विषये तेषां प्रसक्तिस्तत्र निश्चिता ॥
किन्तु शुद्धस्य भावस्य साहाय्यात्कार्यकारिणः ।
भाग्यवन्तो न सज्जन्ते विषयेषु कदाचन ॥
उत्तरोत्तरमेतेषां सर्वथोर्ध्वगतिर्भवेत् ।
संगृहीता हि संस्काराः पूर्वजन्मनि यादृशाः ॥
आसक्तिस्तादृशी जीवे प्रादुरेष्यति निश्चितम् ।
तस्या एवानुसारेण जीववर्गो जनिष्यते ॥

जीव या तो आसक्तिके वशीभूत हो या भाव-प्रणोदित होकर ही, इन्हीं दो तत्वोंकी सहायतासे ही शारीरिक, वाचनिक, और मानसिक कर्म करते हैं। आसक्तिमें विवशता है, परन्तु भावमें स्वाधीनता है। आसक्ति बहुशाखा युक्त ही है, क्योंकि विषय अनन्त हैं, परन्तु शुद्धभाव वैसा नहीं है। वह एक अद्वैतदशाको प्राप्त करा सकता है, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि हे विज्ञो! ब्रह्मपद अद्वैत ही है। आसक्तिसे कामकरनेवाले जीव सर्वथा प्रारब्धकी सहायता, श्रीगुरुदेवकी कृपा या देवताओंकी कृपासे ही पाशतुल्य विषयसे अपनेको बचा सकते हैं, नहीं तो उसमें उनका फंसना निश्चित है। परन्तु शुद्धभावकी सहायतासे कर्म करनेवाले भाग्यवान् कदापि नहीं फँसते। उत्तरोत्तर उनकी सर्वथा उद्ध्र्वगति होती रहती है। जीवने पूर्वजन्ममें जैसे

संस्कारसंग्रह किये हैं, उसीके अनुसार उसमें आसक्ति प्रकट होगी।

हेयोपादेयता ज्ञानं नास्ति कोऽप्यत्र संशयः।
आसक्तिमूलके चैवमसद्भावे प्रसज्य वै॥
जीवो बन्धदशातः स्वं रक्षितुं नैव शक्यति।
सम्बन्द्धेन मया सार्द्धं सद्भावेन तु संयुतः॥
यत्कर्म कुरुते जीवः सततं भावशुद्धितः।
हेतुतां वहते विज्ञाः! मुक्तेस्तत्कर्म निश्चितम्॥
पापकर्माप्यतः पुण्यं सद्भावेन समन्वितम्।
एष मे निश्चयो विज्ञाः! एषा मे धारणाऽस्त्यलम्॥

उसी आसक्तिके अनुसार जीवोंमें हेय और उपादेयका विचार उत्पन्न होगा, इसमें कुछ संदेह नहीं है। इस प्रकारसे आसक्तिमूलक असद्भावमें फँसकर ही जीव बन्धनदशासे अपनेको बचा नहीं सकेगा। परन्तु हे विज्ञो! सद्भाव जिसका सम्बन्ध मेरे साथ है, उसके साथ युक्त होकर निरन्तर भावशुद्धिद्वारा जो कर्म जीव करता है, वह कर्म अवश्य ही मुक्तिका कारण होता है। इसकारण सद्भावसे युक्त पाप-कर्म भी पुण्य हो जाता है, हे विज्ञो! यह मेरा निश्चय है और मेरी यही धारणा है।

श्रुतिमें कहा है कि—

मनो दृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित्सचराचरम्।
मनसोह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥

जो कुछ चराचर दृश्यजगत्में द्वैतता और भ्रान्ति है सो मनकाही विजृम्भणमात्र है, मनका अमनीभाव होनेसे ही पुनः द्वैतप्रतीति नहीं रहती है। उससमय सर्वत्र एकमेवाऽद्वितीयम्' ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। इसी प्रकार स्मृतिकारोंने भी कहा है कि—

आदौ मनस्तदनुबन्धविमोक्षदृष्टिः
पश्चात्प्रपञ्चरचना भुवनाभिधाना।
इत्यादिका स्थितिरियं हि गता प्रतिष्ठा-
माख्यायिका सुलभ बालजनोदिते च॥

बन्ध और मोक्षके मूलमें आदिकारणरूप मन विद्यमान है, बालककी चञ्चलबुद्धि सुलभ आख्यायिकाके अनुसार अद्वैतमय जगत्में मनके ही प्रभावसे अनन्त द्वैतभावका विस्तार हुआ है। स्मृतिमें और भी कहा है—

नाऽयं मनो मे सुखदुःखहेतु-
र्न देवतात्मा ग्रहकर्मकालाः।
मनः परं कारणमामनन्ति
संसारचक्रं परिवर्त्तयेद्यः॥
मनो गुणान्वै सृजते बलीय-
स्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि।
शुक्लानि कृष्णान्यथलोहितानि
तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति॥

अनीह आत्मा मनसा समीहता
हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे।
मनः स्वलिङ्गं परिगृह्य कामान्
जुषन् निबद्धो गुणसंगतोऽसौ॥
दानं स्वधर्म्मो नियमो यमश्च
श्रुतञ्च कर्म्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनो निग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः॥
समाहितं यस्य मनः प्रशान्तं
दानादिभिः किं वद तस्य कृत्यम्।
असंयतं यस्य मनो विनश्य-
द्दानादिभिश्चेदपरं किमेभिः॥
देहं मनोमात्रमिदं गृहीत्वा
ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः।
एषोऽहमन्योऽयमितिभ्रमेण
दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति॥

संसारमें देवता, मनुष्य, ग्रह, कर्म वा काल कोई भी दुःखका कारण नहीं है। केवल दुरन्त मन ही सब सुख-दुःखोंका आदिकारण है। संसारचक्रका परिवर्त्तन मनके द्वारा ही हुआ करता है। बलवान मन गुणसमूहकी सृष्टि करके त्रिगुणके तारतम्यानुसार विविध सात्त्विक, राजसिक और तामसिक कर्मोंका विस्तार करता हुआ गुणमय सृष्टि-प्रवाहकी सहायता

किया करता है। इच्छा-द्वेष सुख दुःखादि अन्तःकरणके धर्मोंके साथ तत्त्व निर्लिप्तभावापन्न होनेपर भी केवल दुर्दान्त मनके ही प्रभावसे आत्मा अन्तःकरणके धर्मोंके साथ अभिमानिक एकताभाव प्राप्त होता हुआ बद्ध हुआ करता है। दान, स्वधर्म, यम, नियम, व्रतादि सबही मनोनिग्रह द्वारा अनुष्ठित हुआ करता है। मनका निग्रह करना ही परमयोग है। जिसका मन शान्त हुआ है, उसको दानादि किसी कर्मकी आवश्यकता नहीं होती है। एवं चञ्चल-चित्त मनुष्यके सहस्र-दानादि कर्म करनेपर भी कोई विशेष फल लाभ नहीं होता है। मनके विकारभूत-देहके साथ तादात्म्यभावको प्राप्त होकर जीव, मैं, मेरा करता हुआ अन्धबुद्धि होकर भयानक भवरूपी अन्धकारमें निमग्न होता है। इसकारण मनके साथ सृष्टिका सम्बन्ध वर्णित हुआ है।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्य्योऽजायत मनसा चन्द्रेण मनोवै यज्ञस्य ब्रह्मा यद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा। आदित्योह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तश्चामूर्तञ्च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः।

मनोऽध्यात्ममिति प्राहुर्यथा शास्त्रविशारदाः।
मन्तव्यमधिभूतन्तु चन्द्रमाश्चाधिदैवतम्॥

अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते धूममभि सम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षाद्यान् षड् दक्षिणेति।

इस प्रकारका सम्बन्ध दैवजगत्‌में भी अविसंवादित सत्य होनेके कारण श्रुति-स्मृति आदिमें चन्द्रमाको मनके अधिदैवरूपसे वर्णन किया गया है। श्रुतिने चन्द्रमाको भगवान्‌के मनसे

उत्पन्न हुआ कहा है। और भी स्थान-स्थानपर सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माके साथ चन्द्रमा और मनका सम्बन्ध दिखाया गया है। चन्द्रमाकी अमृतधारा औषधिगणकी पुष्टिकारक है, चन्द्रमाके साथ जीव-जगत्का सम्बन्ध विशेष है, इसकारण श्रुतिने मूर्त्त एवं अमूर्त्त दोनों प्रकारके प्राकृतिक पदार्थोंको ही "रयि" वा "अन्न" कहकर चन्द्रमाको ही "रयि" कहा है। स्मृतिमें भी प्रत्येक पदार्थके त्रिभाव-निरूपणके समय कहा गया है कि मन अध्यात्म, मन्तव्य अधिभूत और चन्द्रमा अधिदैव है। चन्द्रमाके साथ मनका और सृष्टिका इतना सम्बन्ध होनेसे ही गीता और उपनिषदोंमें धूमयानगतिके साथ चन्द्रलोकका सम्बन्ध वर्णित हुआ है।

मासांस्तानैते सम्वत्सरमभिप्राप्नुवन्ति । मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवाः भक्षयन्ति । त स्मिन् यावत्सम्पात मुषित्वाऽथैतमे वाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते ।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥

प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढ़ा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति ॥
इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्टं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढ़ाः ।

नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरञ्चाऽविशन्ति ॥

नैमित्तिक पितृगण इस धूमयानगतिको प्राप्त होकर धूमाभिमानी देवता, रात्रिदेवता आदि देवतागणके लोकसमूह अतिक्रम करते हुये चन्द्रलोकमें गमन करते हैं। वहाँ पुण्य-क्षयकालपर्य्यन्त रहकर पश्चात् पुनः पृथिवीपर आते हैं। सकाम कर्मोंके फलसे इस प्रकारकी गति प्राप्त होती है। इसके द्वारा सृष्टिका प्रवाह शान्त नहीं होता है। मानसिक वासनाही सबका मूल है। इस वासनाके द्वारा पुनः पुनः जन्ममरणचक्रमें घटीयन्त्रकी तरह जीव भ्रमण किया करता है। इस कारण—

मनो विसृजते भावं बुद्धिरध्यवसायिनी।
हृदयं प्रियाऽप्रिये वेद त्रिविधा कर्म चोदना ॥

ऋतम्भरेति तत्र प्रज्ञा।

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्य्यं चरन्तः।
सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति।

इस दर्शनमें कहा गया है कि मन ही सृष्टिके प्रवाह विस्तारका मूलकारण है। परन्तु बुद्धि निश्चयात्मिका होनेके कारण मनके समान चञ्चल प्रकृति नहीं है। इस कारण बुद्धिवृत्तिके अवलम्बनसे जीव सत्यासत्यका निश्चय करके मुक्तिपथमें अग्रसर हो सकता है। यह बुद्धि क्रमशः सात्विकभावको अवलम्बन करती हुई जब ऋतम्भरारूपको प्राप्त होती है, तब ही साधकको स्वरूपोपलब्धिद्वारा मुक्तिपद प्राप्त हुआ करता है।

इसकारण शास्त्रमें सूर्य्यके साथ बुद्धिका अधिदैव सम्बन्ध कहा गया है। सूर्यलोकके साथ देवयानगतिका सम्बन्ध है। इसी कारण विचारपरायण साधक इहामुत्र फलभोगके प्रति विचार द्वारा वैराग्य अवलम्बन करते हुये ज्ञान और तपस्याके कारण देवयानगति प्राप्त होकर सूर्य्यद्वारसे ब्रह्मलोकमें उपनीत होकर मुक्तिपदलाभ करते हैं।

यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्ययमात्मा ॥

तद्य इत्थं विदुर्य्ये ये मेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरन्ह आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान् । मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतां ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥
आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥
एवं सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥
त्यज धर्म्ममधर्म्मञ्च तथा सत्याऽनृते त्यज ।
उभे सत्याऽनृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज ॥
त्यज धर्म्ममसङ्कल्पादधर्म्मञ्चाप्यलिप्सया ।
उभे सत्याऽनृते बुद्ध्या बुद्धिं परमनिश्चयात् ॥

इसी गतिको गीतामें उत्तरायणगति कहा गया है। इस प्रकारकी गतिप्राप्त साधक अग्न्यभिमानी देवता, ज्योतिर्देवता, अहर्लोक देवता आदि देवतागणके लोकोंको अतिक्रम करके परिशेषमें ब्रह्मलोकमें पहुँचाया जाता है।

वहाँसे उनकी फिर पुनरावृत्ति नहीं होती है। इस प्रकार सुबुद्धिके प्रभावसे वासना-विमुक्त होकर सप्तमलोकमें जाकर जीवगणका परब्रह्ममें लय हो जाता है। और जो क्रमोर्ध्वगतिके द्वारा लयको प्राप्त न होकर साहजिक गतिके अवलम्बनसे इस संसारमें ही ब्रह्ममें विलीनताको प्राप्त हुआ करते हैं। उनके सम्बन्धमें भी श्रुति और स्मृतिने बुद्धिको लयहेतु प्रतिपादन किया है। कठोपनिषद्में कहा है शरीररूप रथका रथी आत्मा है, इन्द्रियगण अश्व हैं, मन अश्वसञ्चालनके अर्थ प्रग्रह (सारथीके पकड़नेकी रस्सी) रूप है, विषय ही मार्गरूपके एवं बुद्धि सारथीरूपिणी है। आत्मा, मन और इन्द्रियोंके साथ संयुक्त होकर "भोक्ता"

हुआ करता है। जबतक जीव मनसे चाञ्चल्यपरायण रहता है तबतक दुष्ट अश्वयुक्त सारथीकी तरह दुष्ट इन्द्रियगणके द्वारा जीवको जन्ममरणका दुःख हुआ करता है। परन्तु सुबुद्धिमान् सारथीके द्वारा रथ-संचालनकी तरह जब जीव मनके चाञ्चल्यको दमन करता हुआ सुबुद्धिकी सहायतासे ज्ञानपथमें अग्रसर होता है तबही भवभय दूर होकर उसको परमपदकी प्राप्ति होती है। आत्मा प्रच्छन्नभावसे सब जीवोंमें अवस्थिति करते हैं। केवल परम ऋतम्भरा बुद्धिद्वारा ही उनकी उपलब्धि हुआ करती है। इसी कारण बुद्धि ही लयका कारण है। इसप्रकार स्मृतिमें भी कहा है कि त्रिगुणातीत परमपदमें विलीनता प्राप्तिके अर्थ धर्म-अधर्म सत्य-असत्य आदि सकल द्वन्दोंसे अतीत होना है। अलिप्साके द्वारा अधर्म्मको भी त्याग करना होता है। इसीप्रकार सत्यासत्यको बुद्धिके द्वारा त्याग करके परमनिश्चयके द्वारा उस (बुद्धि) को भी त्याग करना होता है। अतएव द्वन्द्-त्यागके सम्बन्धमें स्मृतिकारोंने बुद्धिको प्रयोगकत्व दिखाकर उसकी (बुद्धिकी) लय हेतुता प्रतिपादन की है। इसप्रकार मनके द्वारा लय साधन हुआ करता है ॥१६॥

सृष्टिका विभाग वर्णन किया जाता है :—

बैजी एवं मानसी है ॥ १७ ॥

बैजी एवं मानसी इन भेदोंसे सृष्टि दो प्रकारकी हुआ करती

बैजी मानसी च ॥ १७ ॥

है। स्त्री और पुरुषके संयोगसे जो सृष्टि उत्पन्न होती है, उसका नाम वैजी सृष्टि है। भौतिक जगत्की उत्पत्तिके मूलमें दृष्टिपात करनेपर प्रत्येक अन्तर्दृष्टिपरायण मनुष्य जान सकेगा कि आणविक संयोजनकी प्रक्रियामें भी इसी प्रकारकी द्विविधशक्तिका समावेश है। पुरुष परमाणु, स्त्रीपरमाणुके साथ संयुक्त होकर स्थूलजगत्का विस्तार करते हैं। इसी प्रकार द्विविधशक्तिके संयोगसे उद्भिज्ज योनिमें भी सृष्टि देखी जाती है। भ्रमर अथवा पवनके द्वारा पुष्पान्तर्गत पुंपराग स्त्रीपरागके साथ सम्मिलित होकर उद्भिज्जश्रेणीकी उत्पत्ति करते हैं। इस प्रकार महामायाके कौशलसे वैजी सृष्टिका लीलाविलास सर्वत्र ही नयनगोचर होता है। यह साधारण वा सामान्यसृष्टिके अन्तर्गत है। परन्तु मानसी सृष्टिका अधिकार साधारण नहीं है। यह विशेषसृष्टि है। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज और सर्वाङ्ग कोशोंसे परिपूर्ण मनुष्य-योनियोंमें वैजी सृष्टिका प्राधान्य है। स्त्री-पुरुषके संयमसे सम्बन्ध रखनेवाली वैजी सृष्टि इन सब योनियोंमें देखनेमें आती है। देवलोकसे साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाली मानसी सृष्टि है। इसीकारण देवतागण जैसी इच्छा करते हैं, वैसी सृष्टि कर सकते हैं। सब देवलोक मानससृष्टिका ही वैभव है। साधारण मनुष्योंमें प्रारम्भिक उन्नत योगियोंमें भी मानस सृष्टि करनेकी पूर्ण योग्यता होती है। योगशास्त्र-समूह इसके विस्तारित प्रमाणसे पूर्ण है। साधारणतः मानससृष्टिका अधिकार पञ्च-कोषके अधिकारोंसे पूर्ण मनुष्ययोनिमें उत्पन्न हो जाता है। और

उन्नत योगियोंमें उसकी पूर्णता होती है। उसका उदाहरण पुराणों-में महर्षि विश्वामित्रचरित्रमें जाज्वल्यमान है। श्रुति स्मृतिने प्रजातन्तुके विस्तारके विषयमें अनेक स्थलोंमें इस प्रकारकी असाधारण मानसी सृष्टिका विधान किया है ॥१७॥

मनसा साधु पश्यति मानसाः प्रजा असृजन्त ।
आदिदेव समुद्भूता ब्रह्मनूलाऽव्यया व्यया ।
सा सृष्टि मानसी नाम ब्रह्मतन्त्रपरायणा (महाभारते)

द्विविध सृष्टिके विषयमें फिर कहा जाता है :—

एक प्रकृतिके अधीन है और दूसरी अन्यके अधीन है ॥ १८ ॥

वैजी सृष्टि प्रकृतिके अधीन है, किन्तु मानसी सृष्टि इस प्रकार नहीं है। उद्भिज्जयोनिसे मनुष्ययोनिके पूर्वतक केवल वैजी सृष्टिका ही अधिकार है, क्योंकि मनुष्येतर समस्त श्रेणी ही प्रकृति माताके अधीन होकर सृष्टि करते रहते हैं। बुद्धितत्त्वके विकाश न होने से उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज एवं जरायुजके अन्तर्गत सकल श्रेणीके पशु प्रकृतिमाताके सृष्टि-प्रवाह विस्तारके नियमको कभी भी उल्लङ्घन नहीं कर सकते हैं। उनका खाना, सोना, मैथुन आदि सब कार्य्य ही प्रकृतिके अधीन हुआ करते हैं। वे नये संकल्प अथवा नयी वासना नहीं कर सकते, जिससमय प्राकृतिक नियमानुसार सृष्टि-विस्तारकी

काचिदायत्तातव्यक्ते काचिदन्यस्य ॥ १८ ॥

आवश्यकता होती है उस समय स्वतः ही उनमें काम उदय होकर वैजी सृष्टि कराता रहता है। उनका यह कार्य्य कदापि स्वायत्त नहीं है परन्तु सर्वथा प्रकृतिके अधीन है। इसीकारण वैजी सृष्टि प्रकृतिके अधीन कही गयी है। मानसी सृष्टिका अधिकार मनुष्यसे प्रारम्भकरके उन्नततर सकल प्राणियोंमें है। उद्भिजादि चतुर्विध-भूतसंघोंमें केवल वैजी सृष्टि ही होती रहती है, यह स्वतः सिद्ध है। पञ्चकोशोंकी असम्पूर्णता ही इसका प्रधान कारण है। दूसरी ओर चतुर्दशभुवनोंमें व्याप्त नानाप्रकारके दैवजीवोंमें केवल मानसी सृष्टि ही कार्य करती रहती है ॥१८॥

मनुष्ययोनिका श्रेष्ठत्व प्रतिपादन किया जाता है :—

मनुष्य स्वतन्त्र हैं परन्तु अन्यजीवसमूह परतन्त्र हैं ॥१९॥

स्वतन्त्रता मनुष्यके अधिकारमें ही पायी जाती है, मनुष्येतर अन्य प्राणीसमूह स्वतन्त्र नहीं हैं। पूर्वसूत्रोक्त विज्ञानके अनुसार यह सिद्ध हुआ कि चतुर्विधभूतसंघोमें वैजी सृष्टिका ही केवल सम्बन्ध है। परन्तु मनुष्यमें वैजी और मानसी दोनोंका ही पूर्ण सम्बन्ध विद्यमान रहनेसे मनुष्यकी सर्वोपरि विशेषता है। यही कारण है कि अन्य जीव परतन्त्र हैं और मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। वेदान्त सिद्धान्तित पञ्चकोषविज्ञानके प्रति संयम करनेसे देखा जायगा कि प्रकृतिके निम्नस्तरसे लगाकर क्रमोर्ध्वस्तरोंमें

स्वतन्त्रा मनुष्याः परतन्त्रास्त्वन्ये ॥१९॥

धीरे धीरे कोषसमूहका भी विकाश होता रहता है। उद्भिज्जोंमें अन्नमयकोषका-विकाश, स्वेदजोंमें अन्नमय एवं प्राणमय इन उभयविध कोषोंका विकाश, अण्डजोंमें उक्त उभयविधकोषोंके अतिरिक्त मनोमयकोषका विकाश, जरायुजोंके अन्तर्गत पशुओंमें विज्ञानमयकोषका भी विकाश अर्थात् चार कोषोंका ही विकाश एवं मनुष्योंमें पाचों कोषोंका विकाश हुआ करता है। पञ्चम अर्थात् आनन्दमयकोषका विकाश केवल मनुष्योंमें ही दिखाई देता है। इसीकारण आनन्दके स्थूललक्षण हास्यादि मनुष्य ही करसकता है। इस प्रकार कोषसमूहके सम्यक् विकाश होजानेके कारण बुद्धिजीवी विचारकुशल मनुष्य अपनी प्रकृतिपर स्वातन्त्र्य लाभ किया करता है। किन्तु मनुष्येतर जीवगण बुद्धिविकाशके अभावके कारण इसप्रकारकी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं करसकते। इसकारण ही वे सम्पूर्णरूपसे प्रकृतिमाताके अधीन होनेके कारण पाप-पुण्यके अधिकारी नहीं होते हैं। परन्तु मनुष्य विचारबुद्धिके द्वारा सुशोभित होनेसे धर्माधर्मका तत्त्व निर्धारण करता हुआ आध्यात्मिक उन्नति लाभ कर सकता है। इसी कारण ही शास्त्रोंमें मनुष्यजन्मका श्रेष्ठत्व प्रतिपादन हुआ है। स्मृतिमें कहा है कि—

मानुषेषु महाराज ! धर्म्माऽधर्म्मौ प्रवर्त्तितौ।
न तथाऽन्येषु भूतेषु मनुष्यरहितोष्विह॥
उपभोगैरपि त्यक्तं नाऽऽत्मानं सादयेन्नरः।
चाण्डालत्वेऽपि मानुष्यं सर्व्वथा तात ! शोभनम्॥

इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपते ! ।
आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः ॥
कथं न विप्रणश्येम योनितोऽस्या इति प्रभो ! ।
कुर्व्वन्ति धर्म्मं मनुजाः श्रुतिप्रामाण्यदर्शनात् ॥
यो दुर्लभतरं प्राप्य मानुष्यं द्विषते नरः ।
धर्म्माऽवमन्ता कामात्मा भवेत्स खलु वच्यते ॥

मनुष्य को ही धर्माधर्मका अधिकार प्राप्त हो सकता है। मनुष्येतर प्राणियोंमें यह अधिकार नहीं है। जीवनका श्रेष्ठतम लक्ष्य मुक्तिसाधन मनुष्ययोनिमें ही सम्भव होता है। सुकृतके अनुष्ठानद्वारा आत्माका उद्धार सम्पादन मनुष्यही कर सकता है। इसीकारण मनुष्य यदि चाण्डाल भी हो तथापि वह अन्यजीवोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। जो मोहान्ध मानव इसप्रकारकी दुर्लभ योनि प्राप्त होकर भी आत्माका उद्धार साधन नहीं करता है वह हतभाग्य और आत्मघाती है। इसीप्रकार श्रुतिमें भी अश्व, गौ आदि मनुष्येतर जीवोंके साथ तुलना करके मनुष्यकी ही सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादन की गयी है। अन्यजीवोंमें इस प्रकारकी स्वतन्त्र कार्य्यकारिता शक्ति नहीं है, इसकारण प्रकृतिमाता उनको अपने अधीन करके क्रमशः उन्नत करतीहुई मुक्तिप्रद मनुष्ययोनि प्राप्त कराती है। वैजी और मानसी दोनों प्रकारकी सृष्टि करनेकी शक्ति प्राप्त होनेसे मनुष्य सृष्टिसामर्थ्यमें पूर्ण है और पञ्चकोशके सम्पूर्ण विकाससे पूर्ण होनेके कारण धर्म और कर्मके

अधिकारसे पूर्ण है इसीकारण मनुष्य स्वतन्त्र हैं और अन्य-जीव परतन्त्र हैं ॥ १९ ॥

विशेषतासे साधकका लक्षणवर्णन किया जाता है :—

बुद्धिराज्यमें उन्नतिशील बुद्धि साधक है ॥२०॥

बुद्धिराज्यमें उन्नतिशील पुरुष ही साधकपदवाच्य हुआ करता है। साधक जितना ही आध्यात्मिक जगत्‌में उन्नतिलाभ करता रहता है उतनाही उसमें शुद्धबुद्धिका विकाश और तत्सम्बन्धीय कार्य्यकलापका लक्षण परिदृष्ट होता है। प्रकृति निम्नस्तरके जीवोंके साथ उच्चस्तरस्थित जीवोंके आत्माकी एकाकारिताके विचारसे भेदभाव लेशमात्र न होने पर भी त्रिगुणमयी प्रकृतिके गुणविकाशके तारतम्यानुसार ही द्वैतता

> ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ।
>
> ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ॥
>
> ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतं !
>
> ता अब्रवीत् यथायतनं प्रविशतेति ॥

और अनन्त वैचित्र्य विजृम्भित हुआ करता है। प्रकृतिके निम्न-तर स्तरसमूहमें तमोगुणके विकासका आधिक्य होनेसे वहाँ बुद्धि और ज्ञानका विकाश हो नहीं सकता है; परन्तु जीव जितना ही प्रकृतिराज्यमें उन्नत होता हुआ आत्माकी ओर अग्रसर होता रहता है उतनाही उसमें तमोगुणका आवरण उन्मुक्त होकर सत्त्वगुणके विकाशके साथ साथ बुद्धि और ज्ञान

बुद्ध्युन्नतिशीलः साधकः ॥२०॥

का आविर्भाव होता रहता है। इसी भावसे ही मनुष्योंके साथ मनुष्येतर जीवसमूहका पार्थक्य एवं मनुष्योंमें भी ज्ञानविकाशके पार्थक्यानुसार उन्नत अथवा अवनत मनुष्योंका भेद परिलक्षित होता है। मनुष्य प्रथमतः अज्ञानके कारण पशुके समान ही रहता है, तत्पश्चात् उन्नतिके साथ साथ मनुष्यत्वका विकाश होता है। अनार्य्य, आर्य्य एवं आर्य्योंमें वर्णव्यवस्था आदि विभेद उल्लिखित मनुष्यत्वके विकाशके ही परिचायक हैं। इस-प्रकार मनुष्यत्वके उन्नत सोपानपर आरोहण करता हुआ धर्माधर्मका तत्त्व अवगत होकर शुद्धबुद्धिकी सहायतासे जब मानव आध्यात्मिक उन्नतिलाभ करता है तब ही वह साधक-पदवी प्राप्त करता है। चाहे साधक कर्ममार्गका पथिक हो चाहे साधक उपासनाके भक्ति सम्बन्धीय अथवा योग सम्बन्धीय अधिकारोंको धारण करके आगे बढ़ता हो, अथवा चाहे साधक ज्ञानके श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूपी पुरुषार्थ करनेमें तत्पर हो सब ही में उसको इसी सिद्धान्तके अनुसारसे सफलताप्राप्त होगी इसमें सन्देह नहीं। साधक और साधन इन दोनोंके साथ सब प्रकारके आत्मोन्नतिशील मार्गका साक्षात् सम्बन्ध है। कर्मपथमें यही बुद्धि उन्नतिशीललक्ष्य सर्वोपरि माना जायगा। क्योंकि कर्ममार्गका अन्तिमलक्ष्य निष्काम कर्मयोग ही समझा गया है। उत्तरोत्तर बुद्धितत्त्वके बिना यह कर्मयोगका अधिकार प्राप्त करने योग्य नहीं है क्योंकि बिना बुद्धितत्त्वके उत्तरोत्तर विकाशसे वासनाका नाश होकर कर्तव्य-परायणताकी वृद्धि नहीं हो सकती और बिना वासनानाश और पूर्ण कर्तव्य-परायणता-

के साधक निष्काम कर्मयोगीके लोकातीतपदको नहीं प्राप्त कर सकता, उसीप्रकार जब मन्त्र, हठ, लय, राज, इन योगचतुष्टयोंमें प्रथम तीनोंका लक्ष्य अन्तिम राजयोगपर ही रक्खा गया है, और राजयोग केवल विचारप्रधानता और बुद्धि उन्नतिशील होकर ही साधन किया जाता है तो यह कहना ही पड़ेगा कि योगमार्गमें भी यही सिद्धान्त निहित है। भक्तिसिद्धान्तमें तो यह माना ही गया है कि अपने इष्टसम्बन्धीय ज्ञानका अभिवृद्धि भक्तिकी उन्नतिका सहायक होता है ॥२०॥

साधकके लक्षण-वर्णन करनेके अनन्तर साधनका लक्षण वर्णन किया जाता है :—

आत्मसृष्टिका निवर्तक लयोन्मुखता प्रवर्तक साधन है ॥ २१ ॥

"भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः नरेषु ब्राह्मणास्स्मृताः ॥
ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणागुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥

सृष्टिनिवर्तकं लयोन्मुखताप्रवर्तकं साधनम् ॥ २१ ॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ता पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥
शनैः शनैरुपरमेत् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
विचारबुद्धेः प्राधान्यं राजयोगस्य साधने ॥
उपलब्धमहाभावा महाबोधान्विताश्च वा
महालयं प्रपन्नाश्च तत्वज्ञानावलम्बतः ॥
योगिनो राजयोगस्य भूमिमासादयन्ति ते ।
तेषां हि नित्ययुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ॥
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।
एषः सर्वेषु भूतेषु गूढ़ात्मा न प्रकाश्यते ॥
दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मात्मा सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

अर्थात् भूतोंमें प्राणिगण श्रेष्ठ हैं प्राणियोंमें बुद्धिमान् प्राणी-गण श्रेष्ठ हैं बुद्धिमानोंमें मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मनुष्योंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ है, ब्राह्मणोंमें विद्वान् ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं और विद्वानोंमें भी कृतबुद्धि श्रेष्ठ हैं, कृतबुद्धियोंमें कर्ता श्रेष्ठ हैं, कर्ताओंमें ब्रह्मज्ञ श्रेष्ठ हैं, तत्त्ववेत्ता पुरुष गुण और कर्मका विभाग करके गुणोंके गुणोंमें ही अवस्थित जानकर बन्धप्राप्त नहीं होते हैं। बुद्धियुक्त पुरुष पुण्य-पाप दोनोंसे ही परित्याग करते हैं बुद्धिकी ही शरण लेनी चाहिये। सकामभाव चित्तको दीनताग्रस्त करता है। बुद्धिमान् पुरुष फलरहित कर्मयोगके जिन सब उपायोंके द्वारा सृष्टिकार्य निवृत्त होकर प्रकृतिकी लयाभिमुखिनी गति सम्पादित होती है उसका नाम साधन है।

चाहे कर्मयोग सम्बन्धीय क्रिया हो, चाहे उपासना सम्बन्धीय क्रिया हो, चाहे मन्त्रादि योगचतुष्टयकी क्रिया हो और चाहे भक्तियोगकी क्रिया हो, सब क्रियाओंमें ही सृष्टिका निवर्तकभाव और लयोन्मुखता प्रवर्तकभाव अवश्य ही पाये जायगें। जीवको कर्मके द्वारा ही बन्धन और कर्मके द्वारा ही मुक्तिप्राप्त हुआ करती है। जिसप्रकार ग्रन्थिबन्धन और ग्रन्थिमोचन उभयविध कर्ममें ही हस्तचालनकी आवश्यकता होती है परन्तु एक प्रकारके हस्तचालनसे ग्रन्थिबन्धन होनेपर भी अन्यप्रकारके हस्तचालनसे ग्रन्थिमोचन हुआ करता है, उसी प्रकार वासनामय कर्मोंके द्वारा सृष्टिप्रवाहका विस्तार एवं संसारचक्रमें नियत परिभ्रमण होनेपर भी निष्काम वासनागन्धरहित पवित्र कर्म समूहके द्वारा जगत्चक्रविघूर्णन निवृत्त होकर जीवको मुक्ति-लाभ हुआ करता है। जिस उपायकेद्वारा इसप्रकारका जन्म-मृत्युमयसंसारभोग निवृत्त होता जाता है और मनुष्य मुक्तिके पथमें अग्रसर हो सकता है उसको साधन कहते हैं ॥ २१ ॥

साधनके तत्त्वनिर्णयार्थ सृष्टि और लयका कारण वर्णन किया जाता है:—

अज्ञान और चाचल्यके द्वारा सृष्टि एवं ज्ञान और धैर्यके द्वारा लय हुआ करता है ॥ २२ ॥

सृष्टि प्रपञ्चके विस्तारका मूलकारण अज्ञान और चाञ्चल्य है, एवं उसके लयका कारण ज्ञान और धैर्य है।

अज्ञानचाञ्चल्याभ्यां सृष्टिर्ज्ञानधैर्याभ्यां लयः ॥ २२ ॥

स एव मायापरिमोहितात्मा
शरीरमास्थाय करोति सर्वम्।
स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः
स एव जाग्रत्परितृप्तिमेति ॥
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

आत्मामें अनात्मा और अनात्मामें आत्मा असत्‌में सत् और सत्‌में असत् इस प्रकारका जो विपरीत ज्ञान है उसको अज्ञान कहते हैं—और जिसमें यथावत पदार्थका ज्ञान हो उसे ज्ञान कहते हैं। उसीप्रकार शरीर, मन और बुद्धिका अथवा इनमेंसे किसीका जो हिलाव है उसको चाञ्चल्य कहते हैं और इनका हिलाव न होनेको धैर्य्य कहते हैं। आत्मा और अनात्माके विवेकसे शून्य होकर मिथ्या और मायामय-संसारको वास्तविक मूलाधार धारण करते हुए उसमें जो आसक्ति है वही अज्ञान और सृष्टिविस्तारका कारण है। उपनिषदोंमें कहा है कि आत्मा मायाकेद्वारा परि-मोहित होकर शरीर धारण करता हुआ स्रक्‌चन्दन और वनितादि विचित्र भोगोंमें रत होता है। गीतामें वर्णन है कि परमात्मा कर्तृत्व वा कर्म कुछ भी सृजन नहीं करते हैं, अज्ञानके द्वारा ज्ञानके आच्छन्न हो जानेसे ही जीवको इसप्रकार मोह हुआ करता है। अज्ञानजनित देहात्मबुद्धि, चित्तमें चाञ्चल्य उत्पन्न करके जीवको संसारजालमें बद्ध करती है। जीवके वासना-वासित चित्तमें इसप्रकार संसारका विस्तार होता रहता है। इसी

कारण ही स्मृतिकार कहते हैं कि चञ्चल चित्त विविध गुणोंकी सृष्टि करता हुआ सात्त्विक, राजसिक और तामसिक रूपसे विविध क्रियाओंकी सृष्टि करता है, उसीसे कर्ममय प्रपञ्चका विस्तार होता है। निर्विकार आत्माके साथ चञ्चलस्वभाव मनका इस-प्रकार सम्बन्ध होनेसे ही आत्माकी बन्धनदशा उपस्थित होती है। पक्षान्तरसे ज्ञान और धैर्य्यके विकाशके साथ-साथ जीवकी बन्धनदशा दूर होकर मुक्तिका उदय हुआ करता है। ज्ञानके उदयसे अज्ञानकृत देहात्मबुद्धि विगलित होनेसे जीव पुनः संसारमें बद्ध नहीं होता है, संसारिक मिथ्या भोगादिसे विरतचित्त होकर परमात्माके साधनमें प्रवृत्त होता है और अन्तमें परमात्माका साक्षात्कार करके मुक्तिपद प्राप्त हुआ करता है। इसीकारण ही उपनिषदोंमें कहा है :—

मनो गुणान्वै सृजते बलीय-
स्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि।
शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि
तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति॥
अनीह आत्मा मनसा समीहता
हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे।
मनः स्वलिङ्गं परिगृह्य कामान्
जुषन् निबद्धो गुणसङ्गतोऽसौ॥
आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तराऽरणिम्।
ज्ञाननिर्म्मंथनाऽऽभ्यासात्पापं दहति पण्डितः॥

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशाऽपहानिः
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु
तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा
आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ।
तमेव धीरो विद्ययाऽतिमृत्युमेति ।

आत्माको अरणि करके प्रणवरूपी उत्तरारणिद्वारा ज्ञानको निर्मलकर सकनेपर समस्त पापोंका नाश हुआ करता है। परमात्माको जाननेसे.ही संसारपाश नष्ट होते हैं एवं अविद्यादि क्लेश क्षीण होनेसे जन्ममृत्युके चक्रमें पुनः परिभ्रमण करना नहीं होता है। इसी ज्ञानके प्रसादसे ही परमात्माका साक्षात्कार होता है। उससमय हृदयग्रन्थि विच्छिन्न हो जाती है, समस्त संदेह निरस्त हो जाते हैं एवं सकल कर्मोंके क्षय होजानेसे निःश्रेयसलाभ हो जाता है। इस प्रकारसे धीर योगी सात्त्विकी धृतिके अवलम्बनसे सब भूतोंमें परमात्माकी अद्वितीय सत्ताक उपलब्धि करता हुआ मुक्तिपदको प्राप्त होता है। धीरता बुद्धिको विपयविलासके चाञ्चल्यसे मुक्त करती हुई आत्माके साथ एकतानता प्रदान करती है। परमात्मामें विलीनबुद्धि साधक ही निःश्रेयस लाभ करता है। ज्ञान प्रकाशमय है, चाञ्चल्य उस प्रकाशको

ढकके आत्मोन्नतिके पथको रोक देता है। इसीप्रकार चञ्चलता शरीरकी हो चाहे मनकी हो, चाहे बुद्धिकी हो, चञ्चलता होतेही ज्ञाननाश होनेका कारण बन जाता है और हृदयमें आत्म-चैतन्यप्रकाशका अवसर रुक जाता है। अस्तु, किसी प्रकारका चाञ्चल्य जब तक रहेगा तब तक मुक्तिका द्वार बन्द रहेगा और धैर्यके प्रकट होते ही मुक्तिका द्वार खुल जाता है। सुतरां जितना जितना चाञ्चल्य साधकमेंसे घटता जायगा उतना उतना धैर्य उसमें प्रकट होते रहनेसे उसका अन्तःकरण लयोन्मुख होता रहेगा इसमें सन्देह नहीं। उसी प्रकार मुमुक्षु साधक कर्म, उपासना और ज्ञानयोगकी सहायतासे त्रिविध शुद्धिसम्पादन करता हुआ जितना अपने अज्ञानको दूर करके ज्ञानज्योतिका विकाश अपने हृदयमें करता जायगा उतना ही वह भाग्यवान् साधक मुक्ति-भूमिकी ओर अग्रसर होता जायगा। मनविक्षेप और आवरण ये तीनोंहीं मुक्तिपदके बाधक हैं। चाञ्चल्य और अज्ञानसे यह तीनों ही बढ़ते रहते हैं और धैर्य और ज्ञानके द्वारा इन तीनोंका नाश हो जाता है। वस्तुतः जितना-जितना धैर्य और ज्ञान साधक प्राप्त करेगा उतनाही वह साधक कैवल्यभूमिमें अग्रसर हो सकेगा। अतः सिद्धान्त यही हुआ कि चाञ्चल्य और अज्ञानसे सृष्टिप्रवाह बढ़ता है, ज्ञान और धैर्यसे सृष्टिप्रवाहकी निवृत्ति होकर लयरूपी मुक्ति-पदका उदय होता है॥ २२॥

अब साधनकी निष्पत्ति कही जाती है :—

प्रवृत्ति और निवृत्तिके अवलम्बनसे वह हुआ करती है ॥२३॥

प्रवृत्ति और निवृत्तिके द्वारा साधन निष्पत्ति हुआ करती है। साधनमार्ग दो प्रकारका है, यथा—प्रवृत्ति यह साधन और निवृत्ति यह साधन। प्रथम, कामना सम्पर्क युक्त है और द्वितीय निष्कामभाव मूलक है। जितने प्रकारके साधन हैं, वे सव दो श्रेणीमें विभक्त किये जासकते हैं, एक श्रेणीके साधन प्रवृत्तिको साथ लेकर चलते हैं और दूसरे श्रेणीके साधन निवृत्तिको साथ लेकर चलते हैं। यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि सृष्टिको निवृत्तिकारक और लयकी ओर लेजानेवाली जो क्रिया वही साधन कहावेगा परन्तु अभ्युदयका राज्य दो भागमें विभक्त है, एक शुद्ध सत्वमय और रजसत्वमय। रजसत्वमय जो धर्म्माधिकार है उससे इहलौकिक अभ्युदय और पारलौकिक अभ्युदयकी प्राप्ति होती है और शुद्धसत्वमय धर्म्माधिकारोंसे निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है। इसकारण पूज्यपाद महर्षि कणादने कहा है—"यतो ऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः" अर्थात् जिससे अभ्युदय अथवा निःश्रेयसकी प्राप्ति हो उसे धर्म कहते हैं। इसीक्रमके अनुसार साधनकी भी दो श्रेणियाँ है, जवतक साधकमें सत्वगुणके साथ रजोगुणका सम्वन्ध वना रहता है तवतक उससे प्रवृत्तिपर साधन होता है। और जवतक साधकका अन्तः करण शुद्ध सत्वगुणमें

प्रवृत्तिनिवृत्त्यनवलम्बनात् ॥ २३ ॥

पहुँच जाता है, तब वह साधक निवृत्तिपर साधनोंका अधिकारी वन जाता है। इसीकारण साधन अधिकारको पूज्यपाद सूत्र-कारने दो श्रेणीमें विभक्त किया है।

> द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भातः।
> क्रियापथश्चैव पुरस्तात् सन्न्यासश्च।
> प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।
> पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते॥

प्रवृत्तिके द्वारा अभ्युदय और परम्परारूपसे निःश्रेयस लाभमें सहायता हुआ करती है एवं निवृत्ति साक्षात् निःश्रेयसकर है। वैदिक विज्ञानानुमोदित कौशल अवलम्वन करते हुए नियमित साधनका अनुष्ठान करनेपर उभयमार्गोंसे ही परमकल्याण संसाधित होसकता है। इसकारण ही दोनोंकेद्वारा साधन-निष्पत्ति हुआ करती है। इसीकारण श्रुतिस्मृतिने भी इन दोनों मार्गोंका उपदेशविधान किया है॥ २३॥

द्विविध साधनोंके ही परिणामके विषयमें कहा जाता है:—

दोनोंमें त्रिविध शुद्धि होनेपर भी विघ्नोंके तारतम्यानु-सार प्रथम गौण और दूसरा मुख्य है॥ २४॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति उभयप्रकारके साधनोंके द्वारा ही साधक त्रिविध शुद्धि लाभ करसकता है। केवल प्रवृत्तिमार्गके विघ्नवहुल

उभयत्र त्रिविधशुद्धावयविप्रत्यूहतारतम्याच्च गौणी मुख्याऽपरा तु॥ २४॥

होनेसे उसके साधन गौण हैं एवं निवृत्तिमार्ग सरल होनेसे मुख्य है। यह पहले ही प्रतिपादित हुआ है कि प्रकृतिके साथके सम्बन्धके तारतम्यानुसार भावातीत परमात्मा तीन भावसे परिलक्षित होते हैं। परमात्माका प्रकृतिसे अतीत भाव है वही अध्यात्मभाव है, प्रकृतिके साथ ईक्षणद्वारा सम्बन्ध युक्त भाव ही अधिदैव भाव है, एवं प्रकृतिवैभव विलासमय स्थूलभाव ही अधिभूतभाव है। इन्हीं भावत्रयको यथाक्रम ब्रह्मभाव, ईश्वरभाव और विराट्भाव भी कहा जाता है। कारण ब्रह्ममें उल्लिखित भावत्रयकी विद्यमानताके कारण कार्यब्रह्मरूपी इस सृष्टिके प्रत्येक अङ्गमें ही तीन भाव देखे जाते हैं। जो पूर्णद्रष्टा होता है वह प्रत्येक वस्तुको तीन भावसे ही देखता है। स्मृतिशास्त्रमें यह भावत्रयविज्ञान विशेष-रूपसे प्रकाशित हुआ है। यथाः—पादेन्द्रिय अध्यात्म, गन्तव्य अधिभूत और विष्णु उसके अधिदैव हैं। पाणीन्द्रिय अध्यात्म, कर्त्तव्य अधिभूत एवं इन्द्र अधिदैव हैं। वागिन्द्रिय अध्यात्म,

पादावध्यात्ममित्याहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः।
गन्तव्यमधिभूतं च विष्णुस्तत्राऽधिदैवतम्॥
चक्षुरध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः।
रूपमत्राधिभूतन्तु वह्निस्तत्राऽधिदैवतम्॥
हस्तावध्यात्ममित्याहुर्यथासंख्यानदर्शिनः।
कर्त्तव्यमधिभूतन्तु इन्द्रस्तत्राऽधिदैवतम्॥
वागध्यात्ममिति प्राहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः।
वक्तव्यमधिभूतन्तु वह्निस्तत्राऽधिदैवतम्॥

मनोऽध्यात्ममिति प्राहुर्यथा शास्त्रविशारदाः ।
मन्तव्यमधिभूतन्तु चन्द्रमाश्चाऽधिदैवतम् ॥
बुद्धिरध्यात्ममित्याहुर्यथावदभिमर्शिनः ।
बोद्धव्यमधिभूतन्तु क्षेत्रज्ञश्चाऽधिदैवतम् ।

वक्तव्य अधिभूत और अग्नि अधिदैव हैं। मन अध्यात्म, मन्तव्य अधिभूत और चन्द्रमा अधिदैव हैं। बुद्धि अध्यात्म, बोद्धव्य अधिभूत एवं क्षेत्रज्ञ अधिदैव हैं।

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थमें ही तीन भाव विद्यमान हैं एवं प्रत्येक पदार्थमें पूर्णता इन त्रिविधभावोंकी पूर्णता द्वारा ही संसाधित होती है। इसीकारण कार्य्यब्रह्मके प्रधान अङ्गभूत मनुष्यके शरीरमें भी उल्लिखितभावत्रय विराजमान हैं, यह निःसन्देह है। अतएव मनुष्यकी पूर्णता और मुक्ति अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत नामक त्रिविध भावोंकी शुद्धि और पूर्णता द्वारा संसाधित हो सकती है अन्यथा नहीं। इस दर्शनमें साधनमार्गको द्विधा विभक्त करके विघ्नसमूहकी बहुलता या अल्पताके कारण प्रवृत्तिमार्गकी गौणता एवं निवृत्तिमार्गकी मुख्यता प्रख्यापित होनेपर भी उभयके द्वारा ही त्रिविध शुद्धि सम्पादित होकर साक्षात् या परम्परारूपसे अपवर्गलाभ होता है यही विवृत हुआ है।

विना त्रिविध शुद्धिके साधनकी सिद्धि नहीं हो सकती और न साधक साधकही कहा सकता है। तीनों शुद्धिका सम्बन्ध रहनेसे ही साधक क्रमोन्नति कर सकता है अन्यथा नहीं। अध्यात्म-

शुद्धि द्वारा बुद्धि, अधिदैव शुद्धिद्वारा मन और अधिभूत शुद्धि-द्वारा शरीर क्रमशः सत्त्वगुणमय होता है। अध्यात्मशुद्धिद्वारा आवरणका नाश अधिदैवशुद्धिद्वारा विक्षेपका नाश और अधि-भूत शुद्धि द्वारा मलका नाश क्रमशः हुआ करता है। इसप्रकारसे क्रमोन्नतिकी शैली इन श्रेणीके साधनोंमें वनी रहती है।

केवल भेद इतना ही है कि रजोगुणका सम्वन्ध रहनेसे एक गौण है और शुद्धसत्वगुणका सम्वन्ध रहनेसे दूसरा मुख्य है, प्रवृत्तिमार्ग वासनावासित होनेसे नितरां पङ्किल है एवं इसमें पुनः पुनः पदस्खलनकी सम्भावना रहती है; किन्तु निवृत्तिमार्गमें वासनाका गन्धलेश न रहनेसे वह निर्बाध और सरल है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु त्रिविधशुद्धि दोनों मार्गके साधनोंमे ही होती है, भेद इतना ही है कि प्रवृत्तिमें त्रिविध शुद्धि पराकाष्ठाको नहीं पहुंचाती है और निवृत्तिमें वे तीनों शुद्धियां पूर्णताको प्राप्त हो सकती हैं। इसी विज्ञानकी पुष्टिकेलिये इस सूत्रमें, अपि-शब्द-का प्रयोग किया गया है॥ २४॥

साधककी सहायताकेलिये निवृत्तिमार्गमें त्रिविधशुद्धिका स्वरूप कहा जाता है—

निवृत्तिमार्गमें स्वाध्याय, उपासना एवं कर्मयोगके द्वारा त्रिविध शुद्धि होती है॥२५॥

निवृत्तिपथप्रयाणशील साधक स्वाध्याय उपासना एवं कर्म-

निवृत्तौ स्वाध्यायोपासनाकर्मयोगैस्त्रिविधशुद्धिः॥२५॥

योगके अवलम्बनसे त्रिविध शुद्धि-सम्पादन करनेमें समर्थ हुआ करता है। वेद और तदनुमोदित अध्यात्मशास्त्रसमूहका मननके साथ अध्ययन स्वाध्याय है। योग एवं भक्तिकी सहायतासे भगवत्‌सान्निध्यलाभके अर्थ जो यत्न उसको उपासना, कहते हैं। वेद और तत्सम्मतशास्त्रोंके द्वारा विहित कर्म-समूहका निष्काम अनुष्ठान कर्मयोग है। कर्म, उपासना एवं स्वाध्यायप्रसूत ज्ञानके द्वारा साधककी त्रिविध शुद्धि होकर मुक्ति होती है। परमात्माकी सत्, चित्, और आनन्दसत्ता प्रकृतिमें सर्वत्र व्याप्त रहनेसे प्रत्येक जीवके जीवत्वके साथ उसका विशेष सम्बन्ध है, किन्तु अविद्याका आवरण ही जीवत्वका निदान होनेसे जीवभावमें यह त्रिविध सत्ता प्रच्छन्न रहती है। अविद्याके आवरणके मोचनके साथ साथ सत्, चित्, एवं आनन्दसत्ता क्रमविकाशको प्राप्त होती है एवं जब यह आवरण पूर्णतया उन्मुक्त होकर जीवभावका नाश होता है तबही साधक सच्चिदानन्दस्वरूप हो सकता है। इसी आवरणके मोचन करनेके अर्थ जो यत्न हो उसे साधन कहा जाता है। सच्चिदानन्द परमात्मा स्वयंप्रकाश हैं उनको प्रकाश करनेकेलिये अन्य उपायकी आवश्यकता नहीं होती है। केवल प्रकाशबाधक आवरण दूरीभूत करनेसे ही मेघमुक्त दिवसकी तरह सच्चिदानन्दसत्ताकी उपलब्धि हुआ करती है। साधनका प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग विविध विधियोंके उपदेशद्वारा अविद्यान्धकारको साधकके चित्तसे अपसारित करता हुआ उसको उन्नतिकी ओर अग्रसर करता है। इस सूत्रसे

निवृत्तिमार्गकेद्वारा त्रिविध शुद्धिका उपाय वर्णित हुआ है। शारीरिक मल दूर होना आधिभौतिक शुद्धिका फल है, मनका विक्षेप दूर होना अर्थात् मनका चाञ्चल्यघटना आधिदैविक शुद्धिका फल है, और बुद्धिपरका आवरण क्रमशः दूर होकर नष्ट हो जाना आध्यात्मिक शुद्धिका फल है। तीनों साथ ही साथ, होते रहते हैं और साधनमें सफलता होती है। निवृत्तिमार्गमें कर्म उपासना एवं ज्ञानके द्वारा त्रिविध शुद्धि होती है।

यथा स्मृतिमें कहा है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योस्ति कुत्रचित्॥
मार्गास्त्रयो मे विख्याता मोक्षप्राप्तौ नगाधिप!।
कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च सत्तम!॥

कर्मके द्वारा अधिभूतशुद्धि, उपासनाकेद्वारा अधिदैवशुद्धि, एवं ज्ञानकेद्वारा अध्यात्मशुद्धि सम्पादितहोने पर साधक सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाता है। पुनः उसको जीवत्वका वन्धन नहीं रहता है। कर्मके साथ स्थूलजगत्का सम्बन्ध रहनेसे निष्काम कर्मद्वारा परमात्माकी सत्-सत्ताकी उपलब्धि होती है। निष्काम कर्मयोगी साधक अपनी सत्ताको धीरे धीरे विस्तार करता हुआ परमात्माकी विश्वव्यापिनी सत्-सत्ताके साथ एकीभूत करता है, उसका जीवन विश्वजीबनके साथ मिल जाता है। भगवान्के विराट् आधिभौतिक भावको वह उक्त प्रकारसे अनुभव करता है। उपासनाके साथ परमात्माके आनन्दभावका विशेष-

सम्बन्ध रहनेसे योगा भक्त विषयानन्दसे विरत होकर संसार-तरुके मूलकारण आनन्दकन्द भगवान्के ही चरणकमलोंकी शरण होता हुआ उनकी व्यापक अधिदैवभावमय आनन्द-सत्ताकी उपलब्धि करता है। ज्ञानके साथ परमात्माकी चित्सत्ताका सम्बन्ध होनेसे साधक स्वाध्यायके वलसे वेदादि ज्ञानगर्भशास्त्रोंका गम्भीरतत्त्व हृदयङ्गम करता हुआ पूर्ण-ज्ञान प्राप्तकर अध्यात्मभावमय चित्भावकी उपलब्धि करता है। इसप्रकार कर्मयोगद्वारा आधिभौतिक शुद्धि, उपासनाके द्वारा आधिदैविक शुद्धि एवं स्वाध्याय द्वारा आध्यात्मिक शुद्धिलाभ करता हुआ त्रिविधभावमय सच्चिदानन्दकी उपलब्धि करके साधक निःश्रेयस पदवीपर प्रतिष्ठित होता है ॥ २५ ॥

प्रवृत्तिमार्गमें त्रिविध शुद्धिका स्वरूप वर्णन किया जाता है :-

अन्यमार्गमें अध्यात्मचिन्तन, शक्तिपूजन एवं भावशुद्धि द्वारा होता है ॥ २६ ॥

प्रवृत्तिमार्गमें अध्यात्मविचार, शक्तिपूजा एवं भावशुद्धि द्वारा त्रिविध शुद्धि सम्पादित हुआ करती है। समस्त कार्योंकी अध्यात्मिक कारणान्वेषण प्रवृत्तिका नाम अध्यात्म-चिन्तन है। जिस-प्रकार ब्रह्म, ईश्वर और विराट् इन तीनों भावोंमेंसे ब्रह्मभाव अन्यभावोंका कारण होनेसे आध्यात्मिक कहलाता है, उसी-प्रकार सब पदार्थोंमें और सब कार्योंमें उनके मूलकारण अध्यात्म-भावकी ओर साधकका लक्ष्य सदा बने रहनेसे साधकके क्रमो-

---

अध्यात्मचिन्तन-शक्तिपूजनभावशुद्धिभिरितरत्र ॥ २६ ॥

न्नतिमें कुछभी वाधा नहीं रहती और सर्वकारण कारणरूपी परमात्माकी ओर उसकी गति सदा वने रहनेके कारण उसके अन्तःकरणमें प्रवृत्ति मार्गके अधिकारका लोप होकर स्वतः ही उसका अन्तःकरण निवृत्तिभूमिमें पहुँच जाता है। इसीकारण अध्यात्मचिन्तनका अधिकार सर्वोपरि है। यही कारण है कि शास्त्रोंमें कहा है जिस मनुष्यजातिमें अध्यात्म-चिन्तन सर्वोपरि माना जाता है, वही मनुष्यजाति आर्यजाति कहलाती है। धर्म्म-शक्ति जीवकी जीवनधाराको नियमित करके जगत्के आदि-कारण सच्चिदानन्दसमुद्रकी ओर प्रवाहित करती है, इसीकारण मनुष्यके प्रत्येक आचार, व्यवहार और कार्य्यकलापोंमें भी आध्यात्मिक सम्बन्ध विद्यमान है। प्रत्येक कार्य्यही धर्म्मभावके विरुद्ध अनुष्ठित होनेपर अधोगतिका एवं प्रकृति-प्रवाहके अनुकूल होनेपर मुक्तिका कारण होता है, जैसे वीजमें वृक्षकी पूर्णशक्ति रहती है, वैसेही प्रत्येक कार्य्यमें भी मोक्षप्रदायिनी शक्ति निहित है, उसके तत्त्वका अनुसंधान करते हुए आत्मोन्नति करनाही अध्यात्म-चिन्तन है, इसके द्वारा अध्यात्मशुद्धि होती है। श्रीभगवान्के स्थूल-सूक्ष्म-शक्तिसमूहकी इष्टसम्वन्धसे पूजा करनेका नाम शक्तिपूजन है। शक्तिमान् ब्रह्म औरब्रह्म शक्तिमें कुछ भी भेद नहीं है, यह तो इसी दर्शनविज्ञानसे सिद्ध है। जवतक साधकका अन्तःकरण ब्रह्मभावसे भावित न हो तवतक साधक प्रवृत्तिमार्गमें चलता हुआ ब्रह्मकी त्रिविध शक्ति, सप्तविध शक्तिविशेष विभूति आदिके अवलम्वन द्वारा अपने अन्तःकरणमें शक्तिलाभ करके अपने चित्त-

विक्षेपको दूर करता हुआ अपने अन्तःकरणको योगयुक्त कर सकता है। शक्तिकी उपासनाद्वारा शक्तिलाभ होता है। अन्तःकरणके शक्तियुक्त होनेसे चित्तवृत्ति निरोध करनेकी योग्यता प्राप्त होती है और इस योग्यता द्वारा साधकका अधिदैव सिद्धि प्राप्त करना स्वतः-सिद्ध है। सर्व-व्यापक सर्व-शक्तिमान् भगवान्‌की शक्तिके सर्वतो-व्याप्त होनेपर भी केन्द्रभेदसे उसका विशेषविकाश हुआ करता है। इसप्रकारसे विकाश प्राप्त दैवी शक्ति देव-देवीरूपसे जगती-तलमें बहुधा फलदायिनी होती है, उनके प्रति पूज्यत्व-बुद्धिके द्वारा अधिदैव शुद्धिलाभ होता है।

नैसर्गिक तीव्रवासनासे प्राप्त भोग्यवस्तुका भावशुद्धिके द्वारा सदुपयोग करनेपर भावशुद्धि होती है। वासनाका धर्म यह है कि चित्तको पुनःपुनः वासित करके मनुष्यको अधिक-रूपसे संसारपङ्कमें निमग्न करती है, इसीकारण वासनाशील जीव भोगकेद्वारा वासनाकी निवृत्ति नहीं कर सकता है, वह घृताहुत वह्निकी तरह पुनः बढ़ती ही जाती है। इसकारण सुकौशलपूर्ण साधनाका अवलम्बन किये विना नैसर्गिक वासना-परायण मनुष्यकी उन्नति नहीं होती है। यह साधनाही साधन-राज्यमें भावशुद्धि नामसे कही जाती है। आसक्ति और भावके विषयमें पहलेही बहुत कुछ कहा गया है। उसके अनुसार आसक्ति-त्यागपूर्वक भावशुद्धिकी वृद्धि करनेसे अवश्यही कल्याणकी प्राप्ति होगी यह पहले ही कह चुके हैं। दृष्टान्त दिया जाता है कि यदि भाग्यवशात् किसी उपादेय भोज्यवस्तुकी प्राप्ति होतो उसको

लोभपूर्वक रसनाकी तृप्तिके अर्थ भोगकरनेसे वासनाकी वृद्धि और बन्धन होगा। किन्तु वह भोज्य-वस्तु यदि भगवान्को अर्पण करके उनके प्रसादरूपसे भोजन किया जाय अथवा अतिथिको प्रदानकरके यज्ञावशेषरूपसे ग्रहण किया जाय तो धीरे-धीरे वासनाकी निवृत्ति हो सकती है। उस भोज्यवस्तुका उपभोग बन्धनका कारण नहीं होगा। वह भावशुद्धिके बलसे मुक्तिका ही सहायक होगा। इसप्रकार प्रारब्ध-लब्ध वासनाबीजमय सकल वस्तुओंके प्रति भावशुद्धिका उपयोग होनेपर आधि-भौतिक शुद्धिलाभ होता है। जैसे श्रुति और भी स्मृतिमें कहा है :—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्, इति श्रुतिः।

अर्थात् पृथिवीमें जो कुछ चर अथवा अचर वस्तु है, वह सब परमात्मासे परिव्याप्त है, अर्थात् आच्छादित है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
अहमात्मा गुड़ाकेश सर्वभूताशया स्थितः।
अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति॥

अर्थात् सर्वभूतोंमें स्थित मुझको जो अद्वैतरूपसे भजता है

वह सब तरहसे वर्तमान रहने पर भी मुझको प्राप्त होता है। सब भूतोंके अन्तःकरणमें अव स्थित मैं ही आत्मा हूँ, मैंही सबभूतोंका आदि मध्य और अन्त हूँ। जब भूतके पृथक् पृथक् भावको तथा उनके विस्तारको एक रूपसे देखता है तब ब्रह्मको प्राप्त होता है। सबभूतोंमें स्थित आत्माको तथा सबभूतोंको आत्मामें देखकर आत्ममन्त्री स्वाराज्य अर्थात् स्वरूपको प्राप्त होता है। उपरलिखित श्रुति-स्मृति-प्रमाणद्वारा अध्यात्मचिन्तन विषयक विज्ञानकी पुष्टि होती है। शक्तिपूजनके विषयमें भी निम्नलिखित स्मृतिप्रमाण द्वारा इस विज्ञानकी दृढ़ता होती है।

यथा—

अहं हि कारणं ब्रह्म कार्य्यं ब्रह्मास्मि चाप्यहम्।
देवाः! कारणरूपेण सच्चिदानन्दमप्यहम्॥
भूतैकादशसत्तायां भासमाना भवामि वै।
सत्सत्ता परिविस्तृत्या ह्यहमेव पुनः सुराः!॥
अहं ममेतिवत् द्वैतभावश्चैव विभर्म्यहो।
सदा ममैव चित्सत्ता पुरुषे प्रकृतौ तथा॥
सत्सत्ता प्रकटीभूय निश्चितं विबुधर्षभाः!।
जगदानन्दसत्तायाः विलासं सृजतः स्वयम्॥
तदाहमेव भूत्वा वै पुरुषो वीजदस्तथा।
प्रकृतिक्षेत्ररूपास्मि कार्य्यब्रह्मणि भासिता॥

हे देवतागण! मैं ही कारणब्रह्म हूं और मैं ही कार्य्यब्रह्म हूं। कारणरूपसे मैं ही सच्चिदानन्दमयी होकर एक अद्वैतसत्तामें

भासमान होती हूं। पुनः मैं ही मेरी सत्सत्ताके विस्तारद्वारा अहंममेतिवत्-द्वैतभावको धारण करती हूं। उससमय मेरीही चित्सत्ता पुरुषरूपमें और मेरीही सत्सत्ता प्रकृतिरूपमें प्रकाशित होकर आनन्दसत्ताके विलासरूपी इस जगतको स्वयं प्रकट करती है। हे देवगण! यह निश्चय है। उससमय मैं ही बीज-दाता पुरुष और मैं ही क्षेत्ररूपिणी प्रकृति बनकर कार्य्यब्रह्मरूपमें भासमान होती हूँ।

कार्यब्रह्म स्वरूपेऽत्र विश्वस्मिन् जङ्गमे मम।
वर्तते चिद्विलासस्तु स्थावरे सद्विलासिता॥
ममानन्दविलासोऽसौ व्याप्नुवन् सच्चिदन्तरम्।
मयैव परमानन्दसत्तां समनुभावयेत्॥
शक्ति-शक्तिमतो भेंदे तत्त्वज्ञानविवर्जिताः।
बालिशा एव पश्यन्ति न तत्त्वज्ञानिनो जनाः॥
अभेदज्ञानसम्पन्नाः शक्तेः शक्तिमतस्तथा।
तत्त्वज्ञाननदीष्णाता ज्ञानाब्धिपारदर्शिनः॥

कार्यब्रह्मरूपी इस जगत्में जङ्गममें चिद्विलास और स्थावरमें मेरा सद्विलास रहता है। मेरा आनन्दविलास दोनोंमें व्याप्त रहकर मेरीही परमानन्दका अनुभव कराता है, शक्ति और शक्तिमान्में भेद तत्त्वज्ञानविहीन मूर्ख जीवही समझते हैं, परन्तु ज्ञानिगण नहीं समझते हैं। शक्ति और शक्तिमान्में अभेदज्ञान करनेवाले ज्ञानपारंगत तत्त्वज्ञानी महापुरुष भेद नहीं मानते हैं।

संक्षेपतोऽधुना देवाः ! वर्णिता मद्विभूतयः
त्रिविधाः सप्तधा चैव मया युष्माकमन्तिके ।
सर्वस्थानेष्वहं नूनं राज्ययोः स्थूलसूक्ष्मयोः
सप्तभेदैस्त्रिभेदैश्च प्रकटत्वं गतास्म्यहो ॥
भेदत्रयानुसाराच्च सप्तभेदानुसारतः ।
देशे काले च सर्वत्र द्रष्टुमीष्टे हि यश्च माम् ॥
ज्ञानी भक्तः स एवाशु मां प्राप्नोति न संशयः ।
प्राप्यैव मां निमज्जेच्च परमानन्दसागरे ॥
मत्सर्वव्यापकाखण्ड-सत्ता नैवानुभूयते ।
यावत्कालमहो देवाः ! तावत् कालं ममैव हि ॥
शक्तिप्रकाशवैशिष्ट्यात् विशिष्टानाञ्च दर्शनम् ।
विभूतीनां विधायाथ यूयं स्मरत मामलम् ॥

हे देवतागण ! आपके समीप मैंने संक्षेपसे अपनी त्रिविध और सप्तविध विभूतियोंका अभी वर्णन किया है। अहो ! मैं ही स्थूल और सूक्ष्म-राज्यके सब स्थानोंमें त्रिभेद और सप्तभेदसे प्रकट हूं। जो मुझको सबदेश और सबकालमें त्रिभेद और सप्तभेदके अनुसार देखनेमें समर्थ होता है वही ज्ञानी भक्त निःसन्देह शीघ्र मुझको प्राप्त कर लेता है और मुझको प्राप्त करकेही परमानन्द-सागरमें निमज्जन करता है। हे देवतागण ! जबतक मेरी सर्वव्यापक अखण्डसत्ताका अनुभव न हो तबतक मेरी विशेष-विशेष विभूतियोंके दर्शन करके आपलोग भलीभाँति मेरा स्मरण किया करो। भावशुद्धिके विषयमें स्मृतिमें कहा है कि:—

शुद्धो भावः क्रमाच्चित्तं कुर्वाणो निर्मलं तथा ।
बुद्धिं ब्रह्मपदं नूनं नयंच्छान्तिं प्रयच्छति ॥
एकाद्वैतदशां नेतुमिष्टेऽसौ नात्र संशयः
यतो ब्रह्मपदं विज्ञाः ! विद्यतेऽद्वैतमेव हि ॥
सम्बन्धेन मया सार्द्धं सद्भावेन तु संयुतः ।
यत् कर्म्म कुरुते जीवः सततं भावशुद्धितः ॥
हेतुतां वहते विज्ञाः ! मुक्तेस्तत्कर्म निश्चितम् ॥
पापकर्माण्यतः पुण्यं सद्भावेन समन्वितम् ।
एष मे निश्चयो विज्ञाः ! एषा मे धारणाऽस्त्यलम् ॥

अर्थात् शुद्धभाव क्रमशः अन्तःकरणको मलरहित करता हुआ बुद्धिको ब्रह्मपदमें पहुँचाकर ही शान्तिप्रदान करता है। वह एक अद्वैतदशाको प्राप्त करा सकता है, इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि हे विज्ञो ! ब्रह्मपद अद्वैत ही है। सद्भाव जिसका सम्बन्ध मेरे साथ है, उसके साथ युक्त होकर निरन्तर भावशुद्धि द्वारा जो कर्म जीव करता है वह कर्म अवश्यही मुक्तिका कारण होता है। इस कारण सद्भावयुक्त पापकर्म भी पुण्य हो जाता है। हे विज्ञो ! यह मेरा निश्चय है, यही मेरी धारणा है। इसप्रकारसे अध्यात्म-चिन्तन, शक्तिपूजन एवं भावशुद्धिकेद्वारा प्रवृत्तिमार्गपरायण साधक धीरे धीरे उन्नतिलाभ करते रहते हैं॥ २६॥

प्रवृत्तिमार्गके अवलम्बनसे त्रिविध शुद्धिलाभका फल क्या है ? वह कहा जाता है—

इसके द्वारा वह प्राप्त की जाती है ॥ २७ ॥

प्रवृत्तिके वैधसेवनसे साधक निवृत्तिलाभ करनेमें समर्थ होता है। निवृत्तिमार्गके अवलम्बनसे साधक पराभक्ति लाभ करता हुआ साक्षात्‌रूपसे निःश्रेयसपदवीको प्राप्त हो सकता है, वह वासनागन्धलेशविहीन होनेसे जीवके जीवत्वपरिहारमें अनायास ही साक्षात् हेतुभूत होता है। परन्तु प्रवृत्तिपथमें इस-प्रकारकी सुविधा नहीं पायी जाती। प्रवृत्तिमें स्वाभाविकी वासना-प्रवणता रहनेसे सावधानतापूर्वक वैध आचरण न होनेपर नैसर्गिकी वासना क्रमशः बलवती होकर जीवकी अधोगति करती है। इसकारण प्रवृत्तिपथके अधिकारी साधकको गुरू-पदिष्ट पथानुसार इसप्रकारके भावसे कर्म करना होता है जिससे धीरे-धीरे वासनाका तिरोधान हो। यही पूर्वसूत्रमें अध्यात्मचिन्तन, शक्तिपूजन और भावशुद्धि नामसे आख्यात हुआ है। उक्त उपायत्रयके अवलम्बनसे त्रिविध शुद्धि-सम्पादित होनेपर प्रवृत्तिमार्गीय साधक भी निवृत्तिपथका अधिकारी होकर अमृतत्व लाभकर सकता है। इसकारण ही उपनिषदोंमें और भगवान् मनुने भी कहा है कि

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥
"तेषु सम्यक् वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम्।"

एतया तल्लाभः ॥ २७ ॥

विधिविहित साधनाके द्वारा हृदयकी वासनाग्रन्थिके भेदन होनेसे ही मर्त्य जीव अमृतत्वलाभ कर सकता है।

अध्यात्मचिन्तन करते करते साधकका चित्त क्रमशः अध्यात्मभावापन्न होता हुआ अपने आवरणको दूर करता हुआ तत्त्वज्ञानका अधिकारी वन जाता है। इसप्रकारसे उसको स्वतः ही निवृत्तिमार्गके उपयोगी ज्ञानका अधिकारप्राप्त हो जाता है। शक्तिपूजन द्वारा भगवद्‌शक्तिके आश्रयसे साधकका अन्तःकरण जव शक्तिमय हो जाता है तो स्वतः ही वह योगयुक्त शक्तिमान् अन्तःकरण जीवस्वभाव सुलभ विक्षेपसे रहित होकर निवृत्ति-मार्ग उपयोगी उपासना और भक्तियोगका अधिकारी वन जाता है। उससमय अपने आपही उस उन्नत साधकमें चित्तवृत्ति-निरोधकी शक्ति उत्पन्न हो जाती है और चित्तवृत्ति-निरोधकी शक्तिही उपासना-योगका चरमफल है और भावशुद्धि तो कालरूपी अन्धकारको दूर करनेके लिये सूर्य्यके तुल्य है। गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेः ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

अर्थात् ज्ञानी भी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही चेष्टा करते हैं, सव भूत अपनी-अपनी प्रकृतिका अनुकरण करते हैं, ऐसी दशामें निग्रह किस प्रकार सम्भव है। अतः प्रकृतिके अनुसार वलपूर्वक आचरण करना जीवके लिये स्वतः सिद्ध है। इस बलवान् प्राकृतिकवेगसे साधक आत्म-रक्षा तभी कर सकता है जव वह अपनी प्रकृतिके

अनुसार कार्य तो करे परन्तु भावशुद्धि पूर्वक करे। भावशुद्धि द्वारा उस प्राकृतिकवेगसे साधक आत्म-रक्षा कैसे कर सकता है वह पूर्वही भलीभांति प्रमाणित हो चुका है। इसप्रकारसे अध्यात्म-चिन्तन, शक्तिपूजन और भावशुद्धिद्वारा प्रवृत्तिका साधन करता हुआ साधक अन्तमें निवृत्तिमार्गका अधिकारी स्वतः ही बन जाता है और निवृत्तिका फल पराभक्तिकी प्राप्ति और कैवल्य है॥ २७॥

दोनों मार्गोंका स्वरूप वर्णन किया जाता है :—

प्रवृत्ति नैसर्गिकी और निवृत्ति उसके विपरीत है ॥२८॥

मनुष्यकी प्रवृत्तिमार्गमें स्वभावसे ही गति होती है, परन्तु निवृत्तिका फल महान् है। वासना ही संसारका कारण है, जीव वासनाबद्ध होकर ही संसारमें सुख दुःख भोग किया करता है। कैवल्योपनिषद्में कहा है कि—जीवात्मा मायाद्वारा मुग्ध होकर शरीररूप उपाधिके संयोगसे सब कार्य्य ही किया करता है। जाग्रत्‌दशामें स्त्री अन्न पानादि विचित्रभोगोंके द्वारा उसकी परितृप्ति होती है। स्वप्नमें अपने ही मायाकल्पित लोकमें जाग्रदशागत-वस्तुसमूहका मानसिकभावसे भोग हुआ करता है। सुषुप्तिकालमें जाग्रदशागत वस्तुसमूहका विलय होजाने पर भी कारणशरीरमें अविद्यापरिच्छिन्न जीवको सुख भोग होता है। इसप्रकार मायाके संयोगसे जीवप्रवृत्तिकी नैसर्गिकी लीला श्रुतिमें वर्णित हुई है। कोई कार्य्य भी कामना न रहनेसे नहीं होता है,

नैसर्गिकी प्रवृत्तिस्तद्विपरीता निवृत्तिः ॥ २८ ॥

संसार कर्ममय है, इसकारण प्रवृत्ति स्वाभाविक है। प्रवृत्ति-मूलक अन्तर्निहित सुखेच्छा ही जीवको कर्ममय जीवलोकमें प्रेरणा किया करती है। संसारयात्रामें अनादिरूपसे वहनेवाली गतिके साथ इस प्रवृत्तिका सम्बन्ध रहनेसे यह स्वाभाविकी है। भगवान् मनुजीने कहा है कि :—

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥

स एव मायापरिमोहितात्मा
शरीरमास्थाय करोति सर्वम्।
स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः
स एव जाग्रत् परितृप्तिमेति॥
स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता
स्वमायया कल्पितजीवलोके।
सुषुप्तिकाले सकले विलीने
तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति॥

जगत्में कामनाविहीन लोगोंकी कहीं कोई भी क्रिया नहीं देखी जाती। जो कुछ कार्य्य देखा जाता है सबही कामनाके द्वारा प्रेरित है, इसमें सन्देह नहीं। इसप्रकार श्रुतिस्मृतिमें प्रवृत्तिका नैसर्गिकत्व वर्णित हुआ है; परन्तु प्रवृत्तिके स्वाभाविक होनेपर भी निवृत्ति महाफलप्रसविनी है। श्रुतिमें कहा है कि :—

न कर्मणा न प्रजया धनेन
त्यागेनैकेनाऽमृतत्वमानशुः।

कर्म, प्रजा वा धनकेद्वारा अमृतत्व की प्राप्ति नहीं होती है केवल त्यागके द्वाराही अमृतत्वप्राप्ति होती है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है कि—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

ज्ञानवान् लोगभी प्रवृत्तिके वशमें होकर तदनुरूप कार्य्य करते हैं। जीव प्रकृतिके ही स्रोतमें बहता रहता है, निग्रहसे क्या फल होगा ?

इन्द्रियस्येन्द्रियस्याऽर्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

यह बात करते ही परवर्त्ती श्लोकमें कहते हैं कि तो क्या प्रवृत्तिका दास बनना होगा ? कदापि नहीं। इन्द्रियसमूहका अपने अपने अनुकूल विषयमें राग एवं प्रतिकूलविषयमें द्वेष है, इनके वशवर्त्ती होना कदापि कर्त्तव्य नहीं है क्योंकि इस प्रकारका राग-द्वेष मोक्षमार्गका परिपन्थी (रोधक) है। मुमुक्षुको महाफला निवृत्तिही अनुसरणीय है। गीतामें कहा है कि इन्द्रियोंसे विषयों-के संस्पर्शद्वारा उत्पन्न सब प्रकारके भोग दुःखप्रदान ही करते हैं, वे आदि-अन्त-विहीन केवल मध्यमें उत्पन्न होनेवाले क्षणिक सुखदमात्र हैं, इसकारण विवेकीजन इसप्रकारके सुखमें मुग्ध नहीं होते हैं। जो आजन्म काम एवं क्रोधके वेगको धारण कर सकता है वही योगी है और वही सुखी है। मुण्डकोप-निषद्‌में कहा है कि—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाऽक्षयसुखस्यैते नाऽर्हतः षोडशीं कलाम् ॥
चित्तप्रसादेन यतिर्जहातीह शुभाऽशुभम् ।
प्रसन्नाऽत्माऽत्मनि स्थित्वा सुखमत्यन्तमश्नुते ॥
निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतां रतिः ।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः ॥
सुखाद्बहुतरं दुःखं जीविते नाऽत्र संशयः ।
स्निग्धत्वं चेन्द्रियार्थेषु मोहान्मरणमप्रियम् ॥
परित्यजति यो दुःखं सुखं वाऽप्युभयं नरः ।
अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं तं न शोचन्ति पण्डिताः ॥
अन्तो नाऽस्ति पिपासायास्तुष्टिस्तु परमं सुखम् ।
तस्मात्सन्तोषमेवेह धनं पश्यन्ति पण्डिताः ॥
सञ्चिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम् ।
व्याघ्रः पशुमिवाऽऽसाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥
तथाऽप्युपायं संपश्येद्दुःखस्य परिमोक्षणम् ।
अशोचन्नारभेच्चैव मुक्तश्चाऽव्यसनी भवेत् ॥
धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत्पाणिपादं च चक्षुषा ।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च विद्यया ॥
प्रणयं प्रतिसंहृत्य संस्तुतेष्वितरेषु च ।
विचरेदसमुन्नद्धः स सुखी स च पण्डितः ॥

महाभारतमें वर्णित है कि पृथ्वीमें जो कामजनित सुख है अथवा स्वर्गमें जो महत्सुख है, वह वासनाक्षयजनित सुखके

सोलह अंशोंमेंसे एक अंशके समान भी नहीं है। यतिगण चित्त-प्रसाद-लाभ-करके शुभाशुभका त्याग करते हैं एवं प्रसन्नात्मा होकर आत्मामें ही अवस्थिति करके परमानन्द लाभ करते हैं। ग्रामवासिगणकी जो तुच्छ ग्राम्यधर्ममें आसक्ति है वही संसार-बन्धनकी रज्जु-स्वरूपा है। पुण्यवान् पुरुष उस रज्जुको छिन्न कर सकते हैं किन्तु पापी उसको छिन्न नहीं कर सकते। संसारमें सुखकी अपेक्षा दुःख ही अधिक है, इसमें सन्देह नहीं। इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति, मोहवशात् मृत्युमें अनिच्छा और अप्रियता ये सबही दुःखप्रद हुआ करते हैं। जो सुख, दुःख इन दोनोंका त्याग कर सकता है वही आत्यन्तिक सुखरूप ब्रह्मानन्दलाभ करता है। पिपासाका अन्त नहीं है एवं तुष्टि परमसुख है इसकारण पण्डित-गण सन्तोषको ही श्रेष्ठ धन माना करते हैं। संसारमें आसक्तचित्त विषयसुखान्वेषी जीवको वासनाकी पूर्त्तिके पहले ही व्याघ्र जिस-प्रकार पशुको लेजाता है उसीप्रकार मृत्यु ग्रास करता है।

इसप्रकार विषयोंका सर्वथा दुःखमूलकत्व विचारकर निवृत्ति-पथावलम्बी होना उचित है। विचारवान् पुरुष धृतिके द्वारा शिश्नो-दरके वेगको धारण करते हैं, चक्षुद्वारा पाणि और पादेन्द्रियका, एवं विद्याकी सहायतासे मन और वाक्यका वेग-धारण करते हैं। इसप्रकारसे जो निवृत्तिमार्गपरायण होकर समस्त इन्द्रियोंका वेग रोकता हुआ स्तुति और निन्दामें समभावापन्न होकर विचरण करता है, वही सुखी है और वही पण्डित है, यही निवृत्तिका महा-फल है। तात्पर्य यह है कि जीवमात्रकी स्वाभाविक गति इन्द्रियों-

की ओर होनेके कारण और उनके चित्तका झुकाव स्वभावसिद्ध-रूपसे विषयोंकी ओर होनेके कारण प्रवृत्तिमार्ग स्वाभाविक है क्योंकि शास्त्रोंमें भी कहा है कि "प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला"।

अतः पहली दशामें जीवको प्रवृत्तिमार्गसे चलाकर ही आत्माकी ओर अग्रसर करना उचित है। यही कारण है कि वेदमें सकाम कर्मका ही अधिक वर्णन है। प्रथम शास्त्रविहित-प्रवृत्तिके अनुसार साधन करता-करता साधक अन्तमें महाफलरूपी निवृत्ति भूमिमें पहुँच जाता है। शुद्ध रजसे प्रवृत्ति होती है क्योंकि प्रवृत्ति रजोगुणका धर्म है। तमोगुण आलस्य प्रमाद और अज्ञानमय होनेके कारण साधनराज्यमें तमोगुणसे रजोगुण बहुत श्रेष्ठ है। 'सुतरां तामसिक अधिकारमें राजसिक अधि-कारकी प्रवृत्ति बढ़ानेसे वह अधिकारी अवश्य कुछ अध्यात्म-राज्यमें आगे बढ़ता है, उस साधकमें जड़ता घटकर चेतना बढ़ती जाती है। उसके अनन्तर जब कुछ राजसिक साधकमें पुनः सत्व-का अधिकार बढ़ा दिया जाता है तो वह साधक अध्यात्मराज्यमें क्रमशः अग्रसर होने लगता है। इसप्रकारसे तमोगुणके राज्यसे रजोगुणके राज्यमें और रजोगुणके राज्यसे रजःसत्वके राज्यमें और अन्तमें रजःसत्वके राज्यसे पूर्णसत्त्वके राज्यमें भाग्यवान् साधक पहुँचकर निवृत्तिमार्गका पूर्ण अधिकारी बनकर महाफल-रूपी आत्मपदको प्राप्त कर लेता है। इसीकारण पूज्यपाद सूत्रकारने कहा है कि—प्रवृत्तिमार्गके साधनद्वारा निवृत्तिमार्गका साधन-

पथ साधकको मिल जाता है। इस सूत्रके आविर्भावका यह भी कारण कहा जा सकता है कि यद्यपि साधनराज्यमें निवृत्तिका साधन ही साधककेलिये वाञ्छनीय है, परन्तु प्रवृत्तिमार्ग सम्बन्धीय साधन भी साधनमार्गमें उपेक्षणीय नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा पूर्ण निवृत्तिकी प्राप्ति अन्तमें हो जाती है, अतः वह अभ्युदयकारी है ॥२८॥

सब साधनकी पुष्टिके सम्बन्धसे अब साधकका अधिकार निर्णीत किया जाता है :—

कर्मसंगी अज्ञपुरुषोंका बुद्धिभेद अहितकर है ॥ २९ ॥

कर्ममार्गमें अनुरक्त अज्ञपुरुषोंका बुद्धिभेद करनेसे अमङ्गल हुआ करता है। साधनमार्गमें अधिकार प्राक्तनकर्मविपाकजनित होनेसे प्रवृत्तिपरायणता अथवा निवृत्तिबहुलता प्रकृतिगत हुआ करतो है। इसकारण पूर्वसंस्कारानुसार जिसकी जिस मार्ग-पर रुचि हो, उसमें हस्तक्षेप करनेसे अनिष्टफल उत्पन्न हुआ करता है, क्योंकि जिसकी जिस मार्गमें रुचि प्रकृतिगत हो उसका अधिकार तदपेक्षा भिन्न होना असम्भव होनेसे भिन्नपथानुगत उपदेश उसकेलिये हितकर न होकर अहित साधना ही करता है। योगदर्शनमें विज्ञानद्वारा यह प्रमाणित किया गया है कि जाति, आयु और भोग यह प्रारब्धकर्मसे उत्पन्न होते हैं, इसकारणसे तीनों निश्चित हुआ करते हैं। दूसरी ओर कर्ममीमांसाका यह

अहितं कर्मसंगिनामज्ञानां बुद्धिभेदात् ॥ २९ ॥

सिद्धान्त है कि प्रबल संस्कारसे उत्पन्न जो प्रकृति और स्वभाव होता है, वह बदला नहीं जा सकता, सुतरां जिस साधकमें प्रबल संस्कारजन्य जो प्रकृति और स्वभाव बना हुआ है और जिस जीवकी जो जाति है और जो प्रबल भोग हैं, उसके अनुसार उस अधिकारीमें अवश्य क्रिया होगी। अतः प्रबलसंस्कारजन्य-प्रवृत्ति और प्रकृतिके विरुद्ध उपदेश देनेपर बुद्धिभेद होना और अवनति होना निश्चित है। उसकी बुद्धि उन उपदेशोंको ग्रहणकरनेसे बुद्धिभेद होना और प्रकृति एवं साधनके अनुकूल न होनेसे अहित होना अवश्यम्भावी है।

पूर्वकर्मानुसार जो साधक प्रवृत्तिपरायण एवं सकाम कर्ममें आसक्त है, उसका उन्नतिसाधन करना हो तो उसको सकाम मार्गका ही उपदेश देकर भाव-शुद्धि आदि उपायोंके साथ क्रमशः निष्काम मार्गमें उसकी गतिका सन्निवेश करना विचारवान् ज्ञानी गुरुका कर्त्तव्य है। अन्यथा पूर्णरूपसे सकाम कर्मासक्त मनुष्यको निष्काम-मार्गका उपदेश करनेपर उसका बुद्धिभेद होगा एवं उससे उसका कुछभी उन्नतिसाधन न होकर अवनति ही साधित होगी। इसप्रकारसे वह "इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः" होकर अवनतिकर मूढ़ दशाग्रस्त होगा, इसमें सन्देह नहीं। इसकारण ही श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है कि—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
योजयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥

अज्ञ कर्मासक्त जनगणका बुद्धिभेद नहीं करना चाहिये।

विद्वान् पुरुष स्वयं अनुष्ठान करते हुए उनको स्वाधिकारानुरूप क्रमोन्नतिकर कर्ममार्गमें ही प्रवृत्ति कराते हैं, यही वेदानुमोदित सनातन पन्थ है ॥ २९ ॥

ऐसे अवसरमें क्या करना चाहिए उसका सिद्धान्तनिर्णय किया जाता है :—

तदुपयुक्त उपदेश कल्याणकर हुआ करता है ॥ ३० ॥

प्रवृत्तिपरायण जनके लिए अधिकारानुरूप उपदेश ही कल्याणप्रद हुआ करता है। निवृत्ति साक्षात् मोक्षदायिनी होने पर भी उसमार्गमें चलनेवाले ज्ञानिगणकी प्रज्ञा बहुतश्रम और एकत्वानुसेविनी होती है; परन्तु प्रवृत्तिमार्गीय अधिकारिगणकी बुद्धि बहुभेदभिन्ना होती है।

श्रीगीतोपनिषद्में कहा है कि—

> व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
> बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।

अर्थात्—व्यवसायात्मिका बुद्धि एकतत्त्वमयी होती है और अव्यवसायियोंकी बुद्धि बहुत शाखासे युक्त और अनन्त होती है।

इसकारण प्रवृत्तिनदी बहुवाहिनी होकर विविध अधिकारों-के अनुसार साधकका अभीष्ट साधन किया करती है। अतएव जिस साधकको जिस प्रकारका ज्ञानशक्ति, प्रकृति और अधिकार,

---

तदुपयुक्तोपदेशात्पथ्यम् ॥ ३० ॥

प्राक्तन कर्मविपाकसे प्राप्त हुआ है उसको तदनुसारही यथायोग्य त्रिविध शुद्धिसाधक प्रवृत्तिमार्ग सम्बन्धीय उपदेश दानकरने पर उसकेलिये सम्पूर्ण कल्याणकर एवं अभ्युदय निःश्रेयसकर होगा इसमें अणुमात्रभी सन्देह नहीं है। चाहे एक तत्त्वसे युक्त निवृत्तिमार्गका अधिकारी हो, चाहे बहुशाखासे युक्त प्रवृत्ति-मार्गके अनन्त अधिकारोंमेंसे किसी अधिकारका साधक हो, उसके यथायोग्य अधिकारके अनुसार यदि उसको साधनकी शैली बतायी जायगी तभी उसको वह साधन पथ्यरूप होगा। जीवके प्रबल-संस्कारवेगसे उसकी जाति, भोग, शक्ति, प्रकृति प्रवृत्यादि उसमें उत्पन्न होते हैं, यह पहलेही सिद्ध हो चुका है। जैसे रोगीको कैसी ही औषधि दी जाय परन्तु यदि पथ्य अनुकूल न हो तो रोगकी शान्ति कदापि न होगी; ठीक उसीप्रकार प्रबलसंस्कार, जन्म, प्रकृति, प्रवृत्ति और शक्तिआदिके प्रतिकूल यदि उन्नतसे उन्नत साधनभी बताया जायगा तो उस साधककेलिए हितकारी नहीं हो सकता। निवृत्तिमार्ग उपयोगी अधिकारप्राप्त साधकको यदि प्रवृत्तिमार्गके साधनका उपदेश दिया जायगा तो उसको शान्ति कदापि नहीं होगी। प्रवृत्तिमार्गके अधिकारीको यदि निवृत्तिमार्ग सम्बन्धीय साधनका उपदेश दिया जायगा तो उसको अत्यन्त अरुचिकर होगा। इसीप्रकार प्रवृत्तिमार्गके कर्म, उपासना-ज्ञान- सम्बन्धी अथवा अन्यान्य अधिकार सम्बन्धीय अधिकारियोंके अधिकारों-के विरुद्ध उपदेशदेनेसे कदापि रुचिकर नहीं होगा और न उस साधनमार्गमें वह साधक चल सकेगा।

उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे कर्मकर्ता अथवा साधक विभिन्नप्रकारके होंगे, क्योंकि पुरुषार्थमें अप्रवृत्ति, आलस्य आदि तामसिक कर्तामें अवश्य रहेंगे, वह साधक तामसिक श्रद्धा और तामसिक ज्ञानका अधिकारी भी होगा। इसीप्रकार राजसिककर्त्ता और साधक पुरुषार्थी प्रवृत्तिशील, चञ्चलबुद्धि राजसिकश्रद्धा और सन्देह आदिसे युक्त होगा, दोनोंही सकाम होंगे। और सात्त्विककर्त्ता या साधक ज्ञानी कर्तव्यपरायण सात्त्विकबुद्धि और सात्त्विक श्रद्धासम्पन्न वैराग्यवान् और दृढ़व्रत होगा सुतरां उपर-लिखित उन प्रकृति, प्रवृत्ति और शक्तियोंके अनुकूल जो साधन-शैली यथायोग्य अधिकारियोंको बतायी जायगी तभी वह साधन-शैली उसके क्रमोन्नतिका कारण हो सकेगी, नहीं तो नहीं। सुतरां साधकके यथायोग्य अधिकारके अनुसार साधनशैलीका उपदेश देनाही पथ्य हो सकता है। इसकारण ही श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें कहा है कि—

> स्वभावनियतं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।
> स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः॥

प्रकृतिके अनुकूल कार्य्य करनेपर साधक पापग्रस्त नहीं होता है; प्रत्युत प्रकृतिप्रवृत्त्यनुसार धर्म्ममार्गनिरत साधक स्वाधिकार की सिद्धि प्राप्त किया करता है॥ ३०॥

आशङ्काका समाधान किया जाता है :—

वैषम्यके कारण असिद्धिकी आशङ्का नहीं हो सकती है क्योंकि लक्ष्यैक्य है ॥ ३१ ॥

साधक एवं साधनका वैषम्य होनेसे सिद्धि एक प्रकारकी नहीं हो सकती है, इस तरहकी आशङ्का निष्प्रयोजन है, क्योंकि सबका लक्ष्य एक है। प्रवृत्ति और निवृत्तिका साधन भिन्न-भिन्न प्रकारका है, अधिकारिभेद होनेसे साधनमार्ग भी बहुत प्रकारके हैं, तब सबका फल एक ही प्रकारका कैसे हो सकता है, ऐसी आशङ्का निर्मूलक है क्योंकि सकल साधनोंका ही लक्ष्य एक प्रकारका है। विभिन्न-पथवाहिनी सकल स्रोतस्विनी एक ही समुद्रमें विलीनताको प्राप्त होती हैं, अपनी-अपनी प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुसार जो जो ही करें सबही जब भगवद्भक्ति लाभके अर्थ प्रयत्न करते हैं, सबकी ही इच्छा जब आध्यात्मिक उन्नति साधनकी ओर है, सबका ही लक्ष्य जब अभ्युदय और निःश्रेयसपदवीपर प्रतिष्ठित होनेके अर्थ है, तब साधनभेद होनेपर भी लक्ष्य एक होनेसे कोई भी उन्नतिलाभका बाधक नहीं होगा। देश, काल और प्रकृतिकीवि भिन्नताके कारण साधनोंमें भेद रहनेपर भी यथाविधि सर्वविध साधनोंके द्वारा ही साधक अपने लक्ष्यको प्राप्त करेगा इसमें सन्देह नहीं। ऐहलौकिक अभ्युदय हो अथवा पारलौकिक अभ्युदय हो, दोनों ही निःश्रेयस पथगामी होनेके कारण अभ्युदय और निःश्रेयसकी इच्छा एक ही है। सुतरां लक्ष्य सबमें एक ही है।

वैषम्यादसिद्धमिति चेन्न लक्ष्यैक्यात् ॥ ३१ ॥

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

इसी कारण ही महिम्नस्तोत्रमें कहा गया है कि रुचिवैचित्र्यके कारण त्रयी, सांख्य, योग, पशुपतिमत, वैष्णवमत आदि ऋजु और कुटिल नानासाधनमार्गोंका विधान होनेपर भी सकल-नदियोंका गन्तव्यस्थल जिसप्रकार एक ही समुद्र होता है उसी-प्रकार सकल साधनाओंका लक्ष्यस्थल एक ही आनन्दमय परमात्मा हैं, अतएव वैषम्यदोष कदापि हानिकर या सन्देह-जनक नहीं है ॥ ३१ ॥

साधनका निरूपण करते हुए उससाधनमें उपलभ्यमान ऐश्वर्य्यके विषयमें कहा जाता है :—

परमपुरुषमें विशेषता होनेके कारण ऐश्वर्य्यदोष स्पर्श नहीं करता है ॥ ३२ ॥

भगवान्के ऐश्वर्य्यवान् होनेपर भी उनको ऐश्वर्य्य-दोष स्पर्श नहीं कर सकते, क्योंकि उनका ऐश्वर्य्य स्वाभाविक है ।

ऐश्वर्य्य प्रकृतिराज्यका विषय है, प्रकृतिके ईश्वर परमात्मा हैं अतः ऐश्वर्य्योंका ईश्वरसे सम्बन्ध स्वाभाविक है ।

साधनदशामें जो कुछ ऐश्वर्य्य लाभ होता है वह ऐश्वरीय-

नैश्वर्य्यदोषः परस्मिन् विशेषात् ॥ ३२ ॥

ऐश्वर्य्यका ही कणमात्र है, अतएव समग्र ऐश्वर्य्यके आकर, वीर्य्य, यश, श्री, ज्ञान एवं वैराग्यके आधार भगवान्‌को जिसप्रकार साधकको ऐश्वर्य्यका दोप स्पर्श करता है उसप्रकार क्यों नहीं करेगा ? इसप्रकारके प्रश्नोंका उत्तर यही है कि जीवका ऐश्वर्य्य लौकिक हो अथवा अलौकिक हो जो कुछ भी क्यों न हो, सव सहेतुक एवं तपोवल वा साधनवललभ्य होगा इसकारण वह दोषावह हो सकता है, परन्तु अनन्त वैभवशालिनी प्रकृति माता जिनकी अद्‌र्धाङ्गिनी और आज्ञाकारिणी हैं इसप्रकारके सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के समस्त ही ऐश्वर्य्य नैसर्गिक होनेसे उनमें दोष स्पर्श नहीं कर सकता है।

परमपुरुष भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं--जीव अल्प शक्तिमान् है। परमपुरुष परमात्मा सर्वव्यापक और देश-कालसे अपरिच्छिन्न हैं, जीव एकही पिण्डवासी और देश-कालसे परिच्छिन्न है, परमपुरुष सर्वात्मा जगदीश्वर विद्यासेवित और सर्वज्ञ हैं, परन्तु जीव अविद्या उपहित अल्पज्ञ है। सुतरां ईश्वरमें विशेषता होनेके कारण उनको ऐश्वर्यदोप नहीं लग सकता और जीवको लग सकता है। जिन परमपुरुपसे ही सव ऐश्वर्य उत्पन्न होते हैं जो सव ऐश्वर्योंसे अतीत होनेपरभी सर्वऐश्वर्यके भोक्ता हैं और फिर भी कोई ऐश्वर्य उनको स्पर्श नहीं कर सकता। सुतरां उनको ऐश्वर्य दोष स्पर्श करना असम्भव है, ऐश्वर्यका दोष वहीं स्पर्श करता है, जहाँ वासना हो परन्तु परमात्मामें वासनाका सम्वन्ध नहीं रहनेसे वह दोष वहाँ पहुँच नहीं सकता है। योग-

दर्शनमें कहा है कि—क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"। अर्थात् जिनमें क्लेश, कर्म, कर्मफल और संस्कारोंका सम्बन्ध नहीं है, वे ही पुरुषविशेष ईश्वर हैं। अविद्याजनित राग-द्वेषसे जो दुःखत्व उत्पन्न होता है उसीको क्लेश कहते हैं। प्राकृतिक स्पन्दन-जनित जगत् उत्पादकक्रियाको कर्म कहते हैं, कर्मके शुभाशुभ भोगको विपाक कहते हैं, कर्मबीज-संस्कारको आशय कहते हैं। उसी आशयसे कर्मकी धातु तथा जन्म, मृत्यु आदि आवागमन बना रहता है। यह सब बातें जीवके बन्धनके हेतु हैं और जीवमें इन सबोंका रहना स्वाभाविक है, परन्तु ईश्वरमें इनका कोई भी सम्बन्ध न रहनेसे उनमें ऐश्वर्यदोष स्पर्श नहीं कर सकता है। जहाँ आशयका सम्बन्ध नहीं, जहाँ विपाकका होना, स्पर्श होना भी सम्भव नहीं, जो प्राकृतिक स्पदनरूपी राज्यसे परे स्थित हैं और सुख-दुःख दोनों ही जहाँ पहुँच नहीं सकते उस परमधामरूपी भगवान्‌में भोग-वासना-आदिसे सम्बन्ध-युक्त ऐश्वर्यदोष कदापि स्पर्श नहीं कर सकता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में उनके इस ऐश्वर्यके सम्बन्धमें बहुधा वर्णन देखा जाता है—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमञ्च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्तात्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥

न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते
न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते ।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

वे शक्तिमान्के भी ऊपर महाशक्तिमान् हैं, वे देवतागणके भी परमदेवता हैं, वे पतिके परमपति हैं, वे भुवनेश हैं एवं वे परमपूजनीय हैं। उनका कोई कार्य वा कारण नहीं है, उनके समान वा तदपेक्षया अधिक कोई नहीं हैं, वे विविधरूपा परमशक्तिद्वारा सुशोभित हैं एवं वे नैसर्गिक ज्ञानबल-क्रिया-सम्पन्न हैं अतएव उनको ऐश्वर्यदोष स्पर्श नहीं करते हैं ॥ ३२ ॥

जीवके ऐश्वर्यदोषके विषयमें वर्णन किया जाता है :—

अविशेषमें उस भावके अभाव होनेसे उसप्रकार नहीं हो सकता है ॥ ३३ ॥

सर्वशक्तिमान् भगवान्का ऐश्वर्य नैसर्गिक और नित्य होनेपर भी अल्पशक्ति जीवमें उसप्रकार नहीं है। भगवान्में ऐश्वर्य और शक्तिकी पूर्णता है, क्लेश, कर्म, विपाक, आशय, आदिसे जीव सदा युक्त रहनेके कारण और रक्तवीजके सदृश सृष्टि-विस्तारमें समर्थ वासनाके जालजड़ित जीवका ऐश्वर्यमें फँस जाना स्वाभाविक है, जिसप्रकार वीजसे वृक्ष और वृक्षसे पुनः वीज और पुनः वीजसे वृक्ष इसप्रकार सृष्टिधारा चलती रहती है, ठीक

अविशेषेषु न तथा तद्वत्त्वाऽभावात् ॥ ३३ ॥

उसीप्रकार ऐश्वर्यसे वासना और वासनासे ऐश्वर्य। इसप्रकारसे ऐश्वर्यमें सृष्टिधाराका जीवमें बना रहना स्वभावसिद्ध है। जो विशेषता ईश्वरमें है जैसा कि पहले सूत्रमें वर्णन किया है वैसी विशेषता जीवमें नहीं है, इसकारण जीवमें अवनति होना सर्वदा सम्भव है।

उनकीही शक्ति और ऐश्वर्य्यसे बलवान् होकर देवता, ऋषि और पितृगण यथाधिकार संसारकी रक्षा करते रहते हैं। पूर्णशक्तिमान् भगवान्के ऐश्वर्य्यमें कदापि न्यूनाधिक्य भाव नहीं होता है परन्तु जीवका ऐश्वर्य उसप्रकारका नहीं है। जीवमें देश और कालके अनुसार ऐश्वर्य्यकी हीनता वा अधिकता हुआ करती है। तपस्यादिके द्वारा जीव ऐश्वर्य्य प्राप्तकर सकता है परन्तु हिंसादि अनुचित आचरण करनेपर पुनः ऐश्वर्य्यका तिरोधान हो जाता है। तद्व्यतिरिक्त ऐश्वर्य्यके एक प्रकारसे सम्पत्ति होनेके कारण प्रायः ही साधकको मुग्ध करके अवनतिग्रस्त करता है। श्रीभगवान्ने इसीकारण योगशास्त्रमें ऐश्वर्य्योंकी निन्दा की है और उससे सदा सावधान रहनेको आज्ञा दी है। शास्त्रोंमें ऐश्वर्य्य दर्शनको कुलकामिनीके दर्शनके समान कहा है। जैसे कुलकामिनी किसी पुरुषको अपना अङ्ग नहीं दिखाती है, यदि वह दिखावे तो व्यभिचारिणी कहावेगी कुलकामिनी नहीं रहेगी। अतः ऐश्वर्य्योंका सम्बन्ध प्रकटकरना योगियोंकेलिये अवनतिका कारण होगा, वह योगी विषयी कहलावेगा परन्तु कभी-कभी जिसप्रकार घटनाचक्रसे पिता पुत्र इत्यादिभी कुलकामिनीका

अङ्ग कदाचित् दर्शन कर लेते हैं, ठीक उसीप्रकार कभी किसी योगीका ऐश्वर्य्य उसके भक्तगण घटनाचक्रसे देख लिया करते हैं। अस्तु ऐश्वर्य्योंके साथ इच्छा करके सम्बन्धयुक्त होना साधकके लिये निषेध है।

ऐश्वर्य्यपरायण साधक आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकता है। विषयी मनुष्यकी तरह उसमें ही लिप्त होकर अविद्याकूपमें निमग्न होता है। इसकारण बुद्धिमान् लोग सर्वदा ऐश्वर्य्यकी निन्दा किया करते हैं ॥३३॥

ऐश्वर्य्य कितने प्रकारका है सो वर्णन किया जाता है:—

यह चार प्रकारका है ॥ ३४ ॥

पूर्वकथित ऐश्वर्य्य चतुर्धा विभक्त है। यथा:—आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक एवं साहजिक। आधिभौतिक ऐश्वर्य्य लौकिक और अलौकिक भेदसे दो प्रकारका है। सांसारिक ऐश्वर्य्य लौकिक, एवं रसायनकल्प आदिसे उत्पन्न ऐश्वर्य्य अलौकिक है। औषधिप्रयोगके द्वारा जो ताम्र सुवर्ण हो जाता है एवं वृद्ध यौवन और दीर्घायु प्राप्त करता है, ये सब अलौकिक ऐश्वर्य्यके ही दृष्टान्त हैं। आधिदैविक ऐश्वर्य्य मन्त्र और तपस्याद्वारा प्राप्त हुआ करता है। इन चारोंके दो-दो भेद होनेसे सिद्धियोंकी जातिके आठ भेद होते हैं। यथा—आधिभौतिक स्थूल अलौकिक सिद्धि और एवं रासायनिक कल्प द्वारा सूक्ष्म अलौकिक सिद्धि ये दो भेद हैं। अधिदैव सिद्धिके भी

तच्चतुर्विधम् ॥ ३४ ॥

दो भेद हैं। यथा--अध्यात्म, अधिदैव सिद्धि मारणवशीकरण आदि षट् कर्म्म द्वारा और अणिमा, लघिमा, आदि योगद्वारा प्राप्त होती हैं। आध्यात्मिक सिद्धिके भी दो भेद हैं। यथा अपरोक्षानुभूतिके द्वारा और परोक्षानुभूतिके द्वारा और सहज-सिद्धि भी जीवनमुक्तदशामें तथा अवतार आदिके भेदसे दो भेद माने जाते हैं। इसप्रकारसे आठ श्रेणी योगियोंने मानी है।

योगदर्शनमें लिखा है कि—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥

जन्म, औषधि, मन्त्र, तप एवं समाधिद्वारा सिद्धिलाभ होता है।

आधिदैविक ऐश्वर्य्यसम्पन्न व्यक्ति दैवबलसे बलवान् होकर अनेक अलौकिक कार्य्य साधनकर सकता है। यह मलिन और शुद्ध भेदसे द्विधा विभक्त है। त्रिविध यज्ञोंके द्वारा आध्यात्मिक ऐश्वर्य्यलाभ होता है, ऋतम्भराप्रज्ञाका विकास इसका लक्षण है। वेदादिका आविर्भाव ईदृश ऐश्वर्य्यशाली ऋषियोंके पवित्र अन्तःकरणमें हुआ करता है। साहजिक ऐश्वर्य्य जीवन्मुक्तदशामें स्वतः ही प्राप्त हुआ करता है। पराभक्तियुक्त जीवन्मुक्त महापुरुष जब आत्मसाक्षात्कारद्वारा जीवभावका परिहार करते हैं, तब उनके व्यष्टि अहङ्कारका नाश होनेसे वे विराट्केन्द्रकेद्वारा भगवदिङ्गितानुसार ही चालित होते हैं। उससमयमें जगत्-कल्याण-सम्पादनार्थ उनमें जो सब सिद्धियोंका आविर्भाव होता है उनका नाम साहजिक सिद्धि है।

चतुर्विधाः सिद्धयः स्युः प्राप्या या योगवित्तमैः ।
आध्यात्मिकी चाऽधिदैवी सहजा चाऽधिभौतिकी ॥
औषधिमन्त्रतपोभिः प्राप्यन्ते सिद्धयः सर्वाः ।
स्वरोदयेनाऽपि . तेषां संयमेनेति निश्चयः ॥
इत्थं चतुर्विधा भेदाः सिद्धेः प्रोक्ता मनीषिभिः ।
भौमस्थूलपदार्थानां सिद्धिः स्यादाधिभौतिकी ॥
दैवशक्तिसमापत्तिर्यत्र सा चाऽधिदैविकी ।
आध्यात्मिकी च विज्ञेयाः प्रज्ञासम्बद्धसिद्धयः ॥
उन्नतश्चाऽधिकारोऽस्याः परमः प्रोच्यते बुधैः ।
आविर्भावो हि वेदानां जायते यत्र निश्चितम् ॥
सहजाः सिद्धयः प्रोक्ता जीवन्मुक्तस्य सिद्धयः ।
सिद्धेर्हि बहवो भेदा निर्दिशन्ति स्म योगिनः ॥

इस रीतिसे सिद्धि चार प्रकारकी है ॥ ३४ ॥

ऐश्वर्य विषयक आशङ्काका समाधान किया जाता है :—

लक्ष्य स्थिर होनेपर इसका क्या प्रयोजन है इस प्रकारकी शङ्का होना उचित नहीं है क्योंकि प्रकृति भिन्न भिन्न प्रकारकी होती है ॥ ३५ ॥

जब साधनाका लक्ष्य नित्य सिद्ध है, तब क्षणभंगुर ऐश्वर्यका क्या प्रयोजन है इसप्रकार की आशङ्का ठीक नहीं है क्योंकि संसार-में प्रकृतिभिन्नताके कारण रुचिभिन्नता भी हुआ करती है। जब

लक्षितलक्ष्येषु क्वापि तत् किमिति चेन्न प्रकृतिभेदात् ॥ ३५ ॥

भगवान्के प्रति भक्ति ही मुक्तिदान किया करती है एवं यही मनुष्यजीवनका श्रेष्ठतम लक्ष्य है तो ऐश्वर्यकी आकांक्षा और अपेक्षा क्यों होती है, इस शङ्काका समाधान किया जाता है। संसारमें सबकी प्रकृति समान नहीं होती है, पर वैराग्यपरायण भक्तिमान् वीतरागपुरुष ऐश्वर्यके प्रति उपेक्षा किया करता है। वेदमें कहा है कि—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः॥

ऐश्वर्यलोभी साधक अवनतिके अन्धकारमें निमग्न हुआ करता है। परन्तु उच्च अधिकारीकेलिए ऐश्वर्य उपेक्षाकी वस्तु होनेपर भी सामान्य अधिकारीके लिए वे आध्यात्मिकमार्गके प्रेरक हुआ करते हैं। जिसप्रकार मिष्टान्नके द्वारा भुलाकर बालकको विद्याभ्यास कराया जाता है उसप्रकार साधारण अधिकारीके लिए ऐश्वर्य विश्वासवर्द्धक एवं चित्त-संयोगविधायक हुआ करते हैं। ऐश्वर्य्यकी माधुरी देखकर साधक आध्यात्मिक मार्गमें विशेष विश्वासपरायण होता है एवं उससे उसकी उन्नतिके विषयमें सहायता हुआ करती है। इसकारण ही योगदर्शनमें लिखा है कि—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

सिद्धिसमूह समाधिके विषयमें विघ्नजनक हैं। परन्तु व्युत्थान-दशामें हितकर हैं, अतएव इस प्रकारकी शङ्का नहीं करनी चाहिये। सूक्ष्मविचार करनेसे यह निश्चित होगा कि सहजसिद्धि किसी

दशामें वाधक नहीं होती क्योंकि वह केवल ईशकोटिके जीवन्मुक्त अथवा अवतारोंमें प्रकट होती है। उसीप्रकार आध्यात्मिकसिद्धिके दो भेदोंमेंसे अपरोक्षानुभूतिसे उत्पन्न सिद्धियाँ भक्तको वाधा नहीं पहुचा सकती हैं। क्योंकि वे निश्चित सत्यपर प्रतिष्ठित हैं, परन्तु ज्ञानराज्यमें अपरिपक्व दशाप्राप्त परोक्षानुभूतिका अधिकारी साधक यदि गुरु या आचार्य्य अथवा ग्रंथकर्ता वनना चाहे तो उसको वह आध्यात्मिकी सिद्धि हानि-कारक हो सकती है। इनके अतिरिक्त और सब सिद्धियाँ समाधि-विघ्न होनेपर भी अधमश्रेणीके साधककेलिये अनेक स्थलपर हितकारी हो सकती हैं। क्योंकि जिनमें पुरुषार्थ शक्तिकी न्यूनता रहती है उनके चित्तमें तीव्र संवेग उत्पन्न करनेके लिये सिद्धियोंका लोभ देकर आगे वढ़ाया जा सकता है॥ ३५॥

सव साधनोंके चरमफलरूप मुक्ति कैसे प्राप्ति हो सकती है सो कहा जाता है :—

समर्पणके द्वारा मुक्ति हुआ करती है॥ ३६॥

समर्पणकेद्वारा जीवका वन्धन-मोचन होता है एवं मोक्ष-लाभ होता है। ज्ञानभूमिके अनुसार सातों दर्शनोंमें पृथक्-पृथक् मुक्तिका उपाय वर्णन किया गया है। चित्तवृत्तिके निरोध द्वारा द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान होनेसे ही जीवकी मुक्ति होती है, यह योगदर्शन-विज्ञानका सिद्धान्त है। इसीप्रकार साङ्ख्य, न्याय आदि दर्शनोंमें भी अपनी-अपनी ज्ञानभूमिके अनुसार मुक्तिका सिद्धान्त

समर्पणान्मुक्तिः॥ ३६॥

कहा गया है। इस दर्शनका सिद्धान्त यह है कि समर्पणके द्वारा मुक्ति होती है। अहङ्कार ही जीवके जीवभावका कारण है। ममतापाशमें बद्ध होकर जीव सांसारिक क्षुद्रस्वार्थमें अपने स्वरूपको विस्मृत होता हुआ विजडित हो पड़ता है। परमात्मा सर्वव्यापक एवं देश-काल द्वारा अपरिच्छिन्न होने पर भी अहङ्कार वा अहन्तामूलक स्वार्थ जीवके केन्द्रको देश-काल परिच्छिन्न कर डालता है। वह देह एवं इन्द्रियादिको सुखका कारण समझकर इतनेमें ही अपनेको केन्द्रीभूत कर रखता है, इसकारण उसका जीवभाव वा बन्धन विनष्ट नहीं होता है। किन्तु जब जीव उसका जो कुछ है सब ही भगवान्को समर्पण कर सके अर्थात् जिस पदार्थने उसको संसारमें बद्ध करके उसके केन्द्रको छोटा करके रखा था उसको भगवान्की व्यापकसत्तामें विलीन कर दे तब पुनः उसके लिये "हमारा" कहकर निर्देश करनेको कुछ न रहनेसे वैषयिक अहन्ता वा ममता पूर्णरूपसे विगलित हो जाती है। ममता नष्ट होनेसे ही देश-काल परिच्छिन्न जीवभाव फिर नहीं रहता है, क्योंकि उसने ही उसके केन्द्रको देश-काल परिच्छिन्न करके उसकी सत्ताको विराट्की व्यापकसत्तासे पृथक् भावापन्न कर रखा था, अतएव उसके नाशसे जीवत्वका नाश होता है एवं जीवकी मुक्ति होती है। श्रीभगवान् सर्वव्यापक हैं और जीव अहंकृत होनेसे देशकाल-परिच्छिन्न है। जीवमेंसे अहङ्कार दूर होते ही जीव भगवद्भावको प्राप्त होता है। भक्त व्यक्ति अपना सब कुछ श्रीभगवान्को समर्पण करता है तभी वह

अहङ्कारका लय करता हुआ ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। वह अपनी सत्ताको सच्चिदानन्दभावमें विलीन करके निःश्रेयस पदवीमें परमानन्दपदको लाभ करता है। शास्त्रोंमें इस परमकल्याणमय समर्पणभावके अनेकानेक दृष्टान्त पाये जाते हैं। उपनिषदोंमें कहा है—

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्यावाचो
विमुञ्चथाऽमृतस्यैव सेतुः ।
इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।

केवल उसी करुणामय भगवान्को जानो, उसके अतिरिक्त और कहीं भी मन मत लगाओ और न कुछ बात कहो, अमृतत्व लाभका यही एकमात्र उपाय है। श्रीभगवान्ने गीताजीमें आज्ञा की है कि—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।

मेरे गुणमयी दैवी माया नितरां दुरत्यया है, जो मेरे शरणापन्न होता है वही इस मायाको अतिक्रम कर सकता है। जो सब कर्मोंको मेरेमें ही समर्पण करके मत्परायण होकर मेरी उपासना अनन्यमन होकर करते हैं, मैं उनको शीघ्रही संसार-सागरसे मुक्त किया करता हूँ। हे अर्जुन! तुम मन्मना, मद्भक्त

और मद्याजी हो, मुझको ही नमस्कार करो। ऐसा होनेसे ही मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि तुम मुझको ही प्राप्त होगे। समस्तधर्म परित्याग करके केवल मेरेही शरणापन्न हो, मैं तुमको सब पापों से उद्धार करूँगा।

श्रीमद्भागवतमें वर्णन हुआ है कि—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥
मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्म्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदाऽमृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्मभयाय च कल्पते वै॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

शरीर, वाक्य, मन, इन्द्रिय, बुद्धि वा आत्माके द्वारा जो कुछ किया जाता है, वह सबही भगवान्के समर्पण करना उचित

है। साधक जब इसप्रकार अन्य समस्तकार्य्य त्याग करता हुआ भगवान्‌को ही सर्वस्व अर्पण करता है, तबही उसको अमृतत्वप्राप्ति होती है एवं वह सच्चिदानन्दभावको प्राप्त कर सकता है। समर्पणका भाव किसप्रकारका होगा, इस विषयमें विष्णुपुराणमें प्रह्लादने कहा है कि—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्माऽपसर्पतु॥

विषयी अविवेकी पुरुषोंकी जैसी अव्यभिचारिणी प्रीति विषयोंमें होती है, आपके ध्यानमें परायण इस दासकी प्रीति ठीक वैसीही आपमें हो। भागवतमें इस अनन्यप्रीति और इस विषयको और तरहसे भी समझ सकते हैं कि सब शास्त्रोंका यह सिद्धान्त है कि यद्यपि सृष्टिका मूलकारण माया या प्रकृति है, परन्तु अहंकार अथवा अहंतत्त्व ही वस्तुतः सृष्टिका उत्पादक है। अहंकारसे ही जीवकी स्वतंत्रता बनी रहती है। यह मानना ही पड़ेगा कि श्रीभगवान्‌के विराट्‌देहमें प्रत्येक जीव अपनेको उस देहसे अलग समझता है उसका एकमात्र कारण अहंतत्व अथवा जैव अहंकार है। सुतरां जिस साधन सुकौशल द्वारा इस जीवभावउत्पादक अहंकारका नाश हो जाता है, वही साधन सुकौशल जीवके मुक्तिका कारण होगा इसमें संदेह नहीं। अतः श्रीभगवान्‌में जब भक्त आत्मसमर्पण करता है तो वह अपनी स्वतंत्र सत्ताको अपने अहंकारके साथ भगवान्‌में लय करता है और ऐसा होनेपर स्वतः ही उसका जीवभावनाश हो जायगा इसमें संदेह नहीं।

इसविज्ञानको और तरहसे भी समझ सकते हैं, जीवके लक्ष्य जितने प्रकारके हो सकते हैं उनको चार भागोंमें विभक्त किया जा सकता है, वे ही चतुर्वर्ग कहाते हैं। यथा—काम, अर्थ, धर्म, मोक्ष, काम और अर्थ इन्द्रिय सुखमूलक है इसकारण जिस साधकमें कामकी इच्छा अथवा अर्थकी इच्छा प्रबल रहे उसमें जीव-भाव पूर्णरूपसे विद्यमान रहता है। इसीकारण धर्मलक्ष्य-विहीन काम और अर्थकी सेवा नरकप्रद होती है और जीव-भावको दृढ़ करती जाती है। जब साधकका लक्ष्य केवल धर्मकी ओर होता है, तब उसकी अन्तर्दृष्टि बढ़ जाती है। जीवके इस धार्मिक दशाके दो भेद कह सकते हैं पहली दशा धर्मा-नुकूल अर्थकामकी चेष्टा और दूसरी केवल धर्मकेलिए आत्मसमर्पण। धर्मलक्षणयुक्त अर्थकामसे अवश्य ही जीवकी क्रमोन्नत्ति होती है और मीमांसादर्शनका यह सिद्धान्त है कि केवल धर्मलक्ष्ययुक्त पुरुषार्थकेद्वारा निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है। इस उन्नत धर्मयुक्त अवस्थामें केवल धर्मप्रवाहमें ही धार्मिक आत्मसमर्पण करता है। धर्म ही जीवको क्रमशः उन्नतकरके ब्रह्मपदरूपी निःश्रेयसमें पहुँचा देता है क्योंकि शास्त्रोंमें कहा है कि—

उन्नतिं निखिला जीवाः धर्मेणैव क्रमादिह।
विदधाना सावधाना लभन्ते ते परं पदम्॥

तात्पर्य यह है कि धार्मिकको उन्नतदशामें सत्वमय धर्मके आश्रयसे साधक क्रमशः पूर्णसत्वगुणके अधिकारको प्राप्त

करके मुक्तिपदमें पहुँच जाता है, और उससमय सत्त्वगुणके अधिकारसे उसका जैव अहङ्कार स्वतः ही नष्ट हो जाता है। इस उन्नतिमें क्रम यह है कि पहले धर्मानुकूल अर्थ कामकी चेष्टासे सत्त्वगुणकी अभिवृद्धि, उसके बाद केवल धर्मकेलिए ही पुरुषार्थके द्वारा सत्त्वगुणकी पूर्णताप्राप्ति, उसके अनन्तर पूर्णसत्त्वकेद्वारा तमोभावव्यञ्जक जैवाहङ्कारका नाश और उसके बाद श्रीभगवद्भावरूपी मुक्तिपदकी प्राप्ति यह क्रम धर्मपुरुषार्थमें स्वाभाविक है।

परन्तु भक्तिपथ अतिसरल और सुगम होनेके कारण उसमें अपने आपको श्रीभगवान्में समर्पण कर देनेसे यह मुक्तिका मार्ग और भी सरल सुगम हो जाता है। क्योंकि आत्मसमर्पणद्वारा एक ही क्षणमें धर्मसाधनके चरमफलरूपी पूर्णसत्त्वगुणका उदय और अहंतत्त्वरूपी जीवभावका नाश साथ ही साथ होकर श्रीभगवच्चरणरूपी मुक्तिपदको भाग्यवान् भक्त प्राप्त कर लेता है।

सिद्धान्त यह है, कि विभिन्नशास्त्रोंने मुक्तिके विभिन्न मार्ग बताये हैं, वे सब पुरुषार्थ सापेक्ष्य हैं। परन्तु भक्तिका यह मार्ग अतिसरल और सुगमहोनेके कारण इसमें केवल आत्मसमर्पणसे ही मुक्तिका होना माना गया है। अपना शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आदि सहित सब कुछ यदि साधक अपने प्रियतम भगवान्में यथार्थरीतिसे समर्पण कर सकेगा तो साथ ही साथ जीवभावका मूलकारण अहंतत्त्वका लोप हो जायगा, और जीवभावका लोप होनेपर जीव शिव होकर मुक्त हो जायगा।

जीवभावरूपी अहङ्कारका सम्पूर्णरूपसे विलय होना ही जीवकी मुक्ति कहाती है। यही भक्तिदर्शनका समर्पण है, मुक्तिका साधक है॥ ३६॥

समर्पणके प्रसङ्गसे पूजा और यजनवर्णन किया जाता है—

पूजा मुख्य है और यजन अन्य प्रकारका है॥ ३७॥

पूजा ही प्रधान एवं मुख्यसाधन है, यजन इससे अन्य प्रकारका है। भगवान्‌के प्रति भक्तिप्रवण होकर जिसकर्मका अनुष्ठान भक्त करता है वही पूजा है। इसमें समर्पण-बुद्धिकी प्रधानता है। इसके अतिरिक्त जो अनुष्ठान क्रियाप्रधान है एवं जिनमें कर्मशक्तिकी प्रधानता है, वे ही यजनपदवाच्य हैं। उपासनाकाण्डका सम्बन्ध जिस साधनमें अधिक है, वह पूजा कहाता है और कर्मकाण्डका सम्बन्ध जिस साधन में अधिक है वह साधन यजन कहाता है। इस सिद्धान्तानुसार समर्पणका सम्बन्ध यजनकी अपेक्षा पूजामें अधिक रहना विज्ञानसिद्ध है, सुतरां यजनकी अपेक्षा पूजाकी मुख्यता सिद्ध होती है। अतः इस दर्शनके सिद्धान्तानुसार पूजाकी श्रेष्ठता एवं यजनकी गौणता प्रतिपन्न हुई है। शास्त्रोंमें पूजोपचार इक्कीस प्रकारके कहे गये हैं—

यथा—उपचारा विनिर्दिष्टाः पूजायामेकविंशतिः।
आवाहनं स्वागतञ्च स्वासनं स्थापनं तथा॥
पाद्यमर्घ्यं तथा स्नानं वसनं चोपवीतकम्।
भूषणं गन्धपुष्पे वै धूपदीपौ तथैव च॥

विशिष्टा पूजा यजनमितरत्॥ ३७॥

नैवेद्याचमने चैव ताम्बूलं तदनन्तरम् ।
माल्यं निराञ्जनञ्चैव नमस्कारविसर्जने ॥

आवाहन, स्वागत, आसन, स्थापन, पाद्य, अर्घ्य, स्नान, वसन, उपवीत, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल, माल्य, नीराजन, नमस्कार एवं विसर्जन, इन सबका विधिपूर्वक अनुष्ठान करनेसे पूजाकी सार्थकता साधित होती है।

पूजाके उपचार पञ्चोपचार, दशोपचार षोडशोपचार चतुर्विंशति उपचार इस प्रकारकी प्रधानतः चार श्रेणी मानी गयी हैं। पुनःपूजा, बहिःपूजा और मानसपूजा भेदसे दो भागोंमें विभक्त है। यजनका सम्बन्ध मन्त्रशुद्धि उत्तरक्रियाशुद्धिके साथ अधिक होनेके कारण उसके अनेक भेद हैं। यजनप्रधानतः श्रौत, स्मार्त्त, पौराणिक, तान्त्रिक, इसप्रकार चार श्रेणीमें विभक्त है। सुतरां यजनमें आचार भेद, क्रियाभेद, सम्प्रदायभेद आदि अनेक भेद हैं ॥ ३७ ॥

पूजन और यजनके प्रसङ्गमें समर्पित वस्तुके प्रति अवलम्बनीय भावका विषय बताया जाता है—

तदर्पित वस्तुमें आत्मीयत्व हो नहीं सकता क्योंकि ऐसा भाव उचित नहीं है ॥ ३८ ॥

यह पहले ही सिद्ध हो चुका है, कि समर्पणसे मुक्ति हुआ करती है। साधक समर्पणसे अपने जीवभावका विलय करके

न तदर्पितात्मीयत्त्वमनौचित्यात् ॥ ३८ ॥

मुक्ति हो सकता है। जब वह अपने आपको अपने अहंतत्त्वके सहित अपने हृदयनाथ श्रीभगवान्‌में समर्पण कर देवे, सुतरां बहिःपूजामें और यजन आदिकमें उस समर्पणकी प्राथमिक शिक्षा हुआ करती है। इसकारण पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कहते हैं, कि भगवान्‌को कोई वस्तु समर्पणकर देने पर उसमें हमारी है, यह भाव नहीं रखना चाहिये। पूजनमें नाना उपचारके सम्बन्धसे नाना पदार्थोंका पूजार्ह इष्टदेवता अथवा व्यक्तिको अर्पण करना विहित है। दूसरी ओर यजन आदिकमें इसीप्रकार अर्पण अथवा दानका सम्बन्ध अधिक रखा गया है। अतः उक्त अर्पण और दानक्रियामें समर्पणभावको उन्नतकरनेके लिये और साधककी क्रमोन्नति स्थायी रखनेकेलिये इस मूलोक्त विज्ञानका वर्णन किया गया है।

धर्माङ्गोंमें दान अतिसुगम है। दानधर्ममें अन्यधर्मोंकी तरह कठिनता नहीं है। इसकेद्वारा सहजमें ही चित्तमें भक्ति-भाव जाग्रत हो जाता है। परन्तु देना जैसा सहज है प्रदत्तवस्तुसे आत्मीयभाव उठा लेना वैसा सहज नहीं है, प्रत्युत विशेष कठिन है। इसकारण इसदर्शनका सिद्धान्त है, कि इष्टदेवको समर्पित वस्तुमें आत्मीयता रखना कदापि उचित नहीं है। वैसा करनेसे ईश्वरपरायणता, भक्तिभाव, आध्यात्मिक उन्नति और दानधर्मको हानि हुआ करती है। तात्पर्य्य यह है कि चाहे मानसपूजा हो चाहे वहिःपूजा हो या चाहे यजनपूजा आदिकमें या गुरुजनोंके अर्पणकरदेनेमें अथवा दानधर्ममें जो कुछ अर्पित वस्तु हो वह

वस्तु एकबार अर्पित हो जानेपर उसवस्तुमें आत्मबुद्धि करना पापजनक और आध्यात्मिक उन्नतिका बाधक होगा इसमें सन्देह नहीं।

जब लौकिकदानमें आत्मीयताबुद्धि दोषजनक और दान-धर्मविरोधी है तो भगवान्को समर्पित पारमार्थिक वस्तुमें आत्मी-यता नितरां आध्यात्मिक अवनतिकर होगी इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है॥ ३८॥

प्रसादका फलवर्णन किया जाता है :—

प्रसादके द्वारा निष्कल्मषत्व और शान्तिलाभ हुआ करता है॥ ३९॥

प्रसादग्रहणसे पापनाश और शान्ति हुआ करती है। प्रसाद तीन प्रकारका होता है यथा:—आत्मप्रसाद, धर्मप्रसाद, और पूजा-प्रसाद, आध्यात्मिक आलोचना द्वारा आत्मप्रसाद लाभ हुआ करता है। आत्मा आनन्दमय है अतएव आत्मसम्बन्धीय आलोचना-का साधक उसी आध्यात्मिक आनन्दको या आध्यात्मिकप्रसादको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते॥

प्रसादेन निष्कल्मषत्वशान्तत्वम्॥ ३९॥

शान्तचित्त पुरुष रागद्वेषशून्य वशीभूत इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवनकरके आत्मप्रसादलाभ किया करता है। इस प्रकारका प्रसादप्राप्त होनेसे उसके सकल दुःख दूर होते हैं एवं उस प्रसन्नचित्त पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही आत्मामें विश्रान्ति लाभ करती है। महाभारतमें भी वर्णन है कि—

चित्तप्रसादेन यतिर्जहातीह शुभाशुभम्।
प्रसन्नाऽऽत्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमत्यन्तमश्नुते॥
लक्षणन्तु प्रसादस्य यथा स्वप्ने सुखं स्वपेत्।
निवाते वा यथा दीपो दीप्यमानो न कम्पते॥

चित्तप्रसादलाभ होनेपर यति पुरुष शुभाशुभादि द्वन्द्वोंसे मुक्त होते हैं, प्रसन्नात्मा योगी इसप्रकार आत्मामें अवस्थिति करते हुए परमानन्द प्राप्त हुआ करते हैं। सुषुप्तिकी सुखमयी शान्ति अथवा निवात निष्कम्प प्रदीपकी शान्तिकी ही प्रसादके साथ तुलना हो सकती है। धर्मसाधनकेद्वारा उदितप्रसाद ही धर्मप्रसाद है। साधुगण जगत्को भगवान्का रूप जानकर भगवत्सेवाबुद्धिसे [जगत्की सेवा करते हुए इसप्रकारका धर्मप्रसाद लाभ किया करते हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याऽभिन्नेन चक्षुषा॥

परमात्माको सकल जीवोंमें अधिष्ठित जानकर दानस्नानादि द्वारा सबकी पूजा करनी चाहिये। इष्टदेवकी पूजामें समर्पित वस्तु ही पूजाप्रसाद है। इसप्रकारके प्रसादकी महिमा श्रीक्षेत्र

जगन्नाथपुरी आदि पीठोंमें स्पष्टतः प्रतिभात होती है। तात्पर्य यह है, कि प्रसादप्राप्तिके द्वारा निष्कल्मषत्व और शान्ति भक्तको प्राप्त होती है। यह दो बातें आत्मप्रसाद, धर्मप्रसाद और पूजा-प्रसाद इन तीनोंमें अवश्य प्राप्त होती हैं। जब आध्यात्मिक चर्चा अथवा श्रवण, मनन, निदिध्यासनमें साधक रत होता है, तो उस भगवद्भावकी चर्चा अथवा अनुशीलनद्वारा आत्मराज्यमें पहुँच जाता है। उससमय उसके अन्तःकरणके भगवद्सानिध्य-लाभद्वारा उसज्ञानी भक्तमेंसे, मल, विक्षेप, आवरण, रूपी कल्मषका दूर होना और उसको आध्यात्मिक शान्तिकी प्राप्ति होना स्वतः सिद्ध है। धर्म भगवान्का ही स्वरूप है, धर्म धार्मिकको भगवद्राज्यमें अग्रसर करता है। धर्मके द्वारा अधर्म रूपी कल्मष स्वतः ही दूर होता है। और धर्मसाधन करनेसे धार्मिकका अन्तःकरण जब सर्वधर्माश्रयरूपी श्रीभगवान्की ओर फिरा रहता है तो उससमय भगवद्राज्यकी शान्तिका उस धार्मिकके हृदयमें रहना स्वतःसिद्ध है।

पूजा-प्रसादकी प्राप्तिमें आत्मप्रसाद और धर्मप्रसादके अतिरिक्त प्रसादद्रव्यकी प्राप्तिकी अधिकता रहती है। इसकारण पूजाप्रसादमें निष्कल्मषत्व और शान्तिकी प्राप्तिके विषयमें कोई सन्देह ही नहीं है। ज्ञानवान् भक्त यदि अपने आध्यात्मिक ज्ञान-नेत्रके द्वारा अपने प्रियतम भगवान्का दर्शन करता हुआ पूजा करेगा तो उसको आत्मप्रसादका लाभ अवश्य ही होगा। इष्ट-पूजारूपी उपासनायज्ञ एक बड़ा धर्मकार्य्य है अतः सात्विक-

रीतिके ऐसे धर्मकार्य्य करनेसे पूर्वकथित धर्मप्रसादका लाभ उस धार्मिक भक्तको अवश्य ही होगा। पूजामें अधिकता यह है कि पूजाके निमित्तसे चढ़ाये हुए भोग्यपदार्थको भावशुद्धिपूर्वक प्राप्त करनेसे निष्कल्मपत्व और शान्तिके अतिरिक्त सद्भावसे शुद्ध भोग्यपदार्थके सेवनका पवित्रताजनकफल उस भक्तको प्राप्त होगा। और उस भक्तका वह इन्द्रियसुखभोग उसके अवनतिका कारण न होकर उसकी उन्नतिका कारण होगा। क्योंकि वह विषय नहीं है प्रसाद है, यही पूजाप्रसादकी विलक्षणता है। आत्मप्रसादमें आध्यात्मिकभावकी प्रधानता, धर्मप्रसादमें आधिदैविक भावकी प्रधानता और पूजाप्रसादमें आधिभौतिक भावकी प्रधानता होनेपर भी इस विलक्षणप्रसारमें तीनोंका समावेश है।

त्रिविध प्रसाद त्रिभावात्मक और समशक्तिसम्पन्न हैं। इनके सेवनसे पाप नाश और शान्तिलाभ हुआ करता है॥ ३९॥

पूर्व्व विज्ञानका ही अनुवर्त्तन होता है :—

भाव-मुख्यताके कारण सर्व्वत्रही फलैक्य है॥ ४०॥

भावकी प्रधानता एवं समर्पित वस्तुके स्थूलमूल्यकी अप्रधानता होनेसे सकलप्रकारके समर्पणका ही समान फल हुआ करता है। लौकिक दानकार्य्यमें दाता, ग्रहीता, देय वस्तु का मूल्य या विशेषता अथवा उसके उपयोगके अनुसार दानके फलका तारतम्य हुआ करता है। परन्तु इष्टदेवको समर्पण

सर्व्वत्र फलैक्यम्॥ ४०॥

करनेमें इन सब विषयोंका कोई विचार ही नहीं होता है, क्योंकि सर्वशक्तिमान् निखिलैश्वर्य्यशाली भगवान्के निकट किसी पदार्थके स्थूल अंश नहीं जाता है। भावगम्य भावग्राही भगवान्के निकट केवल भावके मूल्यका ही विचार हुआ करता है। भावकी महिमाके विषयमें सकलशास्त्रोंमें वर्णित है कि, अतिसामान्य वस्तु भी शुद्धभावसे भगवान्को उद्देश्य करके समर्पण हो तो महाफल प्रसव करती है। भगवान्ने गीतामें भक्तिभावके वर्णन करनेके प्रसङ्गमें कहा है कि—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतं गृह्णामि प्रयतात्मनः॥

उत्तमभावसे सामान्य पत्र-पुष्प और फलादि भी अर्पण हो तो उनके द्वारा श्रीभगवान्की संतुष्टता और साधककी उन्नति होती है। स्मृतिमें और भी कहा है कि—

भावेन लभ्यते सर्वं भावेन देवदर्शनम्।
भावेन परमं ज्ञानं तस्माद्भावावलम्बनम्॥
भावात्परतरं नास्ति येनानुग्रहवान् भवेत्।
भावादनुग्रहप्राप्तिरनुग्रहान्महासुखी॥
भावात्परतरं नास्ति त्रैलोक्ये सिद्धिमिच्छताम्।
भावं हि परमं ज्ञानं ब्रह्मज्ञानमनुत्तमम्॥
भावेन लभ्यते सर्वं भावाधीनमिदं जगत्।
भावं विना महाकाल! न सिद्धिर्जायते क्वचित्॥

सिद्धि एवं भगवान्की कृपा प्राप्त करनेकेलिये भावकी अपेक्षा

अन्यश्रेष्ठ वस्तु और कुछ भी नहीं है। समस्त जगत् भावके ही अधीन है, इसकारण ज्ञान-मुक्ति आदि सबही भावसे मिलते हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—

त्वं भावयोगपरिभावित हृत्सरोज-
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥

भगवान् भक्तोंके भावके अनुसार ही भिन्न-भिन्न रूपधारण करके उनके निकट प्रकट होते हैं। प्रत्येक कार्य दो ही प्रकारसे होते हैं, एक आसक्तिमूलक दूसरा भावमूलक। आसक्ति बन्धनका कारण है और भावावलम्बन मुक्तिका कारण है, इसका प्रमाण और प्रमेयसहित विस्तारित विज्ञान पहले कहा गया है। आसक्तिसे योगी भक्तका कोई भी कल्याण न होकर सब प्रकारसे अकल्याण ही हुआ करता है। परन्तु भगवद्भावसे भावित होकर जो कार्य किया जाय उससे सर्वथा कल्याण ही होगा इसमें सन्देह नहीं। विशेषतः भगवद्भावकी मुख्यता रहनेसे सब अवस्थामें सब कार्य्योंके द्वारा आध्यात्मिक उन्नतिरूप फलैक्यकी सम्भावना ही है। उदाहरणकेलिये समझ सकते हैं, कि बहुमूल्य, अमूल्य, अथवा अल्पमूल्य सब प्रकारके पदार्थ भावमुख्यताके कारण समान फल प्रसव करेंगे, इसमें सन्देह नहीं। इसप्रकारसे सकल प्रकारका प्रसादही भावमुख्यताके कारण तुल्य फलप्रद हुआ करता है॥ ४०॥

प्रसङ्गसे अपराधभेद कहे जाते हैं:—

निमित्त, संग, गुण एवं अनपेक्षाकृत, ये चार प्रकार के अपराध हैं ॥ ४१ ॥

किसी निमित्तसे, दुःसङ्गसे, गुण एवं अनपेक्षाकृत, ये चार प्रकारके अपराध होते हैं। इच्छा न होने पर भी किसी आकस्मिक कारणसे यदि कोई अपराध हो जाय तो उसको निमित्तकृत अपराध कहते हैं। मनुष्योंके कर्मोंके साथ दैव-जगत्का अनेक प्रकारका सम्बन्ध होनेसे अनेक अलौकिक घटनायें लौकिक जीवनमें संघटित होती हैं, कमसे कम अनेक समय उन सबका कारण अनुसन्धान भी नहीं हो सकता है। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—

पथि च्युतं तिष्ठति दिष्टरक्षितम्,
गृहे स्थितं तद् विहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो वने,
गृहेऽपि गुप्तोऽस्य हतो न जीवति॥

मार्गमें पड़ी वस्तु भी दैवद्वारा रक्षित होनेसे सुरक्षित होती है, एवं दैवहत होनेपर घरमें सुरक्षित रहनेपर भी नष्ट हो जाती है। अनाथ भी दैवद्वारा रक्षित वनमें भी जीवित रहता है एवं घरमें संरक्षित होकर मनुष्य जीवित नहीं रह सकता है। इसप्रकार अलौकिक कोई कारण होनेसे अनिच्छा होनेपर भी जब मनुष्यके

निमित्तसंगगुणानपेक्षाकृताश्चत्वारोऽपराधाः ॥ ४१ ॥

द्वारा जो अपराध होता है, उसीका नाम निमित्तापराध है। कुसङ्गके दोषसे मनुष्य जो अपराध करता है, वह सङ्गापराध नामसे अभिहित होता है। किसकी कैसी प्रकृति है, सो उसके सङ्गीकी परीक्षा करनेसे ही ज्ञात हो जाती है।

संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति।

संसारमें दोष अथवा गुण संसर्गसे ही उत्पन्न हुआ करते हैं। भागवतमें लिखा है कि—

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्य्यैः
विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

तपस्या, यज्ञ, गृहत्याग, शास्त्रपाठ किसीके द्वारा भी मनुष्योंको भगवत्प्राप्ति नहीं होती है, केवल महात्माओंके संसर्गसे ही होती है। और भी कहा है कि—

महत्सेवाद्वारमाहुर्विमुक्ते-
स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्।

महात्माओंकी सेवा मुक्ति और स्त्रीसङ्गियोंका सङ्ग नरकका द्वारस्वरूप है। इसप्रकार दुःसङ्गसे जिन सब अपराधोंकी उत्पत्ति होती है, उन्हींका नाम सङ्गापराध है। महात्मा भर्तृहरिने कहा है कि—

सन्तप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते.
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते।

स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते,

जायन्तेऽधममध्यमोत्तमगुणाः संसर्गतः प्रायशः ॥

एकही जल गरम लोहे पर पड़नेसे गर्मीके कारण उसका नाम तक अवशिष्ट नहीं रहता है, वही पुनः पद्मपत्रोंपर मोतीके समान शोभायमान होता है एवं स्वातीनक्षत्रके दिन समुद्रकी शुक्तिमें पड़कर वही मोतीकी उत्पत्तिका कारण होता है। अतएव उत्तम, मध्यम और अधम गुण संसर्गसे ही होते हैं। साधकके स्वभावदोषसे जो अपराध होते हैं, उनका नाम गुण-कृतापराध है। स्वभाव इतना वलवान् है कि—

अतीत्य हि गुणान्सर्वान्स्वभावो मूर्ध्नि वर्त्तते।

सकल गुणोंको अतिक्रम करके मनुष्यका स्वभाव सर्वोपरि रहता है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है कि—

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्याऽर्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ॥

जीवगण प्रकृतिके गुणोंसे मुग्ध होकर कर्ममयसंसारमें आबद्ध होते हैं। सभी प्रकृतिके वशमें हैं, निग्रहसे क्या फल होगा। इसप्रकार स्वभावके वश होकर जीव अनुकूल वस्तुमें राग एवं प्रतिकूल वस्तुके प्रति द्वेष किया करता है और इससे जो अनेक प्रकारके अपराध उत्पन्न होते हैं, वे गुणकृतापराध हैं। प्रमादजन्य अपराध ही अनपेक्षापराध कहा जाता है, क्योंकि प्रमादकी उत्पत्ति तमोगुणसे होनेके कारण उसकी विपरीत

बुद्धिकी सर्वथा सम्भावना रहती है, एवं इसमें कोई कारण न होनेपर भी प्रमादी मनुष्यके द्वारा अनेक प्रकारके अपराध हो जाते हैं। अतएव अपेक्षा न रहनेपर भी अपराध होता है, इसीसे इसका नाम अनपेक्षापराध है। इस प्रकारसे इसके चार विभाग किये गये हैं। ये सब प्रकारके अपराध भक्तकी अवनतिके कारण होते हैं, इसकारण मुमुक्षु भक्तको इन सब अपराधोंका विचार रखकर इनसे सदा वचना चाहिये तभी उसका भक्तिमार्ग सरल बना रहता है ॥४१॥

प्रसङ्गसे साधकके अधःपतनका कारण वर्णन किया जाता हैः–

पीठ, गुरु एवं प्रसादमें भौतिक, लौकिक और भोग-भावद्वारा पतन हुआ करता है ॥ ४२ ॥

पीठके प्रति भौतिकभाव, गुरुके प्रति लौकिकभाव एवं प्रसादके प्रति भोगभाव रहनेसे साधकका पतन होता है। भगवान्‌के सर्वव्यापक होनेसे उनकी सत्ता सकल वस्तुओंमें विद्यमान है। स्मृतिने "आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तन्मयं सकलं जगत्" आब्रह्मस्तम्ब-पर्यन्त सकल जगत्‌को तन्मय अर्थात् ब्रह्ममय कहा है। उनकी यह सत्ता साधककी श्रद्धा, विश्वास और वैदिकी क्रियाके बलसे नाना पीठोंकेद्वारा प्रकट हुआ करती है।

प्राणमयकोषकी सहायतासे स्थूल और सूक्ष्म जगत्‌में जो प्राणावर्तरूपी देवताओंके उपयोगी आसन अर्थात् देवा-विर्भावस्थल बनता है, उसको पीठ कहते हैं। पीठ पाँच प्रकारके

पीठगुरुप्रसादेषु भौतिक-लौकिक-भोगभावादवपतनम् ॥४२॥

होते हैं—यथा प्रथम उपासनापीठ, उपासनापीठको दिव्य-देशभी कहते हैं। उनके नाम शास्त्रोंमें कहा है, यथा "तन्त्रेषु दिव्यदेश षोडश प्रोक्ता यथात्र कथ्यन्ते अग्न्यम्बुलिङ्गवेदीभित्ति रेखा तथा च चित्रञ्च॥ मण्डलविशिखदेवो नित्यं पात्रं पीठञ्च भाव-यन्त्रञ्च। मूर्तिविभूतिनाभी हृदयं मूर्द्धा च षोडशैते स्युः"॥ (१) अग्नि (२) जल (३) लिङ्ग अर्थात् चिन्ह शिवलिङ्गादि (४) वेदी (५) भित्तिरेखा (६) चित्र (७) मण्डल (८) विशिख अर्थात् शस्त्र आदि (९) नित्ययन्त्र यथा शालग्राम-शिला और नर्मदेश्वर (१०) पीठस्थान तीर्थादिका (११) भावयन्त्र यथा शिवयन्त्र, विष्णुयन्त्र, कालीयन्त्र आदिक (१२) मूर्तिमृण्मयी अष्टधातुमयी आदिमूर्ति (१३) विभूति अर्थात् कुमारी बटुक आदि (१४) नाभि (१५) हृदय (१६) मूर्द्धा अर्थात् भ्रूयुगलके बीचका स्थान, ये दिव्यदेश कहाते हैं, ये सब उपासनापीठ हैं। द्वितीयपीठ मन्दिरादि तीर्थादि स्थानविशेष।

ये नित्य और नैमित्तिक भेदसे दो प्रकारके होते हैं। तृतीय जीवयान्त्रिक पीठ—यथा कुमारीआदिमें देवाविर्भाव अथवा सब साधनादिकमें देवाविर्भाव। चतुर्थस्थूल यान्त्रिकपीठ, यथा-घटादिक स्थूलयन्त्रोंमें प्राणशक्तिकी सहायतासे विशेष दैवी शक्तिका आविर्भाव; और पञ्चम सहजपीठ-यथा स्त्रीपुरुष सङ्गममें पीठोत्पत्ति। किसी किसी शास्त्रमें पीठके चार भेद कहे गये हैं—यथा स्थावरपीठ, तीर्थादि, द्वितीय सहजपीठ यथा—नरनारी-सङ्गमें उत्पन्न होता है। तृतीय दैवीपीठ, यथा—इन्द्र-

लोकादि, और चौथा यौगिकपीठ, यथा—पूर्वकथित उपासना-पीठआदि। इन चारोंमें पूर्वकथित पाँचो पीठोंका आविर्भाव है। पीठविज्ञानके विषयमें इस दर्शनके स्थानान्तरमें विस्तारितरूपसे कहा गया है।

इसप्रकारसे विग्रहादिमें भगवत्कलाके विकाश और आवाहनकेलिये साधककी श्रद्धा-भक्ति ही परम अपेक्षित वस्तु हुआ करती है। भगवान्का कोई भी विग्रह क्यों न हो, जिसके प्रति अनेक मनुष्योंकी श्रद्धा-भक्ति नियोजित होती है, उसकेद्वारा ही भगवान्की शक्तिका विकाश हुआ करता है। अतएव जब किसीकी बुद्धि पीठके प्रति भगवद्भावरहित होती है, तब उसका सर्वव्यापक सत्ताका अवमाननाजनक भौतिकभाव जो भगवद्विग्रह आदि पीठके प्रति होती है, वह साधककी आस्तिकताका नाश, भक्ति-श्रद्धाहीनताका दोष और आध्यात्मिकपतनका कारक होगा इसमें सन्देह नहीं है। पूर्वकथित पीठोंमें जब ऋषि देवता और पितरोंका आविर्भाव बना रहता है, तब सब पीठ ही देवतारूपसे माननीय हैं। विशेषतः जब दिव्यदेशोंके द्वारा इष्टोपासना की जाती है, तो पीठोंके साथ सगुण इष्टलोकसे साक्षात् सम्बन्ध रहता है; इसकारण पीठोंमें भौतिकभाव करना महापाप है। सुतरां ऐसी निकृष्ट-भावनासे भक्तका पतन अवश्य होता है। इसीप्रकार गुरुके प्रति लौकिक बुद्धि साधकको सिद्धिलाभ करने नहीं देती है, क्योंकि "गुरु" इस विषयका तत्त्वनिर्णय करनेपर स्पष्ट ही प्रतीत होगा

कि यथार्थ गुरु परमात्मा ही हुआ करते हैं; किन्तु परमात्माके निराकार एवं अज्ञेय अगोचर होनेसे जीवकेलिये संसार-सिन्धु-समुत्तरणार्थ सहसा निराकार परमात्माको गुरुरूपमें स्वीकार साध्यातीत है। इसकारण जिस मानवकेन्द्र द्वारा परमात्माका भाव और ज्ञान प्रकट होकर साधकके अज्ञानतिमिरान्ध नेत्रको ज्ञानाञ्जनद्वारा जो प्रकाश प्रदान करते हैं, वे गुरु हैं। इस कारण ही गुरुदेवकी शास्त्रोंमें परमात्माकी भावनासे पूजा करनेकी आज्ञा है। शास्त्रोंमें लिखा है :—

गुरुर्ब्रह्म स्वयं साक्षाद् सेव्यो वन्द्यो मुमुक्षुभिः।
नोद्वेजनीय एवाऽयं कृतज्ञेन विवेकिना ॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च पार्वती परमेश्वरी।
इन्द्रादयस्तथा देवा यक्षाद्याः पितृदेवताः ॥
गङ्गाद्याः सरितः सर्वा गन्धर्वाः सर्पजातयः।
स्थावरा जङ्गमाश्चाऽन्ये पर्वताः सार्वभौतिकाः ॥
एते चाऽन्ये च तिष्ठन्ति नित्यं गुरुकलेवरे।
श्रीगुरोस्तृप्तिमात्रेण तृप्तिरेषाञ्च जायते ॥
ध्यानमूलं गुरोर्मूर्त्तिः पूजामूलं गुरोःपदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं सिद्धिमूलं गुरोःकृपा ॥
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुस्तीर्थं गुरुर्यज्ञो गुरुर्दानं गुरुस्तपः ॥
गुरुरग्निर्गुरुः सूर्यः सर्वं गुरुमयं जगत्।
आचार्यं मां विजानीयात् नावमन्येत कर्हिचित्।

मर्त्यबुद्ध्याऽसूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥
यस्य साक्षात् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ ।
मर्त्या असद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत् ॥

गुरु साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं। उनकी इसी भावनासे ही वन्दना एवं सेवा करे और कृतज्ञपुरुष उनको कभी भी उद्विग्न न करे। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, पार्वती, परमेश्वरी, इन्द्रादि देवता अर्यमाआदि पितृदेवता, गङ्गादि नदी, गन्धर्वादि और स्थावर जङ्गम समस्त जगत् गुरुरूपी विराट्पुरुषके शरीरमें अवस्थान करते हैं। अतएव गुरुकी तृप्तिसे समस्त संसारकी तृप्ति हुआ करती है। ध्यानकी मूल गुरुमूर्त्ति है, पूजाके मूल गुरुके श्रीचरण हैं, मन्त्रोंके मूल गुरुवाक्य हैं एवं सिद्धिकी मूल गुरुकृपा है। गुरु ब्रह्मा, गुरु विष्णु, गुरु महेश्वर, गुरु तीर्थ, गुरु यज्ञ, गुरु दान और तप, गुरु अग्नि, गुरु सूर्य और समस्त जगत् गुरुमय है, इसकारण ही श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान् आज्ञा करते हैं कि मुझको ही आचार्य्य जानना, कभी अवमानना मत करना और मुझको समझकर असूया मत करना, क्योंकि गुरुही सर्वदेवमय हैं। साक्षात् भगवत्स्वरूप ज्ञानदीपप्रद गुरुके प्रति जो नराधम मनुष्य दुर्भावना करता है उसकी सब विद्या हस्तिस्नानकी तरह निष्फल हो जाती है। इसीप्रकार प्रसादके प्रति भोगबुद्धि भी साधकके पतनका कारण होती है।

पहले जो प्रसादका विस्तारित वर्णन किया गया है, उन तीन प्रकारके प्रसादोंमेंसे यहाँ पूजाप्रसादका तात्पर्य्य समझना उचित

है। पूजाप्रसादमें भोगबुद्धि करनेसे धर्मप्रसाद और आत्मप्रसादकी प्राप्ति तो होती ही नहीं, अधिकन्तु भोगबुद्धिकेद्वारा साधकको बन्धनकी प्राप्ति होती है। उदाहरणके लिये समझ सकते हैं कि, खाद्यवस्तुके प्रति जो स्वाभाविकी रसनेन्द्रियलालसा जीवमें विद्यमान है, वह भगवत्प्रसाद-ज्ञानसे निवृत्त हो जाती है, क्योंकि प्रसादबुद्धि भावशुद्धिविधान करती हुई प्राकृतिकलोभको प्रशमित कर देती है। किन्तु यदि प्रसादके प्रति भोगबुद्धि होती है, तो फिर भावशुद्धि नहीं रहती है। इसकारण इस प्रकारकी बुद्धि साधकके अधःपतनका कारण होती है ॥ ४२ ॥

प्रसङ्गसे क्रमोन्नतिके साधनोंका दिग्दर्शन कराया जाता है—

सहायक होनेसे ये मुख्य हैं ॥ ४३ ॥

पहले जिस प्रकारके भावोंका विषय कहा गया है, उनके यथार्थरूपसे साधन करनेपर साधककी उन्नतिमें सहायता होती है। अतः उसप्रकारके भाव मुख्यसाधन-रूपसे माने गये हैं। पीठके प्रति भौतिकभाव न रखकर पवित्र दिव्यभाव रखनेसे पूर्व-सिद्धान्तानुसार साधककी आध्यात्मिक उन्नति होती है। इसीप्रकार गुरु जगद्गुरुके प्रति ब्रह्मभाव और प्रसादके प्रति भोगबुद्धिका अभाव आध्यात्मिक उन्नतिमें सर्वथा सहायक हुआ करता है। इष्टदेवको चढ़ाया हुआ अथवा गुरुदेवको चढ़ाया हुआ जो पदार्थ हो उस परसे अपना भोगबुद्धिका सम्बन्ध हटादेनेसे ही वह स्थूल-

---

मुख्यान्येतानि सहायकत्वात् ॥ ४३ ॥

प्रसाद आत्मप्रसाद उत्पन्न करके आध्यात्मिक उन्नति प्रदान करता है और किस प्रकार इन तीनोंके द्वारा साधककी क्रमोन्नति हो सकती है, उसका रहस्य तीनोंके विज्ञानके साथ पहले ही सिद्ध होचुका है। अतएव पूर्वसूत्रकथित त्रिविधभावही मुख्य हैं ॥४३॥

साधककी उन्नतिका क्या लक्षण है सो कहा जाता है :—

दिव्यभावोंका विकास उन्नतिका लिङ्ग है ॥ ४४ ॥

पूज्यपाद महर्षिसूत्रकार इस सूत्रद्वारा साधककी उन्नतिके अपने मतके अनुसार प्रधान लिङ्ग अर्थात् लक्षण वर्णन करते हैं।

आगेके सूत्रोंमें अन्यान्य महर्षियोंके इसविषयके मत वर्णन करेंगे।

दिव्यभावोंके विकाशद्वारा ही साधककी उन्नति सूचित हुआ करती है। सृष्टिमें दैवी और आसुरी, ये दो प्रकारकी सम्पत्ति विद्यमान हैं। इन दो सम्पत्तियोंकी प्रतिद्वन्द्विता ही शास्त्रोंमें देवासुरसंग्रामके नामसे अभिहित है। दैवीसम्पत्ति जीवकी उन्नति करती है, किन्तु आसुरीसम्पत्तिके द्वारा जीवकी अधोगति हुआ करती है। दैवीसम्पत्ति पुण्यमय और आसुरीसम्पत्ति पापमय है। गीतामें लिखा है कि—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥

दिव्यभावविकाशो लिङ्गमुन्नतेः ॥४४॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥
दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥

श्रीभगवान्ने कहा है—निर्भय होना, अन्तःकरण शुद्ध होना, ज्ञानमें स्थित होना, दान देना, इन्द्रियोंको रोकना, यज्ञ करना, वेदशास्त्रको पढ़ना, तप करना, सरलभाव सीधापन, हिंसा न करना, सत्यबोलना, क्रोध न करना, विषयोंका त्याग करना, शान्त रहना, निन्दा न करना, जीवोंपर दया करना, लोभ न होना, मीठी वाणी बोलना, लज्जा करना, चञ्चल न होना, तेजस्वी होना, क्षमा, धैर्य रखना, पवित्र रहना, द्रोह न करना, अभिमानसे रहित होना, ये अवस्था उस पुरुषमें होती है जिसकी दैवी प्रकृति होती है ।

हे पार्थ ! आसुरी प्रकृतिके मनुष्योंका लक्षण यह है—दम्भ अर्थात् पाखण्डी होना, अहङ्कारी होना, दर्प अर्थात् नम्रता न होना, क्रोध करना, कठोर वचन कहना, ज्ञानरहित होना ।

हे अर्जुन ! दैवी प्रकृतिसे मोक्ष होता है और आसुरीसे बन्धन होता है । तुम सोच मत करो तुम्हारी प्रकृत्ति दैवी है ।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्तः आसुरं पार्थ मे शृणु ॥
प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानो अल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥
चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ताः मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

आत्मसम्भाविताः स्तब्धाः धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधञ्च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

हे पार्थ ! इस लोकमें दो प्रकारके प्राणी हैं, एक दैवी प्रकृतिवाले और दूसरे आसुरी प्रकृतिवाले, दैवी प्रकृतिवाले मनुष्योंका लक्षण विस्तारसे कह चुका हूँ, आसुरीका कहता हूँ—

असुरभाव सम्पन्न मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्तिको नहीं जानते हैं, न उनमें शुद्धि है और न आचार और न सत्य ही है। वे कहते हैं कि, जगत् असत्य अर्थात् मिथ्या है, कोई ईश्वर नहीं है, परस्पर स्त्रीपुरुषके संयोगसे है और काम ही कारण है। वे अज्ञानी तुच्छ बुद्धिवाले जगत्को नाश करनेकेलिये ही पैदा हो रहे हैं।

ऐसी कामनाओंको लेकर जिनका पूरा होना दुर्लभ है दम्भ, मान, और मोहके वशीभूत होकर असत्य वस्तुको प्राप्त करनेके लिये सदा यत्न करते रहते हैं, वे मरणपर्यन्त अपार-

चिन्ताओंके आश्रय होकर ऐसा निश्चय रखते हैं, कि काम और भोग ही उत्तम है। सैकड़ों आशाओंकी फासीमें बँधे हुए काम और क्रोधपरायण और अपनी कामना तथा भोगकेलिये अन्यायसे धनको इकट्ठा करनेमें लगे रहते हैं।

मैंने आज यह प्राप्त किया है और कल इस मनोरथको प्राप्त करूँगा तथा यह धन मेरा है और आगे भविष्यमें भी मेराही होगा। मैंने इस शत्रुको मारा है तथा दूसरोंको भी मारूँगा, मैं ऐश्वर्य्यवान् हूँ, भोगी हूँ, सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ और सुखी हूँ।

मैं धनवान् हूँ, मेरा उत्तम कुलमें जन्म हुआ है, मेरे समान और कौन है, मैं यज्ञ करूँगा, दान दूंगा और आनन्द करूँगा, इस अज्ञानमें मोहित रहते हैं। जिनके मनमें अनेक प्रकारकी झूठी वासना समा रही है और मोहके जालमें फसे हुये हैं तथा काम-भोगमें आसक्त होरहे हैं, वे घोर नरकमें पड़ते हैं। अपने आपही को श्रेष्ठ मानते हैं, नम्रतारहित, धन, मान और मोहसे युक्त रहते हैं तथा दम्भसे विधिरहित नाममात्रकेलिये यज्ञ करते हैं।

अहङ्कार, बल, अभिमान, काम और क्रोधके आश्रय होकर, वे सम्पूर्ण जीवोंके शरीरमें रहनेवाला मुझसे द्वेष रखते हैं तथा मेरी निन्दा करते हैं। मैं उन द्वेषकरनेवाले खोटे पुरुषोंको बार बार आसुरीयोनियोंमें पटकता हूँ। हे अर्जुन ! वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्मान्तर आसुरीयोनिमें भटकते रहते हैं और मुझको प्राप्त नहीं होते हैं, इसीकारण अधमगतिको जाते हैं।

आसुरी सम्पत्ति नष्ट होकर पूर्वकथित दैवी सम्पत्तिका विकाश जब अधिक होगा, तभी साधकमें भक्तिका उदय होगा। महर्षि अंगिराके मतमें साधकमें आसुरीभाव नष्ट होकर जितनी ही दैवीक्रिया, दिव्यभाव और दैवीसम्पत्ति प्रकाशित होती है, उतनीही साधककी क्रमोन्नति सूचित हुआ करती है ॥४४॥

साधनराज्यकी उन्नतिके लक्षणोंके विषयमें अन्यान्य महर्षियोंके मत क्रमशः दिखाये जाते हैं:—

पूजादिमें रति ही ऐसी उन्नतिका लक्षण है, यह महर्षि वेदव्यासका मत है ॥४५॥

भगवत्पूजादिमें अनुराग साधककी चित्तगतिको कल्याणवाहिनी करके साधकको आध्यात्मिक मार्गमें उन्नत किया करता है, इसकारण महर्षि वेदव्यासके मतमें पूजादिमें अनुरागही साधनराज्यमें उन्नत होनेका लक्षण है। पूजा दो प्रकारकी है, बहिःपूजा और अन्तःपूजा। स्थूलमूर्तिमें बाह्य अर्चन धूप दीप नैवेद्यादिके द्वारा पूजा करना बहिःपूजा कही जाती है। अन्तःपूजा द्विदलमें अथवा हृदयकमलासनमें भगवान्‌की मनोमयी मूर्त्ति स्थापन करके अन्तःकरणके द्वारा ही अनुष्ठित हुआ करती है। इस द्विविध पूजामें रतिही साधनमार्गमें अग्रसर होनेकी सहायकः होनेसे साधककी उन्नतिकी लक्षणरूपा है।

मनुष्य अपने वृत्तियोंका पुतला है। अपनी वृत्तियोंके अनुसार

पूजादिषु रतिरिति पाराशर्यः ॥ ४५ ॥

ही साधक भावित होकर ही अपने इन्द्रियोंकी तृप्तिद्वारा आनन्द-प्राप्तिका प्रयत्न करता है। जिस भावसे भावित होकर जिन पदार्थोंमें मनुष्य आनन्द अनुभव करता है, उसी शैलीपर उन्हीं भाव और उन्हीं पदार्थोंकी सहायतासे मनुष्य अपने प्रियजनको उनके अर्पणद्वारा आनन्द अनुभव करता है। सुतरां भक्तिमान् साधक अपने स्वभावसिद्ध भावकी सहायतासे अपनी प्रिय वस्तुओं-के अर्पणादिद्वारा अपने हृदयनाथ श्रीभगवान्‌को सन्तुष्ट करके स्वयं सन्तुष्ट होनेकी रुचि रखता है और ऐसा होना ही स्वभाव-सिद्ध है, इस पूजाका यही रहस्य है। साधकमें जितना-जितना सद्भाव-सेवित इष्टपूजाकी प्रवृत्ति बढ़ती जायगी, उतनी ही उसमें भक्तिका उदय होता जाता है, ऐसा समझना उचित है।

अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति तथा सद्भावजनित सुखभोगका संस्कार तथा अभ्यास जितना जितना अपनेमेंसे घटकर अपने इष्टदेवकी ओर बढ़ेगा, उतनीही भक्तिकी वृद्धि होगी। भाव शब्द-द्वारा प्रकाशित होता है। अन्तर्भावका द्योतक मुखनिश्रित शब्द है। सुतरां जैसे शब्द साधकके मुखसे सदा निकला करते हों, उनके सुननेसे साधकका अन्तर्भाव ज्ञात होता है। सुतरां साधकके मुखसे जब अन्य वैषयिक कथा सदा न निकला करे, और उसके मुखसे भगवद्रूप तथा गुणानुवादही जब अधिक निकला करे तभी उस साधकमें भक्तिभावका उदय हुआ है ऐसा समझना उचित है। साधारणतः अन्तर्भाव पहचानना कठिन होता है, इसकारण भगवत्‌कथाकी सहायतासे अन्तःकरणका

भक्तिभाव पहचाननेकी शैलीको महर्षि व्यासने मुख्य माना है।

भावतत्त्व अन्तिम तत्त्व है, इसीकारण भगवान् भावातीत कहे जाते हैं। भाव ही नाम और रूपका जनक है, यह पहले ही भलीभाँति सिद्ध हो चुका है, इसीकारण भावसे सम्बन्धयुक्त स्थूलमूर्त्तिके अवलम्बनसे वहिःपूजा अथवा अन्तःपूजाकी विधि उपासनाकाण्डका प्रधान अवलम्बन है। ऐसे उपासनाकाण्डके प्रधान अवलम्बनका जिस सत्पुरुषमें विकाश हो, उसमें भक्तिका लक्षण प्रकाशित हुआ है, इसमें सन्देह ही क्या है॥ ४५ ॥

अब महर्षि गर्गका मत कहते हैं—

कथादिमें रति ही एतादृश उन्नतिका लक्षण है, यह महर्षि गर्गका मत है ॥४६॥

भगवत्कथादिमें अनुराग साधकको भक्तिमार्गमें अग्रसर किया करता है, यह गर्गमहर्षिका मत है। इसकारण यह साधककी उन्नतिका लक्षण है। साधनातिरिक्त समयमें भी यदि स्वभावतः ही भक्तके चित्तमें भगवत्कथाके श्रवणार्थ प्रेम उदय हो, तो जानना होगा कि, भक्त आध्यात्मिक मार्गमें अग्रसर हुआ है।

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो—

नाऽन्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य

कथादिषु रतिरितिगर्गः ॥४६॥

लीलाकथारसनिषेवण- मन्तरेण
पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्दितस्य ॥
संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम् ।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः ॥
मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा ।
न कथ्यते यद्भगवानधोक्षजः ॥
तदेव सत्यं तदु हैव मङ्गलं
तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् ॥
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् ।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते

अर्थात् दुस्तर संसारसमुद्रसे पार होनेके लिये भगवान्‌की कथा-का रसनिवेषण ही एकमात्र तरणीस्वरूप है। विविधतापसंतप्त जीव लीलाकथातरणीके आश्रयसे ही संसार सिन्धुपार हो सकता है। भगवान्‌की गुणकथा कीर्तित होनेपर अनन्तपुरुष साधकके चित्तमें प्रविष्ट होकर सूर्य जिसप्रकार अन्धकारको अथवा आँधी जिस प्रकार मेघोंको दूरीभूत करती है, उसीप्रकार साधकके चित्त-गत सकलमल अपसारित किया करते हैं। जिस बातमें भगवान्‌की कथा नहीं है, वह बात वृथा बात है, भगवत्कथा ही सत्य,

मङ्गलमय, पुण्यमय, रमणीय, मनोहर और नित्य नवीनता पूर्ण है। इससे चित्तको नित्यानन्द होता है और दुःखार्णवका नाश होता है। भगवत् एतादृश कथारति अवश्य ही उन्नतिकर एवं दिव्य-भावका लक्षण होगा इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है॥ ४६॥

अन्य मत कहा जाता है:—

अबाधित आत्मरति ही ऐसी उन्नतिका लक्षण है, यह महर्षि शाण्डिल्यका मत है॥ ४७॥

महर्षि शाण्डिल्यका मत यह है कि, जिस समय साधक बाधारहित होकर परमात्माके प्रति अनुरक्त हो सके, तब जानना होगा कि, साधक अध्यात्मराज्यमें अग्रसर हुआ है। आत्माकी ओर स्थिर रतिमें कुछ बाधा न रहे, ऐसी जब धारणा साधकमें उत्पन्न हो जाय, तभी महर्षि शाण्डिल्यके मतमें भक्तिका उदय समझना उचित है। आसक्तिसे बन्धन और भावसे मुक्तिका विज्ञान पहले ही कहा गया है। उस विज्ञानके अनुसार विषयासक्ति दूर होकर जब साधकका चित्त अन्य भावमें भावित होकर भावावेशसे सदा आत्मरतिसे युक्त रहे, वही भक्ति प्रकाशक एवं उत्तम दशा मानी गयी है। चाहे साधकका चित्त बहिर्मुख हो या अन्तर्मुख हो, सब समय उसके चित्तकी गति अध्यात्मभावसे युक्त रहेगी, साधक जो कुछ शरीर, मन और वचनसे करेगा, वह सब भगवद्भावसे भावित होकर करेगा; इस प्रकारकी दृढ़ भक्ति

आत्मन्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः॥ ४७॥

आत्मरतिके साधकमें उदय होना ही त्रिलोक पवित्रकारिणी भक्तिके आविर्भावका प्रधान लक्षण है। भगवान् वेदव्यासने योगदर्शनके भाष्यमें आज्ञा की है कि—

चित्तं नदीनामुभयतो वाहिनी
वहति कल्याणाय वहति पापाय च।

चित्तरूपिणी नदीका प्रवाह पाप और पुण्य इन दोनों ओर ही प्रवाहित हुआ करता है। चित्तकी एक ही शक्तिको सत्त्वगुणकी ओर प्रवाहित करके मनुष्य पुण्यात्मा और साधक अथवा तमोगुणकी ओर प्रवाहित करके मनुष्य विषयपरायण और पापात्मा हो सकता है।

भक्तिशिरोमणि प्रह्लादने इसीकारण भगवान्से प्रार्थना की है—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

हे भगवन्! जिसप्रकार विषयी पुरुषोंका चित्त विषयमें अत्यन्त आसक्त होकर उनमें ही एकरतिको प्राप्त करता है उसी प्रकार मेरा चित्त आपमें ही एकरतिको प्राप्त हो जाय। जब भक्तिभावपूर्ण चित्त जाह्नवीकी अविरल पवित्रधाराके समान सच्चिदानन्द समुद्रके प्रति धावित होता है एवं संसारकी कोई वाधा भी उसकी प्रबलगतिका प्रतिरोध करनेमें समर्थ नहीं होती है, तब जानना होगा कि, भक्त साधकमें आत्मरतिके अविरुद्ध वृत्तिरूप साधनमार्गीय उन्नतिका लक्षण प्रकाशित हुआ है॥ ४७॥

अन्य मत कहा जाता है : -

भगवान्‌की महिमा वर्णन करना ही ऐसी उन्नतिका लक्षण है, यह महर्षि भरद्वाजका मत है ॥ ४८ ॥

जिस समय साधकके चित्तमें श्रीभगवान्‌के लोकातीत अनुपम माहात्म्यके वर्णन करनेमें स्पृहा उत्पन्न होती है तब जानना चाहिये कि, साधक उन्नतिके मार्गमें अग्रसर हो रहा है, यही महर्षि भरद्वाजका मत है। साधन-समयके अतिरिक्त समयमें भी जब साधक भगवत्प्रेममें मुग्ध हो उनकी सुमधुर गुणावलीका कीर्तन करता हुआ समस्त संसारको पवित्र करके विचरण करता है, तब जानना होगा कि, उस भक्तका हृदयकमल श्रीभगवान्‌के प्रति परम प्रेमरूपी मधुर किरणद्वारा प्रफुल्लित हुआ है एवं इसप्रकारका भक्त अध्यात्मराज्यमें शीघ्रही विशेष प्रतिष्ठालाभ करेगा इसमें सन्देह ही क्या? जब साधकके चित्तमें भगवन्महिमा दृढ़-रूपसे प्रतिष्ठित हो जाती है और जब उस भगवन्महिमाके अहर्निश जगत्‌में प्रकाशित करनेकी प्रवृत्ति साधकमें दिखायी देने लगती है, तभी इस सूत्रोक्त विज्ञानकी सार्थकता होती है और ऐसी दशामें साधक महिमावर्णन किये बिना रह नहीं सकता। वस्तुतः भक्तिभावका प्रकाशक यह लक्षण भक्तिका यथार्थ द्योतक है, इसमें सन्देह नहीं।

महिमाख्यानमिति भरद्वाजः ॥ ४८ ॥

श्रीभगवान् व्यासदेवने भागवतमें कहा है कि—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्—
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥
शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे—
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥

विषय-तृष्णाविहीन मुक्त महात्मागण दिनरात जिन चरणोंका गुणगान करते रहते हैं, जो भवव्याधिका अमोघ महौषध है, श्रवण और मनको आनन्द देनेवाले इस प्रकारके श्रीभगवान्के महिमाकीर्त्तनसे नराधम चाण्डालके अतिरिक्त और कौन विरत हो सकता है ? इसीकारण भक्तगण उनकी लोकातीत मधुर चरित्र-कथा एवं अवताररूपसे उनके जन्म और कर्मादिका विषय श्रवण करते हुए विषय-संगरहित और लज्जाआदि पाशरहित होकर उनकी ही महिमा कीर्त्तन करते-करते समस्त संसारमें भ्रमण किया करते हैं । श्रीभगवान्ने गीतामें आज्ञा की है कि—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवाऽनुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

मैं ही समस्त जगत्की उत्पत्तिका कारण हूँ एवं मुझसे समस्त संसारकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, ऐसा जानकर ज्ञानी व्यक्ति भावविलसित चित्तसे मेरी आराधना किया करते हैं। वे मन और प्राण मेरेमें ही समर्पण करके मेरा ही गुणकीर्त्तन और मधुरालापनद्वारा आनन्दके साथ संसारमें विचरण किया करते हैं। इस प्रकारसे प्रीतिपूर्वक मदाराधानपरायण मदेकचित्त साधकों-को मैं बुद्धियोग प्रदान करता हूँ, जिससे वे मुझको प्राप्त करते हैं। उनपर कृपा करके मैं उनके हृदयमें ज्ञानालोक प्रकट करता हुआ बुद्धि-स्थित अन्धकारको नष्ट करता हूँ। अतः भगवान्की इस प्रकारकी अनुकम्पाका पात्र भगवन्महिमा-कीनर्त्तपरायण साधक अचिरात् उन्नतिके मार्गमें अग्रसर होगा, इसमें और क्या संशय हो सकता है? यही पूज्य महर्षि भरद्वाजनिर्दिष्ट महिमाख्यानरूप साधककी उन्नतिका लक्षण है ॥ ४८ ॥

अन्य मत कहा जाता है :—

जगत्सेवामें प्रवृत्ति होना ही ऐसी उन्नतिका लक्षण है, यह महर्षि वसिष्ठका मत है ॥ ४९ ॥

जगत्सेवाप्रवृत्तिरिति वशिष्ठः ॥ ४६ ॥

जब साधककी प्रवृत्ति जगत्सेवामें नियोजित और आकृष्ट होती है, तब जानना होगा कि, साधकने साधन-राज्यमें उन्नति की है यही महर्षि वशिष्ठका मत है। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है कि—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

भगवद्भक्त अनेक जन्मोंके पश्चात् पराभक्तिके द्वाराज्ञान-प्राप्त करता हुआ समस्त जगत्को भगवद्रूप देखकर कृतार्थ होता है। यही भक्तिमार्गकी उत्तम अवस्था है, एवं इसप्रकारके भक्त संसारमें दुर्लभ हैं। इसतरह आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समस्त संसारमें श्रीभगवान्का स्वरूप निरीक्षण करनेसे भक्त स्वभावसे ही भगवत्सेवारूपसे जगत्की सेवामें प्रवृत्त होगा इसमें और सन्देह ही क्या है ? अतएव जगत्को ब्रह्मरूप जानकर भगवत्सेवारूपसे जगत्की सेवा करना जब ज्ञानी भक्तकी उन्नत अवस्था है, तब जगत्सेवामें प्रवृत्ति अवश्यही साधनमार्गमें उन्नतिका परिचायक है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं रह सकता है। कार्यब्रह्म और कारणब्रह्ममें कुछ भेद नहीं है। कार्यब्रह्मरूपी जगत् और कारणब्रह्मरूपी श्रीभगवान् दोनों ही एक हैं, इसको वेद और शास्त्रोंमें हाथ उठाकर बार-बार कहा है। अस्तु, कार्यब्रह्मकी सेवाद्वारा कारणब्रह्मकी सेवा स्वतः ही विज्ञानसिद्ध है और ऐसी परमोदार सेवासे स्वतः ही भक्तिकी प्राप्ति हो जाना स्वाभाविक है।

यही महर्षि वशिष्ठ कथित जगत्सेवा प्रवृत्तिरूप साधककी उन्नतिका लक्षण है। श्रीभगवान् वेदव्यासप्रणीत श्रीमद्भागवतमें इसप्रकार परमात्माका रूप जानकर जगत्के हितसाधनमें परायणभक्तकी विशेषमहिमा वर्णन की गयी है एवं जगत्सेवा-विमुख भक्तकी निन्दा की है यथा—

निषेवितानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः॥
मद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्शपूजास्तुत्यभिवन्दनैः।
भूतेषु मद्भावनया सत्वेनाऽसङ्गमेन च।
महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया।
मैत्र्या चैवाऽऽत्मतुल्येषु यमेन नियमेन च॥
मद्धर्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः।
पुरुषस्याऽञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम्॥
अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्माऽवस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वाऽर्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः।
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति॥
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयाऽनघे।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः॥
आत्मनश्च परस्याऽपि यः करोत्यन्तरोदरम्।

तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्वणम् ॥
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याऽभिन्नेन चक्षुषा ॥
मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहुमानयन् ।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥

सकल प्राणीमात्रमें भगवद्भावना करते हुये निष्काम कर्मयोगमें जो भक्त प्रवृत्त होता है एवं भगवत्प्रतिमाके प्रति पूजा, स्तुति और वन्दनादिद्वारा विशेषभक्ति प्रदर्शन करता है, जो महत्पुरुषोंके प्रति सम्मानद्वारा, दीनोंके प्रति अनुकम्पाद्वारा और सम-प्रतिष्ठापन्न मनुष्योंके प्रति मैत्रीभावके प्रेम प्रदर्शन करता है, इस प्रकारका यम-नियमशील, हिंसाभावरहित, स्वधर्मानुरक्त भक्त शीघ्र ही परिशुद्धान्तःकरण होकर परमपुरुषको प्राप्त हो जाता है। श्रीभगवान् भूतात्मारूपसे सकल जीवोंमें ही विद्यमान रहते हैं अतएव जगज्जननिवासरूप उन भगवान्‌की उपेक्षा करके जो अन्य-प्रकारसे पूजा करता है, उसकी पूजा केवल विडम्बनामात्र है। इसप्रकारकी पूजा भस्ममें आहुति देनेके समान हुआ करती है। जो दूसरेके शरीरस्थ भगवान्‌से द्वेष करता हुआ आत्मपरभावसे युक्त होकर रागद्वेषद्वारा प्राणियोंके प्रति वैरभाव रखता है उसके चित्तमें कभी भी शान्ति प्राप्त नहीं होती है। इसप्रकारसे भूतग्राम-(जीवों) के प्रति अवमाननापरायण मनुष्यके बाह्य परम मूल्यवान् उपचारोंकेद्वारा भगवान्‌की पूजा करनेपर भी उससे परमपिता भगवान्‌की तुष्टि नहीं हो सकती है। अपनेमें

और दूसरेमें जो अज्ञानवश भिन्नभाव देखता है श्रीभगवान् कालरूपसे उसको भवभयकी यन्त्रणा प्रदान किया करते हैं। अतएव जगज्जीवनिवासशील श्रीभगवान्की पूजाके अर्थ सम-दर्शी होकर मित्रभावकी दृष्टिसे दान और मानके द्वारा समस्त जीवोंकी सेवा करनी उचित है। ईश्वर ही जीवरूपसे समस्त जगत्में व्यापृत है, इसप्रकारके भावसे मन लगाकर समस्त जीवोंको प्रणाम और उनका सत्कार करना उचित है। अतः जगत्को श्रीभगवान्का स्वरूप समझकर, जो जीव जैसा अधि-कारी हो, उसी प्रकार किसीको द्रव्य, किसीको विद्या, किसीको ज्ञानदान आदिद्वारा भगवत्सेवा समझकर सेवापरायण होनेसे साधक भगवद्भक्ति लाभ करनेमें समर्थ होता है। ऐसी जगत्सेवा-प्रवृत्ति जिस महापुरुषमें है, वह मुक्तिप्रदा भगवद्भक्तिका अधि-कारी अवश्य ही है, यही महर्षि वसिष्ठ-कथित साधनोन्नतिका लक्षण है ॥ ४९ ॥

अन्य मत कहा जाता है :—

उनको सब कर्म-समर्पण करना ही ऐसी उन्नतिका लक्षण है, यह महर्षि कश्यपका मत है ॥ ५० ॥

जब साधक अपने किए हुए समस्त कर्मही श्रीभगवान्के चरणकमलोंमें समर्पित कर सके तब जानना होगा कि, उसने भक्तिमार्गमें उन्नति प्राप्त किया है, यही महर्षि कश्यपका मत है।

तदर्पिताऽखिलाचरण इति कश्यपः ॥ ५० ॥

मुक्तस्वरूप आत्मा स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीररूपी उपाधि प्राप्त होकर ही त्रिविध शरीरकृत कर्मोंके साथ निजाभिमान रखता हुआ बद्ध होता है, श्रुतिने कहा है कि—

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवाऽयं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥
गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाऽधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः॥
संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चाऽऽत्मविशुद्धजन्म।
कर्म्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रद्यते॥
स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः॥

आत्मा स्त्री पुरुष वा नपुसंक कुछ भी नहीं है, केवल शरीराभिमानवशातः ही उसमें इसप्रकारके भाव आरोपित होते हैं। प्रकृतिके त्रिगुणद्वारा उपहित होकर देही, शरीर और मनद्वारा अनुष्ठित कर्मोंका कर्त्ता और उपभोक्ता अपनेको ही मान लिया करता है, एवं इस प्रकार संकल्प और अहंकारद्वारा बद्ध जीवको जन्मजन्मान्तरकी प्राप्ति हुआ करती है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है कि—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

प्रकृतिके त्रिगुणद्वारा ही सब कर्म हुआ करते हैं, परन्तु अहंभावापन्न जीव अपनेको इन सब कर्मोंका कर्त्ता समझता है। इस प्रकारसे प्रकृतिगत कर्मबन्धनसे बद्ध होकर जीवको भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है। अतएव कर्मोंके प्रति आसक्ति ही जब संसारबन्धनका कारण है, अतः जो साधक सकल कर्म श्रीभगवान्‌को समर्पण करके कर्म-विपाक-जनित फलाफलके साथ अपने आत्माको निर्लिप्त रख सकता है, वह शीघ्रही कर्मासक्ति और अहङ्कार का त्याग करता हुआ प्रकृति-बंधनसे निर्मुक्त हो सकेगा इसमें और सन्देह क्या है ? श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंमें सब कर्म समर्पण कर देनेसे साधकके चित्तसे कर्त्तृत्वाभिमान शीघ्रही मूलसहित विनष्ट हो जाता है एवं इस प्रकार व्यष्टिसत्ताके साथका अहंकार विदूरित होनेपर साधक शीघ्रही समष्टिसत्ताके साथ अपने आत्माको मिलाकर स्वस्वरूपकी उपलब्धि कर सकता है। अतएव महर्षि कश्यप-कथित "तदर्पिताऽखिलाचरण" साधकको उन्नतिका लक्षण है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। श्रीभगवान्‌ने भी इसीकारण गीतामें कहा है कि—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाऽशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥

हे अर्जुन ! तुम जो कोई कार्य्य करो, भोजन करो, होम करो, दान करो, वा तपस्या ही करो, वह सभी मेरे समर्पण करो । इसप्रकारकी समर्पणबुद्धिद्वारा शुभाशुभ कर्मबन्धनसे मुक्तिलाभ कर सकोगे एवं संन्यासयोगयुक्तात्मा और मुक्त होकर मुझे प्राप्त कर सकोगे । जो भक्त समस्त कर्म मुझे समर्पण करके मत्परायण हो अनन्ययोगसे मेरी ही उपासना करता है, मैं उस मदाविष्टचित्त भक्तको शीघ्रही मृत्युमय संसार-समुद्रसे उद्धार करता हूँ । यही "तदर्पिताऽखिलाचरण" साधकको भक्तिराज्यमें उन्नतिका परम परिचायक है ॥ ५० ॥

अब अन्य मत कहा जाता है:—

उनका विस्मरण होनेपर व्याकुलता-प्राप्ति होना ही ऐसी उन्नतिका लक्षण है, यह महर्षि नारदका मत है ॥ ५१ ॥

जब भक्तके चित्तमें श्रीभगवान्के प्रति इस प्रकारका निविड आकर्षण उत्पन्न हो कि, उनके विरहसे भक्तका चित्त अत्यन्त-

---

तद्विस्मरणाद् व्याकुलता इति नारदः ॥ ५१ ॥

व्याकुल होकर छटपटाने लगे, तब जानना होगा कि, भक्तने साधनमार्गमें विशेष उन्नति प्राप्त किया है, यही महर्षि नारदका मत है। जबतक साधकका चित्त श्रीभगवान्‌की ओर झुका हो तबतक विकलता न रहे, शान्ति और आनन्द बना रहे और गुण-प्रभावसे चित्त श्रीभगवान्‌की ओरसे हटते ही जब साधकके चित्तमें घोर अशान्ति और दुःख अनुभव होने लगे, तभी देवर्षि-नारदके मतमें भक्ति-उदयका लक्षण उक्त साधकमें प्रकट हुआ है ऐसा समझना उचित है। लौकिक जगत्‌में साधारणतः प्रेमपात्रके प्रति प्रेमकी दो ही अवस्था देखी जाती है, एक प्रेमपात्रके सम्मुख आते ही प्रेमका विकाश और उसके विदेशमें जानेपर प्रेमपात्रकी सान्निध्यता न होनेसे आकर्षणकी अल्पता और प्रेमकी विस्मृति अथवा अल्पस्मृति होती है, यह प्रेमकी साधारण अवस्था है। परन्तु पतिप्राणा सतीके प्रेमकी तीव्रताका उदय होता है कि, पतिके प्रवासमें गमन करनेपर अथवा प्रेमपात्रके आँखसे अलग होते ही प्रेमासक्त मनुष्यका हृदय विरहकी यन्त्रणासे व्याकुल हो जाय, तब जानना होगा कि, यह प्रेम विशेष उन्नतदशाको प्राप्त हुआ है। लौकिक जगत्‌के इस प्रकारके प्रेमभावके समान श्रीभगवान्‌के प्रति जब भक्तके हृदयका प्रेमप्रवाह इसप्रकार गम्भीरभावसे प्रवाहित होता है कि, श्रीभगवान्‌के विरहमें भक्त एक क्षण भी स्थिर नहीं रह सके, उसका हृदयसिन्धु उद्वेलित होकर अश्रुधारा-से वक्षःस्थल प्लावित हो जाय, विरहकी तुषाग्नि रातदिन हृदय-काननको दग्ध करती रहे, तभी जानना होगा कि, भक्तने प्रेममय

साधनराज्यमें विशेष उन्नति प्राप्त की है। श्रीभगवान् पतञ्जलिने योदर्शनमें 'तीव्रसंवेगानामासन्नतमः' चित्तके तीव्र संवेग उपस्थित होनेपर भगवत्कृपा शीघ्रही प्राप्त होती है, ऐसा कह कर महर्षि नारदके मतका ही अनुमोदन किया है। श्रीमद्भागवतमें गोपीगणके प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान्ने इसप्रकारके विरहकी ही महिमा वर्णन करते हुए कहा है कि—

नाऽहन्तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
यथाऽधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयाऽन्यं निभृतो न वेद ॥
एवं मदर्थोज्झितलोकवेद—
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः ।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत्प्रियं प्रियाः ॥

भगवान्के प्रति गोपियोंका विशेषप्रेम रहनेपर भी वे जो वीच वीचमें गोपियोंके सामनेसे अन्तर्हित हो जाते थे उसका कारण यह है कि, प्रेममें विरह प्राप्त होनेसे प्रेमकी जो कुछ न्यूनता है, वह दूर होकर भगवान्के प्रति गोपियोंको मोक्षप्रद पूर्णप्रेम प्राप्त हो, क्योंकि गोपियाँ जब उनके लिए संसारका त्याग करके आयी हैं तो उनके प्रति किये जानेवाले पूर्ण प्रेमके मार्गमें जो कुछ अन्तराय है, वह विरहाग्निद्वारा दग्ध होना ही आवश्यक है। गोपियोंने श्रीभगवान्के विरहमें किस प्रकार यन्त्रणाका अनुभव किया था, एवं

उनके अन्तर्धान होनेपर व्याकुलतासे छटपटाकर उन्मादिनीके समान समस्त वनमें परिभ्रमण और उनका अन्वेषण तथा प्रार्थना की थी, वह भी भागवतमें वर्णित है—

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः ।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम् ।
गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता
विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम् ।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहि-
र्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ।।
हा नाथ ! रमण ! प्रेष्ठ ! क्वाऽसि क्वाऽसि महाभुज !
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ॥

अतएव महर्षि नारदकथित उनके विस्मरण होनेपर व्याकुलता प्राप्ति साधनकी उन्नतिका एक अति उत्तम लक्षण है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ५१ ॥

भगवत्प्रीति-(भक्ति) के मूलमें क्या भाव होना चाहिये, इस विषयमें कहा जाता है :—

माहात्म्यज्ञान अपेक्षित है ॥ ५२ ॥

श्रीभगवान्‌के प्रति जो प्रेम है, उसके मूलमें माहात्म्यज्ञान रहनेसे उस प्रेमके द्वारा साधककी उन्नति हुआ करती है ।

पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने पहले अपना मत कहकर उसके

माहात्म्यज्ञानमपेक्ष्यम् ॥ ५२ ॥

पश्चात् अन्य सात महर्षियोंके भक्ति उदयके लक्षणके स्वतन्त्र-स्वतन्त्र लक्षण कहे हैं। अब भक्तिविज्ञानको स्पष्ट करनेके लिये कह रहे हैं, कि चाहे साधकमें भक्तिका एक लक्षण प्रकाशित हो, चाहे अन्य लक्षण प्रकाशित हो, परन्तु जबतक साधककी बुद्धिमें भगवद् माहात्म्यज्ञानकी दृढ़ता नहीं होगी, तबतक भक्तके चित्तका राग भक्ति नहीं है। भगवन्माहात्म्यका ज्ञान होना परम आवश्यकीय है।

विग्रहोंके महिमाज्ञानद्वारा जो अनुराग उत्पन्न होता है, उसके द्वाराही साधक साधनराज्यमें उन्नति प्राप्त कर सकता है। लौकिक जगत्में भी देखा जाता है कि, प्रियवस्तुके लौकिक गुणदर्शनद्वारा जो अनुराग उत्पन्न होता है, वह प्रायः क्षणभंगुर नहीं होता है, प्रत्युत गुणज्ञान और स्वरूप-परिचयके साथ-ही-साथ अनुराग प्रफुल्ल कमलके समान दिन-दिन वृद्धिङ्गतही हुआ करता है। इसी प्रकार श्रीभगवान्का अथवा उनके किसी लीलाविग्रहका लोकोत्तर चरित्रचित्र हृदयपटमें प्रतिष्ठित करके उनके प्रति साधककी प्रीति उत्पन्न होनेपर वह प्रीति श्रीभगवान्के स्वरूपज्ञानके साथ-ही-साथ क्रमशः प्रगाढ़ होकर भक्तको भगवद्राज्यकी उच्चपदवीपर प्रतिष्ठित करती है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। श्रीमद्भागवतके रासपञ्चाध्यायीमें श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके प्रति भक्त गोपीगणका माहात्म्यज्ञानके विषयका अनेक परिचय पाये जाते हैं, एवं इसी माहात्म्यज्ञानके ही कारण श्रीभगवान्के प्रति उनकी निरतिशय प्रेमवृद्धि हुई थी और भगवत्कृपाप्राप्तिद्वारा वे मुक्त हुई थी।

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसाऽर्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥

प्रेष्ठो भवाँस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा
व्यक्तो भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो
देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता ॥

हे परमप्रिय भगवन्! आप केवल यशोदाके नन्दन ही नहीं हैं, परन्तु समस्त जगज्जीवोंके हृदयविहारी अन्तर्यामी परमात्मा विश्व जगत्की रक्षाकेलिये ब्रह्मादि देवगण और पृथिवी माताके द्वारा प्रार्थित होकर ही निराकाररूप आप साकाररूपसे यदुकुलमें आविर्भूत हुए हैं। आप समस्त जीवोंके आत्मारूप और बन्धु होनेसे प्रियतम हैं। आदिपुरुष परमात्मा जिसप्रकार देवलोककी रक्षा करते हैं, उसीप्रकार व्रजकुलकी रक्षा और दुःखनिवारणकेलिये ही आपका आविर्भाव हुआ है।

इसके अतिरिक्त गोपीगणके अभिमान-मर्दनकेलिये सहसा अन्तर्हित कृष्णके विरहमें उन्मादिनी गोपियोंने दूर्वादलोंसे श्यामलायतना वसुन्धराको सम्बोधन करके जो कहा था, उससे भी श्रीकृष्णचन्द्रका माहात्मज्ञान उनको था, इसका सम्यक् परिचय पाया जाता है। यथा—

किं ते कृतं क्षिति! तपो बत केशवाङ्घ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहै विभासि ।

अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा,

आहो वाराहवपुषः परिरम्भरोन ॥

हे वसुन्धरे! हमलोग नहीं जानती हैं कि, तुमने क्या तपस्या की है, जिसके फलसे श्रीभगवान्के चरणकमलके स्पर्शसे तुमको रोमाञ्च हो रहा है? अन्तर्हित भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अभी तुम्हारे अङ्गको स्पर्श करके चले गये हैं, उसीसे क्या इसप्रकार तुम्हें रोमाञ्च हो रहा है? अथवा वामन और बाराह अवतारमें तुम्हारे अङ्गका स्पर्श श्रीभगवान्ने किया था, उससे इसप्रकार रोमाञ्च हो रहा है? इसप्रकारसे श्रीकृष्णचन्द्रकी महिमाका बोध रासविलासिनी गोपियोंको था, इसीसे वे श्रीभगवान्की अनुकम्पा और प्रेम प्राप्तकरके भक्तिके बलसे आनन्दमय दिव्यलोक प्राप्त करनेमें समर्थ हुई थीं। स्त्री और पुरुषका प्रेम स्वाभाविक है, यही कारण है कि, जो आकर्षण तथा संकोचका अभाव दाम्पत्यप्रेममें साधारणतः देखनेमें आता है, वह अन्यत्र नहीं देखनेमें आता है। इस दाम्पत्यप्रेममाधुरीका ही प्रभाव है, कि श्रीभगवान्के पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्रके प्रेममें मतवाली वृजनारियों का प्रेम जगत् प्रसिद्ध है। साथ ही साथ यह विज्ञानसिद्ध है, कि वृजगोपिकाओंका प्रेम भगवन्माहात्म्यज्ञानसे पूर्ण था, यदि ऐसा न होता, तो वृजनारियोंका प्रेम भक्तिशब्द वाच्य नहीं होता। सब दर्शनोंका यह सर्वसिद्ध सिद्धान्त है, कि जीवके अन्तःकरणकी गति जब नीचेकी ओर इन्द्रियोंकी ओर—और विषयोंकी ओर हो तब वह गति जीवके बन्धन और पतनका कारण होती है और

आत्माकी ओर हो, तब वह गति जीवके अभ्युदय और मुक्तिका कारण होती है।

प्रेमिकके प्रेममें यदि भगवन्माहात्म्यज्ञान न हो, तो उस व्यक्तिके अन्तःकरणकी गति विषयसंगसे दूषित होकर उसके पतनका कारण होती है, परन्तु उसके चित्तमें यदि भगवन्माहात्म्यका विमल-प्रकाश बना रहेगा तो पुनः उसका अन्तःकरण विषय-सङ्ग-रागसे रञ्जित रहनेपर भी अधः पतित नहीं होगा; उन्नत ही उन्नत होता जायगा।

उपासक चाहे वैष्णव हो, सौर हो, शाक्त हो, गाणपत्य हो, अथवा शिवोपासक हो, जबतक वह तटस्थ ज्ञानद्वारा अपने इष्टका माहात्म्यज्ञान प्राप्त न करे, तबतक वह भक्तिराज्यमें उन्नति प्राप्त करनेका अधिकारी नहीं है। अतएव भगवदनुरागके मूल माहात्म्यज्ञान सम्यक्रूपसे अपेक्षित है इसमें सन्देह नहीं है ॥५२॥

माहात्म्यज्ञान न रहनेसे क्या दोष होता है सो कहते हैं—

उसके अभावमें जारप्रेमवत् होता है ॥ ५३ ॥

श्रीभगवान्के प्रति महिमाज्ञानशून्य प्रेम उपपतिके प्रेमके समान हुआ करता है। लौकिक जगत्में उपपतिसे सम्बन्ध जिस प्रकार स्त्रीकेलिये अधोगतिका कारण होता है, उसीप्रकार जारप्रीति और ईश्वरभक्ति दोनोंमें ही अनुराग होनेपरभी सदाश्रय और माहात्म्यज्ञानमूलक ईश्वरभक्तिद्वारा क्रमशः उन्नति एवं असदाश्रय और महिमाज्ञानशून्य प्रीतिकेद्वारा क्रमशः

तदभावे जारवत् ॥ ५३ ॥

साधककी अधोगति होती है। समस्त संसार भावमय है, भावके तारतम्यके अनुसार ही अन्तःकरणकी उन्नतिका तारतम्य हुआ करता है। उन्नत सात्त्विक भावके द्वारा भावित अन्तःकरण शीघ्रही भावके गुणसे उन्नतिके सोपानपर आरोहण कर सकता है। इसीप्रकार तामसिक अधमभावकेद्वारा भावित अन्तःकरण भावकी अधमताके कारण शीघ्रही अवनतिके अधस्तनकूपमें डूब जायगा इसमें और सन्देह क्या है। भाव और आसक्ति-विज्ञानके वर्णनमें यह भलीभाँति सिद्ध हो चुका है, कि आसक्तिके द्वारा पतन होना अवश्य सम्भावी है। केवल सद्भावसे भावित होकर कोई असत् कर्म भी किया जाय तो उसकेद्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस होता है। अतः जब भगवन्माहात्म्यज्ञानरूपी सद्भाव किसी प्रेमिकके हृदयमें न हो और केवल कामासक्ति हो तो जैसे जारबुद्धिसम्पन्न प्रेमिककी उन्नति नहीं होती, वैसे ही भगवन्माहात्म्यज्ञानसे रहित प्रेमिककी दशा भी होगी क्योंकि उस दशामें केवल आसक्ति ही रहती है भाव नहीं रहता है।

इस कारण ही महिमाबोध-विहीन केवल स्थूल अवलम्बन आदिके द्वारा उत्पन्न भगवत्प्रेम उन्नतभावके अभावसे अन्तःकरणको उन्नत कर नहीं सकता है, एवं जारप्रेमके समान चित्तकी अवनति करनेवाला हो सकता है, यही इस सूत्रका तात्पर्य्य है। शास्त्रोंमें कहीं कहीं जारबुद्धिजनितप्रेमके द्वारा भी उन्नति होनेका दृष्टान्त पाया जाता है, वह साध्य और साधकके असा-

धारण अधिकार और संस्कारसे ही हुआ है, ऐसा समझना चाहिये। श्रीमद् ागवतके रासपञ्चाध्यायीमें इस प्रकार वर्णन है कि, रासलीलाकी रातमें जिन गोविन्दवेणुनिनादसुग्धा सब गोपियोंको उनके पतियोंने श्रीभगवान्‌के पास जानेसे रोका था, उनके हृदयमें श्रीभगवान्‌के महिमाज्ञानसे उत्पन्न प्रेम न होने-पर भी उनकी मुक्ति हुई थी, जैसा श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—

> अन्तर्गृहगताः काश्चिद्गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।
> कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥
> दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।
> ध्यानप्राप्ताऽच्युताऽऽश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥
> तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्याऽपि सङ्गताः ।
> जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥

अन्तर्गृहगता और अलब्धनिर्गमा कतिपय गोपियाँ आंख मूंदकर श्रीकृष्णके स्मरणमें विलीनचित्ता हो गयीं। इसप्रकार प्रियतम-विरह-जनित दुस्सह तीव्रसंतापद्वारा उनके अशुभकर्म नष्ट हो गये और ध्यानयोगकेद्वारा किये हुए कृष्णके प्रगाढ़ आलिङ्गनसे परमसुखभोग द्वारा पुण्यकर्मोंका भी क्षय हो गया। इसप्रकारसे जारबुद्धिकेद्वारा भी परमात्माके प्रति आसक्ति होनेसे द्वन्द्वमूलक पुण्यापुण्य कर्मोंके क्षय होजानेपर उसी क्षणमें क्षीणबन्धना होकर वे गोपियाँ गुणमयदेहत्याग करके मुक्त हो गयीं। ब्रह्मर्षि शुकदेवजीके मुखसे "जारबुद्ध्याऽपि"

अर्थात् "जारबुद्धिकेद्वारा भी" यह वचन सुनकर परीक्षितने संदिग्धचित्त होकर जिज्ञासा की कि,

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने !
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम् ॥

उक्त गोपियाँ श्रीकृष्णको परमात्मा नहीं जानती थीं, केवल परम रूपवान् प्रिय कान्तपुरुष जानकर ही आसक्त हुई थीं, तौभी उनकी मुक्ति किस प्रकार हो गयी ?

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ! ।
अव्ययस्याऽप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे ।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते ॥

इस प्रश्नके उत्तरमें शुकदेवजीने कहा है कि—अर्थात् जिसप्रकार अमृतको न जानकर यदि कोई अमृतपान करे तौभी जैसे अमृतकी शक्तिसे वह अमर हो जाता है, ठीक उसीप्रकार अव्यय, अप्रमेय, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके प्रति ज्ञानपूर्वक हो अथवा अज्ञानपूर्वक हो, काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य, सौहृद, आदि जिस किसी भावकेद्वारा यदि जीव आकृष्ट हो तो श्रीभगवान्की असाधारण शक्तिके बलसे योग्य संस्कारयुक्त जीव उससे तन्मयता प्राप्त होकर मनके विलय होनेपर मनःप्रसूत काम-क्रोध-मोह आदि वृत्तियोंसे रहित हो मुक्त हो जाता है। उक्त जारबुद्धिसङ्गत

गोपियोंकी भी मुक्ति इस प्रकारसे ही हुई थी। अर्थात् यद्यपि उनकी आसक्तिका कारण केवल कामभाव ही था, एवं श्रीकृष्ण परमात्मा हैं, यह भी वे जानती नहीं थी तथापि प्राक्तन असाधारण संस्कारोंसे श्रीकृष्णके प्रति असाधारण प्रीति उत्पन्न होनेसे श्रीकृष्ण परमात्माने अपनी सर्वशक्तिमत्ताके बलसे उनको अपने भावमें तन्मय करके प्रथम उनकी मानसिक कामादि वृत्तियोंका नाश किया और तत्पश्चात् शुभ और अशुभ उभयविध कर्मोंका क्षय करके उनको मुक्त कर दिया था। यह श्रीकृष्ण परमात्माकी असाधारण शक्ति एवं गोपियोंके असाधारण प्राक्तन संस्कारोंके कारण ही हो सका था। जारबुद्धिसम्पन्न प्रीति इसका साक्षात् कारण नहीं है। साधारण संस्कारयुक्त स्त्रियोंका इस प्रकारका अधिकार नहीं हो सकता है एवं किसी साधारण पुरुषमें परमात्माके भावसे आसक्त होनेपर भी उक्त पुरुषमें परमात्माकी वास्तविक सत्ताके अभावसे वैसी शक्ति न होनेसे ही आसक्त प्रेमिककी उस प्रकारकी तन्मयता और शुभाशुभ कर्मोंका नाश नहीं हो सकता है, ऐसे जारबुद्धिसम्पन्न गोपियोंकी जो उर्द्ध्वगति हुई थी, उसका कारण उनके चित्तकी जारबुद्धिसे उत्पन्न प्रेम नहीं था, परञ्च श्रीभगवान्‌के पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दका भगवत् तेज ही कारण था, सूर्यका तेज जिसप्रकार स्वभावसे ही पृथिवीके सब खुले हुए स्थानोंके रसको अपने ओर खींच लेता है, ठीक उसीप्रकार जारबुद्धिसम्पन्ना कृष्णप्रेममें आकृष्टचित्ता गोपियोंका अन्तःकरण खुलकर श्रीभगवान्‌की ओर फिरते ही

भगवत्‌तेजने उसको आकृष्ट कर लिया था, यही इसका विज्ञान है। श्रीमद्‌भागवत्‌के उक्त वर्णनमें "जारबुद्ध्याऽपि" अर्थात् "जार बुद्धिके द्वारा भी" इस वाक्यमें "अपि" शब्दके प्रयोगके द्वारा ही सिद्ध किया गया है कि, जारबुद्धिसे उत्पन्न प्रेमपतनका कारण है और यह भी उक्त श्लोकोंके द्वारा सिद्ध होता है कि, "जारबुद्धि" मुक्तिका कारण नहीं है, केवल प्रिय वस्तुके प्रति आकर्षण ही कारणमात्र है। और आकर्षणानन्तर प्रिय वस्तुकी सर्वशक्तिमत्ता और प्रेमियोंका असाधारण प्राक्तनकर्म संस्कार ही इसप्रकारकी उन्नतिका कारण है। अन्यथा साधारण संस्कारकी दशामें जारबुद्धिसे प्रेम पतनका ही कारण होता है, यही सिद्धान्त भगवान् व्यासके वचनोंसे इस सूत्रके विरोधका स्पष्ट परिहार है।

पूर्वकथित मीमांसाका यही तात्पर्य है, कि भगवन्महिमाका सद्‌भाव साधकके हृदयमें अङ्कित रहनेपर साधकका वह प्रेम चाहे इष्टदेवमें ही चाहे भगवद्‌विग्रह आदिमें हो, चाहे गुरुआदि विभूतिमें ही हो,सब स्थानोंमें वह प्रेम साधकके अभ्युदय-निःश्रेयस का कारण होगा। नहीं तो भगवन्माहात्म्य ज्ञानसे रहित होनेपर भी यदि वह प्रेम भगवद्‌शक्तिसे युक्त व्यक्तिमें हो, तौभी वह भगवद्‌ शक्तिसे युक्त व्यक्ति अपने असाधारण शक्तिकेद्वारा उस प्रेमिकको भगवद्‌राज्यमें पहुँचा सकता है, जैसा कि, श्रीकृष्णलीलामें प्रमाणित हुआ है; परन्तु यह असाधारण विषय है। साधारणतः यही दार्शनिक सिद्धान्त सर्ववादी सिद्धान्त करके माननेयोग्य

है कि, महिमा-ज्ञानसे रहित प्रेम न भक्तिशब्द वाच्य होगा और न उससे साधकका अभ्युदय ही हो सकता है ॥ ५३ ॥

माहात्म्यज्ञान रहनेसे क्या लाभ होता है, कहा जाता है—

उसके होनेसे पतनकी सम्भावना नहीं रहती है ॥५४॥

इति श्रीमहर्षि-अङ्गिराकृतदैवीमीमांसादर्शने उत्पत्तिपादनामकः द्वितीयः पादः समाप्तः ।

श्रीभगवान्के प्रति माहात्म्यज्ञानपूर्विका प्रीति उत्पन्न होने-पर साधकको पतनका भय कभी भी नहीं रहता है । साधन-राज्यमें भावोंकी उन्नतिके अनुसार ही जब साधककी उन्नति हुआ करती है, तब भक्तके हृदयमें श्रीभगवान्के प्रति महिमा-ज्ञानजनित उच्चभाव विद्यमान रहनेसे भावके बलसे भगवद्राज्य-में भक्त दिन प्रतिदिन उन्नति प्राप्त करेगा, एवं कदापि उसका पतन नहीं होगा इसमें सन्देह ही क्या है ? भक्त गोपिकाएँ पूर्वसूत्रमें कथित इस महिमाज्ञानसे उत्पन्न भावोन्नतिके बलसे ही दुश्छेद्य संसारपाशको छिन्न करके साधनमार्गके विविध विघ्नोंको अतिक्रमण करती हुई सर्वत्र विराजमान आनन्दकन्द सच्चिदानन्दको प्राप्त करनेमें और उनके मुनिजनदुर्लभ चरण-कमलोंमें शरीर-मन-प्राण और आत्माको समर्पण करके जन्मको सफल करनेमें समर्थ हुई थीं। चाहे प्रेम उन्नत ही क्यों न हो

तत्सत्त्वेऽनवपतनमनवपतनम् ॥ ५४ ॥

परन्तु महिमाज्ञान-रहित होनेसे वह प्रेमका मार्ग भय-रहित नहीं है। स्थूल अवलम्बन होनेसे प्रथम तो अवलम्वनमें ही विषय-बुद्धि हो सकती है, द्वितीयतः साधककी वृत्तियोंकी श्रेष्ठता और निकृष्टताके अनुसार बहुतसा फेर पड़ सकता है, इस कारण महिमा-ज्ञानरहित होकर जो प्रेम किया जाता है उसमें अनेक भय हैं। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र पूर्ण थे, इसकारण महिमा-ज्ञान-रहित किसी किसी गोपिकाका कल्याण होना सम्भव था। किन्तु यह पूर्णता सकल स्थानोंमें सम्भव नहीं है। इसी उदाहरणके अनुसार महिमा-ज्ञानसे रहित भक्ति भी भय-रहित नहीं हो सकती। फलतः तटस्थ ज्ञानकी सहायतासे भगवन्महिमाका ज्ञानप्राप्त करके तब यदि भक्त भक्तिके साधनमें तत्पर हो, तो उसका वह साधन-मार्ग भयसे सर्वथा रहित होगा। अतः महिमा-ज्ञानसहित भक्ति ही पूर्ण भयरहित है। यही इस सूत्रमें कथित पतन-भयरहित महिमा-ज्ञानजनित उन्नतिका लक्षण है। भावविज्ञानका रहस्य पहले ही भलीभाँति वर्णित हो चुका है। केवल सद्भावसे ही जब उन्नति होना निश्चित है तो भगवन्माहात्म्यज्ञानरूपी भगवद्भाव के आश्रयसे अभ्युदय और निःश्रेयस होना स्वतः सिद्ध है। अतः यह सिद्धान्त विज्ञानसिद्ध और निश्चित होनेसे महर्षि सूत्रकारने नहीं पतन होगा, नहीं पतन होगा, ऐसा दो बार कहा है।

स्वय्याम्बुजाक्षाखिल–सत्वधाम्नि ।
समाधिनावेशित – चेतसैके ॥

स्वत्पादयो स्तेन महत्कृतेन।
कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम्॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
महात्मानस्तु मां पार्थं दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादि मव्ययम्॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥
एतद्विजानतां सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्।
द्रष्टव्यमात्मवत् विष्णुर्यतोऽयं विश्वरूपधृक्॥
एवं ज्ञाते भगवानादिः परमेश्वरः।
प्रसीदत्यच्युतो यस्मिन् प्रसन्ने क्लेशसंक्षयः॥

अखिल सत्त्वधाम अर्थात् कमलाक्ष भगवान्में समाधिके द्वारा आवेशित चित्त भक्त उनके पादरूपी नौकासे संसाररूप भवाब्धिको गोवत्सके खुरके समान अनायास तर जाते हैं। जो मेरे दिव्य जन्म तथा कर्मको तत्त्वतः जानते हैं, वे शरीरत्यागके बाद पुनर्जन्म न पाकर मुझे प्राप्त करते हैं। दैवी प्रकृतियुक्त महात्मागण सब भूतोंका आदि तथा अव्यय जानकर अनन्य चित्तासे मेरा भजन करते हैं। दृढ़व्रत होकर नित्य मेरा कीर्तन, यजन नमस्कार करते हुए नित्ययुक्त होकर मेरी उपासना करते हैं।

इस तरह प्रतिपादित हुआ कि भक्तिके साथ माहात्म्यज्ञानका

होना अत्यावश्यक है। माहात्म्यज्ञानके सहित की हुई भक्ति भगवान्के भक्तको निर्बाधरूपसे भगवच्चरणारविन्दोंमें पहुँचा देती है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहर्षि अङ्गिराकृत दैवीमीमांसादर्शनके भाष्यके टीकोपम भाषा-
नुवादका उत्पत्तिपाद नामक द्वितीयपाद समाप्त ।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलका चमत्कारिक धार्मिक प्रकाशन

सनातनधर्मका विश्वकोष

धर्मकल्पद्रुम

श्री स्वामी दयानन्द विरचित।

यह हिन्दूधर्मका अद्वितीय और परमावश्यक ग्रन्थ है। हिन्दूजातिकी पुनरुन्नतिके लिये जिन जिन आवश्यकीय विषयोंकी जरूरत है, उनमेंसे सबसे बड़ी भारी जरूरत एक ऐसे धर्मग्रन्थकी थी कि, जिसके अध्ययन अध्यापनके द्वारा सनातनधर्मका रहस्य और उसका विस्तृत स्वरूप तथा उसके अङ्गउपाङ्गोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और साथ ही साथ वेद और सब शास्त्रोंका आशय तथा वेदों और सब शास्त्रोंमें कहे हुए विज्ञानोंका यथा-क्रम स्वरूप जिज्ञासुको भली-भाँति विदित हो सके। इसी गुरुतर अभावको दूर करनेके लिए भारतके प्रसिद्ध धर्मवक्ता और श्री-भारतधर्ममहामण्डलस्थ उपदेशकमहाविद्यालयके प्रधानाचार्य श्रीमान् स्वामी दयानन्दजी महाराजने इस ग्रन्थका प्रणयन किया है। इसमें वर्तमान समयके आलोच्य सभी विषय विस्तृतरूपसे दिये गये हैं। इस ग्रन्थसे आजकलके अशास्त्रीय और विज्ञानरहित धर्मग्रन्थों और धर्मप्रचारके द्वारा जो हानि हो रही है, वह सब दूर होकर यथार्थरूपसे सनातन वैदिकधर्म-का प्रचार होगा। इस ग्रंथरत्नमें साम्प्रदायिक पक्षपातका लेश-मात्र भी नहीं है और निष्पक्षरूपसे सब विषय प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे सकल प्रकारके अधिकारी कल्याण प्राप्त कर

सकें, इसमें और भी एक विशेषता यह है कि, हिन्दूशास्त्रके सभी विज्ञान शास्त्रीय प्रमाणों और युक्तियोंके सिवाय, आजकलकी पदार्थविद्या (Science) के द्वारा भी प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे आजकलके नवशिक्षित पुरुष भी इससे लाभ उठा सकें। यह आठ खण्डों में सम्पूर्ण हुआ है। प्रथम खण्डका मूल्य २), द्वितीयका १।।), तृतीयका २), चतुर्थका २), पंचमका २), षष्ठका १।।), (यन्त्रस्थ) सप्तम का २) और अष्टम खण्ड ३।।) है।

प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारत।

श्रीस्वामी दयानन्द सम्पादित।

इस ग्रन्थमें आर्यजातिके आदिका वासस्थान, उन्नतिका आदर्श निरूपण, शिक्षादर्श, आर्यजीवन, वर्णधर्म आदि विषय वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ वर्णित हैं। इसके दो खण्ड हैं, क्रमशः मूल्य २) २)।

नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत।

श्री स्वामी दयानन्द संपादित

भारतका प्राचीन गौरव और आर्यजातिका महत्व जाननेके लिये यह एक ही पुस्तक है। मूल्य १)

साधनचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

इसमें मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चारों योगोंका संक्षेपमें अतिसुन्दर वर्णन किया गया है। मूल्य १।।।)

शास्त्रचन्द्रिका।

वेद और वेदसम्मतदर्शन पुराणादि शास्त्रके आधार पर पारलौकिक विद्याके दिग्दर्शनार्थ यह ग्रन्थ इस विचारसे बनाया गया

है कि, जिससे विद्यार्थियोंको धर्मशिक्षा प्राप्त करनेमें सहायता प्राप्त हो सके। मूल्य ?॥)।

धर्मचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

बालकोंके पाठनोपयोगी उत्तम धर्मपुस्तक है। इसमें सनातन-धर्मका उदार सार्वभौम स्वरूप वर्णन, यज्ञ, दान, तप, आदि धर्माङ्गोंका विस्तृत वर्णन, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नारीधर्म, आर्य-धर्म, राजधर्म तथा प्रजाधर्मके विषयमें बहुत कुछ लिखा गया है। कर्मविज्ञान, सन्ध्या, पञ्चमहायज्ञ आदि नित्य कर्मोंका वर्णन, षोड़शसंस्कारोंके पृथक् पृथक् वर्णन और संस्कारशुद्धि तथा क्रियाशुद्धि द्वारा मोक्षका यथार्थ मार्ग निर्देश किया गया है। मूल्थ १)

आर्य्यगौरव।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

आर्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये एक ही पुस्तक है, मू०॥)

नीतिचन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

मानवीय जीवनका उन्नत होना नीतिशिक्षापर ही अवलम्बित होता है। कोमलमति बालकोंके हृदयोंपर नीतितत्त्व खचित करनेके उद्देश्यसे यह पुस्तिका लिखी गई है। इसमें नीतिकी सब बातें ऐसी सरलतासे समझायी गयी हैं कि, इस एकके ही पाठसे नीतिशास्त्रका ज्ञान हो सकता है। मूल्य ॥)

चरित्रचन्द्रिका।

सम्पादक पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकर।

इस ग्रन्थमें पौराणिक ऐतिहासिक और आधुनिक सुन्दर

मनोहर विचित्र चरित्र वर्णित हैं। प्रथम भागका मूल्य १) और दूसरे भागका १।)

धर्मप्रश्नोत्तरी।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

सनातनधर्मके प्रायः सब सिद्धान्त अतिसंक्षिप्तरूपसे इस पुस्तिकामें लिखे गये हैं। प्रश्नोत्तरीकी प्रणाली ऐसी सुन्दर रखी गई है कि छोटे बच्चे भी धर्मतत्त्वोंको भलीभाँति हृदयङ्गम कर सकेंगे। मूल्य केवल ।) मात्र है।

परलोक-रहस्य।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

मनुष्य मरकर कहाँ जाता है, उसकी क्या गति होती है, इस विषयपर वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ विस्तृत रूपसे वर्णन है। मूल्य ।)

चतुर्दशलोकरहस्य।

श्रीमान् स्वामी दयानन्द विरचित।

स्वर्ग और नरक कहाँ और क्या वस्तु हैं, उनके साथ हमारे इस मृत्युलोकका क्या सम्बन्ध है इत्यादि विषय शास्त्र और युक्तिके साथ वर्णित हैं। मूल्य ।)

सती-चरित्र-चन्द्रिका।

श्रीमान् पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकर सम्पादित।

इस पुस्तकमें सीता, सावित्री, गार्गी, मैत्रेयी आदि ४४ सती स्त्रियोंके जीवन-चरित्र लिखे गये हैं। मूल्य २)

नित्य-कर्म-चन्द्रिका।

इस ग्रन्थमें प्रातःकालसे लेकर रात्रिपर्यन्त हिन्दूमात्रके अनुष्ठान करने योग्य नित्य कर्म वैदिक तान्त्रिक मन्त्रोंके साथ भलीभाँति वर्णित हैं। मूल्य ।)

धर्मसोपान।

यह धर्मशिक्षा विषयक बड़ी उत्तम पुस्तक है। बालकोंको इससे धर्मका साधारण ज्ञान भलीभांति हो जाता है। यह पुस्तक क्या बालक बालिका, क्या वृद्ध स्त्री पुरुष, सबके लिये बहुत ही उपकारी है। मूल्य ।) आना।

धर्म-कर्म-दीपिका।

इस पुस्तकमें कर्मका स्वरूप, कर्मके भेद, संस्कारके लक्षण और भेद, वैदिक संस्कारोंका रहस्य, त्रिविधकर्मका वैज्ञानिक स्वरूप, कर्म सम्बन्धसे मुक्ति, वर्णाश्रमधर्मकी महिमा, धर्म कर्म और विज्ञानका महत्त्व प्रतिपादन किया गया है, यह ग्रंथ मूल और सुस्पष्ट हिन्दी-अनुवाद सहित शास्त्रीय प्रमाण देकर छापा गया है। मूल्य ॥)

सदाचारसोपान।

यह पुस्तक कोमलमति बालक-बालिकाओंकी धर्मशिक्षाके लिये प्रथम पुस्तक है। मूल्य –) एक आना।

कन्याशिक्षासोपान।

कोमलमति कन्याओंको धर्मशिक्षा देनेके लिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। मूल्य –)

ब्रह्मचर्यसोपान।

ब्रह्मचर्यव्रतकी शिक्षाके लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। मूल्य ।) आना।

राजशिक्षासोपान।

राजा महाराजा और उनके कुमारोंको धार्मिक शिक्षा देनेके लिये यह ग्रन्थ बनाया गया है, परन्तु सर्वसाधारणकी धर्मशिक्षा-के लिये भी यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है, इसमें सनातनधर्मके अङ्ग और उसके तत्त्व अच्छी तरह बताये गये हैं। मूल्य=)

साधनसोपान ।

यह पुस्तक उपासना और साधनशैलीकी शिक्षा प्राप्त करनेमें वहुत ही उपयोगी है। बालक बालिकाओंको पहलेसे इस पुस्तकको पढ़ाना चाहिये। मूल्य ।) चार आना।

शास्त्रसोपान ।

सनातनधर्मके शास्त्रोंका सारांश इस ग्रन्थमें वर्णित है। सब शास्त्रोंका कुछ विवरण समझनेके लिये प्रत्येक सनातनधर्म्मावलम्बीके लिये यह ग्रन्थ वहुत ही उपयोगी है। मूल्य ।)

धर्मप्रचारसोपान ।

यह ग्रन्थ धर्मोपदेशदेनेवाले उपदेशक और पौराणिक पण्डितोंके लिये वहुत ही हितकारी है। मूल्य ।) आना।

उपदेशपारिजात ।

यह संस्कृत गद्यात्मक अपूर्व ग्रन्थ है। सनातनधर्म क्या है, धर्मोपदेश किसको कहते हैं, सनातनधर्मके सव शास्त्रोंमें क्या क्या विषय हैं, धर्मवक्ता होनेके लिये किन २ योग्यताओंके होनेकी आवश्यकता है इत्यादि अनेक विषय इस ग्रन्थमें हैं। संस्कृतके विद्वान्मात्रको पढ़ाना उचित है और धर्मवक्ता, धर्मोपदेशक, पौराणिक पण्डित आदिके लिये तो यह ग्रन्थ सब समय साथ रखने योग्य है। मूल्य ॥) आना।

कल्किपुराण ।

कल्किपुराणका नाम किसने नहीं सुना है ? इस कलियुगमें कल्कि महाराज अवतार धारणकर दुष्टोंका संहार करेंगे, उसका पूर्ण वृत्तान्त है। हिन्दी अनुवाद और विस्तृत भूमिका सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। मूल्य १॥)

पातञ्जलयोगदर्शन ।

भाष्यकार भगवत् पूज्यपाद श्री ११०८ महर्षि स्वामी ज्ञानानन्द जी महाराज द्वारा विस्तारित भाष्य सहित इस प्रकारका हिन्दी भाष्य और कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है। सब दर्शनोंमें योगदर्शन सर्ववादिसम्मत दर्शन है और इसमें साधनके द्वारा अन्तर्जगत्के सब विषयोंका प्रत्यक्ष अनुभव करा देनेकी प्रणाली रहनेके कारण इसका पाठन और भाष्य एवं टीकानिर्माण वही सुचारुरूपसे कर सकता है, जो योगके क्रियासिद्धान्तका पारगामी हो। प्रत्येक सूत्रका भाष्य प्रत्येक सूत्रके आदिमें भूमिका देकर ऐसा क्रमबद्ध बना दिया गया है कि, जिससे पाठकोंको मनोनिवेशपूर्वक पढ़नेपर असम्बद्ध नहीं मालूम होगा और ऐसा प्रतीत होगा कि, महर्षि सूत्रकारने जीवोंके क्रमाभ्युदय और निःश्रेयसके लिये मानों एक महान् राजपथ निर्माण कर दिया है। मूल्य २) दो रुपया।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलरहस्य ।

इस ग्रन्थमें सात अध्याय हैं। यथा-आर्य्यजातिकी दशाका परिवर्त्तन, चिन्ताका कारण, व्याधिनिर्णय, औषधिप्रयोग, सुपथ्यसेवन, बीजरक्षा और महायज्ञसाधन। यह ग्रन्थरत्न हिन्दूजातिकी उन्नतिके विषयका असाधारण ग्रन्थ है। प्रत्येक सनातनधर्मावलम्बीको इस ग्रन्थको पढ़ना चाहिये। द्वितीयावृत्ति छप चुकी है, इसमें बहुतसा विषय बढ़ाया गया है। इस ग्रन्थका आदर सारे भारतवर्षमें समानरूपसे हुआ है। धर्मके गूढ़तत्व भी इसमें बहुत अच्छी तरहसे बताये गये हैं। इसका बंगला अनुवाद भी छप चुका है। मूल्य १।)

मन्त्रयोगसंहिता ।

भाषानुवादसहित। योगविषयक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें मन्त्रयोगके १६ अङ्ग और क्रमशः

उनके लक्षण, साधनप्रणाली आदि सब अच्छी तरहसे वर्णन किये गये हैं। इसमें मन्त्रोंका स्वरूप और उपास्यनिर्णय बहुत अच्छा किया गया है और अनर्थकारी साम्प्रदायिक विरोधके दूर करनेके लिये यह एकमात्र ग्रन्थ है, इसमें नास्तिकोंका मूर्ति पूजा, मन्त्रसिद्धि आदि विषयोंमें जो प्रश्न होते हैं, उनका अच्छा समाधान है। मूल्य १) एक रुपया।

हठयोगसंहिता।

भाषानुवादसहित। योगविषयक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें हठयोगके ७ अङ्ग और क्रमशः उनके लक्षण साधन णाली आदि सब अच्छी तरहसे वर्णन किये गये हैं। गुरु और शिष्य दोनों ही इससे पूरा लाभ उठा सकते हैं। मूल्य ।||)

तत्त्वबोध।

भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणी सहित। यह मूल वेदान्त ग्रन्थ श्रीशंकराचार्य्य कृत है। मूल्य =)

स्तोत्र कुसुमाञ्जलि।

इसमें पंचदेवता, अवतार और ब्रह्मकी स्तुतियोंके साथ साथ आजकलकी आवश्यकतानुसार धर्मस्तुति, गंगादि पवित्र तीर्थोंकी स्तुति, वेदान्तप्रतिपादक स्तुतियाँ और काशीके प्रधान देवता श्रीविश्वनाथादिकी स्तुतियाँ हैं। मूल्य।) आना।

श्रीमद्भगवद्गीता प्रथमखण्ड।

श्रीगीताजीका अपूर्व हिन्दी-भाष्य यह प्रकाशित हो रहा है, जिसका प्रथम खण्ड जिसमें प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्याय का कुछ हिस्सा है, प्रकाशित हुआ है। आजकल श्रीगीताजीपर अनेक संस्कृत और हिन्दी-भाष्य प्रकाशित हुए हैं, परन्तु इस

प्रकारका भाष्य आजतक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। गीताका अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूपी त्रिविध स्वरूप, प्रत्येक श्लोकका त्रिविध अर्थ और सब प्रकारके अधिकारियोंके समझने योग्य गीता—विज्ञानका विस्तारित विवरण इस भाष्यमें मौजूद है। मूल्य १) एक रुपया।

सप्त गीताएँ।

पञ्चोपासनाके अनुसार पाँच प्रकारके उपासकोंके लिये पाँच गीताएँ—श्रीविष्णुगीता, श्रीसूर्यगीता, श्रीशक्तिगीता, श्रीधीशगीता और श्रीशंभुगीता एवं संन्यासियोंके लिये संन्यासगीता और साधकोंके लिए गुरुगीता भाषानुवाद सहित छप चुकी हैं। इन सातों गीताओंमें अनेक दार्शनिक तत्त्व, अनेक उपासनाकाण्डके रहस्य और प्रत्येक उपास्य देवकी उपासनासे सम्बन्ध रखनेवाले विषय सुचारुरूपसे प्रतिपादित किये गये हैं। ये सातों गीताएँ उपनिषद्रूप हैं। प्रत्येक उपासक अपने उपास्यदेवकी गीतासे तो लाभ उठावेगा ही, किन्तु अन्य चार गीताओंके पाठ करनेसे भी वह अनेक उपासनातत्त्वोंको तथा अनेक वैज्ञानिक रहस्योंको जान सकेगा और उसके अन्तःकरणमें प्रचलित साम्प्रदायिक ग्रन्थोंसे जैसा विरोध उदय होता है, वैसा नहीं होगा, वह परम शान्तिका अधिकारी हो सकेगा। संन्यासगीतामें सब सम्प्रदायोंके साधु और संन्यासियोंके लिये सब जानने योग्य विषय सन्निविष्ट हैं। संन्यासिगण इसके पाठ करनेसे विशेष ज्ञान प्राप्तकर सकेंगे। गृहस्थोंके लिये भी यह ग्रंथ धर्मज्ञानका भण्डारहै। विष्णुगीताका मूल्य १), सूर्य्यगीताका मूल्य ।।), शक्तिगीताका मूल्य १), धीशगीताका मूल्य।।।) शंभुगीताका मूल्य १), संन्यासगीताका मूल्य १) और गुरुगीताका मूल्य ।) है। इनमेंसे पञ्चोपासनाकी पाँच गीताओंमें एक एक तीनरंगा विष्णुदेव, सूर्य्यदेव, भगवती और गणपतिदेव

तथा शिवजीका चित्र भी दिया गया है। शम्भुगीतामें वर्णाश्रम-वंध नामक चित्र भी देखने योग्य है।

कर्ममीमांसा दर्शन।

महर्षि भरद्वाजकृत यह दर्शनशास्त्र अनुसन्धान द्वारा प्राप्त हुआ है, जो चारपादों में प्रकाशित हुआ है। सूत्र, सूत्रका हिन्दीमें अर्थ और संस्कृतभाष्यका हिन्दी अनुवाद, इस प्रकार इसको छापा गया है। कर्म्मके साथ धर्म्मका सम्बन्ध, धर्म्मके अङ्गोपाङ्ग, पुरुषधर्म, नारीधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, आपद्धर्म; प्रायश्चित्त प्रकरण आदि अनेक विषयोंका विज्ञान धर्म-पादमें वर्णित हुआ है। संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि कैसे होती है तथा उसके द्वारा मोक्षप्राप्ति किस प्रकार हो सकती है इत्यादि विषयोंका विज्ञान संस्कारपाद, क्रियापाद और मोक्षपादमें वर्णित हुआ है। ज्ञानकी सप्त भूमिकाओं के अनुसार पञ्चम भूमिका यह दर्शन है। महर्षिजैमिनीकृत जो बृहत् कर्ममीमांसा दर्शन उपलब्ध होता है वह केवल वैदिक कर्मकाण्डके विज्ञानका प्रतिपादक है। वैदिक यज्ञों का प्रचार आजकल बहुत कम होनेके कारण जैमिनीदर्शनका उपयोग बिलकुल नहीं होता है, यही कहना युक्तियुक्त होगा। महर्षि भरद्वाजकृत उपर्युक्त दर्शन ग्रन्थ कर्मके सब अङ्गोंके विज्ञानका प्रतिपादन और धर्मविज्ञानके रहस्यका वर्णन करनेवाला है। इसके तीन खण्ड हैं। मूल्य धर्मपाद १।।), संस्कारपाद, २) विस्तृत हिन्दीभाष्य सहित नवीन संस्करण क्रियापाद और मोक्षपाद मूल्य ५)।

कर्ममीमांसादर्शन।

संस्कृतभाष्य एवं सूत्रार्थ सहित मूल्य २)

श्रीरामगीता।

श्रीमहर्षि वशिष्ठकृत तत्त्वसारायणमें कथित यह श्रीरामगीता

है। परमधार्मिक विद्वान् स्वर्गवासी भारतधर्मसुधाकर श्रीमहारावलजी साहब सर विजयसिंह बहादुर के० सी० आई० ई० डूँगरपुरराज्याधिपतिके पुरुषार्थद्वारा इसका सुललित हिन्दी भाषामें अनुवाद हुआ है और विस्तृत वैज्ञानिक टिप्पणियोंके द्वारा इसके दुरुह विषयोंका स्पष्टीकरण किया गया है, इन टिप्पणियोंके महत्त्वको सब दर्शनोंका ज्ञाता और सब योगोंका अभ्यासी समझकर आनन्दित हो सकता है मूल्य केवल २॥)।

कहावत रत्नाकर।

न्यायावली और सुभाषितावली सहित। परमधार्मिक तथा विद्वान स्वर्गीय श्रीमान् भारतधर्म-सुधाकर हिजहाइनेस महारावल साहब सर विजयसिंह बहादुर के० सी० आई० ई० डूंगरपुर नरेशके सम्पादकत्वमें इस पुस्तकका छपना प्रारम्भ हुआ था जिसको श्रीमहामण्डलके शास्त्रप्रकाशक विभागकी पण्डित-मण्डलीने सुचारुरूपसे समाप्त किया है। हिन्दीभाषाका यह एक अद्वितीय ग्रंथ है, इसमें हिन्दीभाषाकी प्रधानता रखकर पाँच भाषाओंमें कहावतें दी गई हैं, हिन्दी और उसीकी संस्कृतकहावत, अंग्रेजी कहावत, फार्सी कहावत और उर्दू कहावत, अरबी कहावत। ये कहावतें प्रत्येक भाषाके प्रधान प्रधान विद्वानों द्वारा संग्रहीत और संशोधित हुई हैं, इसी प्रकार संस्कृत न्यायावली और उसका अंग्रेजी अनुवाद और विस्तृत अंग्रेजी विवरण तथा हिन्दी अनुवाद और हिन्दी विवरण दिया गया है। अन्तमें संस्कृत-सुभाषितावली हिन्दी अनुवाद सहित दी गई है। हिन्दी कहावत, संस्कृत न्यायावली और संस्कृत सुभाषितावलीको सर्वसाधारणके सुभीतेके लिये अकारादि क्रमसे दिया गया है। इसके प्रारम्भमें अंग्रेजी और हिन्दीभाषाका महत्त्व प्रतिपादन करनेवाली एक भूमिका दी गई है। पुस्तक सर्वाङ्ग सुन्दर है, सुन्दर जिल्द बँधी हुई है। रायल एडीशन १०) साधारण संस्करण ७)

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायण।

श्रीगोस्वामीजीके हस्तलिखित पुस्तकके साथ मिलाकर सम्पूर्ण विशुद्धरूपसे छपाया गया है। हम दावेके साथ कह सकते हैं कि, इसके मुकाबलेकी पुस्तक बाजारमें नहीं मिलेगी। इसमें कठिन कठिन शब्दोंका अर्थ इस तरहसे दिया गया है कि विना किसीके सहारेसे स्त्रियाँ, बालक, बुड्ढे आदि सभी कोई अच्छी तरह कठिन कठिन भावोंको समझ सकते हैं। और भी इसकी विशेषता यह है कि,—इस तरहकी टिप्पणियाँ इसमें दी गई हैं कि, जिनको पढ़नेसे सनातनधर्मकी सब बातें समझमें आ जावेंगी। धर्मसम्बन्धीय सब तरहकी शङ्काओंका समाधान भली भाँति हो जायगा। इसकी छपाई, कागज वगैरह बहुत ही उत्तम और सुन्दर है और केवल प्रचारके लिये ही मूल्य भी १॥) रक्खा गया है।

गीतार्थ चन्द्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

श्रीस्वामीजीकी विद्वत्ता किसीसे छिपी नहीं है। उन्होंने बहुत ही परिश्रमके साथ गीतापर यह अपूर्व टीका लिखी है। केवल हिन्दीभाषाके जाननेवाले ही इसके द्वारा गीताके गूढ़ रहस्यको जान सकें इसी लक्ष्यसे यह टीका लिखी गई है। इसमें श्लोकके प्रत्येक शब्दका हिन्दी अनुवाद, समस्त श्लोकका सरल अर्थ और अन्तमें एक अतिमधुर चन्द्रिका द्वारा श्लोकका गूढ़ तात्पर्य बतलाया गया है। इसमें किसीका आश्रय न लेकर ज्ञान, कर्म और उपासना तीनोंका सामञ्जस्य किया गया है। भाषा अतिसरल तथा मधुर है। इस ग्रन्थके पाठ करनेसे गीताके विषयमें कुछ भी जाननेको बाकी नहीं रह जाता। हिन्दी भाषामें ऐसी अपूर्व गीता अबतक निकली ही नहीं है। मूल्य २॥) सजिल्द ३)

सनातनधर्म–दीपिका

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित।

इसमें धर्म, नित्यकर्म, उपासना, अवतार, श्राद्ध-तर्पण, यज्ञोपवीत संस्कार, वेद और पुराण, वर्णधर्म, नारीधर्म, शिक्षादर्श और उपसंहार शीर्षकनिवन्ध लिखकर श्री स्वामीजीने बड़ी ही सरलभाषामें सनातनधर्मके मौलिक सिद्धान्त समझा दिये हैं। मूल्य केवल ।।।) बारह आने।

आदर्श–जीवन–संग्रह।

महापुरुषोंके जीवन चरित्रसे भावी सन्तानके चरित्र संघटन-पर बहुत ही प्रभाव पड़ता है। अतः बालकोंको आदर्श महापुरुषों का जीवनचरित्र अवश्य पढ़ाना चाहिये। वस्तुतः पुस्तकमें श्रीभगवान, शंकराचार्य, ईसामसीह, गो० तुलसीदास, महाराज युधिष्ठिर, म[illegible] [illegible]न्धी, लोकमान्य तिलक, महारानी अहिल्या बाई आदि ३२ महानुभावों तथा महादेवियोंके जीवन-चरित्रोंका संग्रह किया गया है। इस प्रकार यह अनेक आदर्शोंकी पुष्प-माला है। बालकोंके लिये अत्युपयोगी है। ऐसी पुस्तकका मूल्य १।।) मात्र है।

त्रिवेदीय सन्ध्या।

शास्त्रविशारद महोपदेशक

पं० राधिकाप्रसाद वेदान्त शास्त्री प्रणीत।

इसमें तीनों वेदोंकी सन्ध्या दी गई है। हरएक मन्त्रका हिन्दी में अन्वय और विशुद्ध सरल हिन्दी भाषामें अनुवाद किया गया है सन्ध्या क्यों की जाती है? सन्ध्याका स्वरूप क्या है? उपासना की रीतिसे सन्ध्याके द्वारा अपने अपने जीवनको कैसे उन्नत कर सकते हैं, सन्ध्या किस समय की जाती है और कैसे की जाती है, सन्ध्या न करनेसे क्या हानि होती है, सन्ध्या वैज्ञानिक

तात्पर्य्य क्या है, आदि सन्ध्या सम्बन्धीय सब बातें युक्ति और शास्त्रीय प्रमाणोंसे सिद्ध की गई हैं। मूल्य केवल ।=) आने।

"THE WORLD'S ETERNAL RELIGION"

A Unique work on Hinduism in one volume, containing 24 Chapters with tricolour illustrations, glossary etc. No work has hitherto appeared in English that gives in a suggestive manner the real exposition of the Hindu religion in all its phases. The book has perfectly supplied this long-felt want. Names of the chapters are as follows:—1 Foreword, 2 Universal Religion, 3 Classification of Religion, 4 Law of Karma, 5 Worship in all its phases, 6 Practice of Yoga through Mantras, 7 Practice of Yoga through physical exercise, 8 Practice of Yoga through inner force of Nature, 9 Yoga through power of reasoning, 10 The Mystic Circle, 11 Love and Devotion, 12 Plans of knowledge, 13 Time, space, creation, 14 the Occult world, 15 Evolution and Reincarnation, 16 Hindu philosophy, 17 The System of Castes and Stages of Life, 18 Woman's Dharma, 19 Image Worship, 20 The great Sacrifices, 21 Hindu Scriptures, 22 Liberation, 23 Education, 24 Reconciliation of all Religions. The followers of all religions in the world will profit by the light the work is intended to give, price cloth bound, superior edition Rs. 5, Ordinary edition Rs. 3, Postage extra.